अमृत-वर्षा

कॉलेज के विद्यार्थियों के लिये बृन्दावन, ह्वाइट फील्ड,
बंगलौर में आयोजित अध्यात्म और भारतीय
संस्कृति के ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रमों में
भगवान श्री सत्य साई बाबा के
संभाषण

मई १९७२

अनुवादक :
बजरंग सिंह
मानक नगर, लखनऊ-११

प्रकाशक : श्री सत्य साई न्यास की ओर से श्री सत्य साई सेवा समिति,
गुलाब भवन, ६ बहादुरशाह ज़फर मार्ग, नई दिल्ली

मुद्रक : लखेरवाल प्रेस
१८ बीडन पुरा करौल बाग, नई दिल्ली ११०००५

विषय-सूची

———

भगवान श्री सत्य साई बाबा
का
संदेश

जीवन-दर्शन ज्ञान के मन्थन से प्राप्त नवनीत है। मानव की अन्त: प्रेरणायें और आदर्श देश और काल के अनुसार बदलते रहते हैं किन्तु फिर भी इस मन्थन प्रक्रिया में ज्ञान के किन पक्षों को सम्मिलित किया जाये इसका निर्णय इन्हीं के द्वारा होता है, इसलिये ऐसे मन्थन के फलस्वरूप प्राप्त जीवन दर्शन बहुधा अपूर्ण, अपर्याप्त अथवा विरोधाभास लिये होता है। सामान्यरूप में धार्मिक विश्वास और क्रिया— विधियां, लोकाचार, रीति-रिवाज और परम्परायें, शिक्षा पद्धतियां, कला के विभिन्न रूप आदि अन्तर्निहित दर्शन के निर्माण में सहायक होते हैं।

जब मनुष्य यह विश्वास कर लेता है कि जो संसार जागृत अवस्था में दिखायी देता है वह ही सत्य है और सुख की प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य है, वह सुख की प्राप्ति के साधनों, उपायों और पदार्थों को एकत्रित करता रहता है। वह अपनी ही रुचि और रुझान, अपने स्वयं के ही तर्कों के निर्देशों पर ऐसे विधि-विधान, कानून-कायदों, आदर्शों, संस्थाओं और सिद्धान्तों का निर्माण करता रहता है जिनसे उसे उस सुख की प्राप्ति हो सके। इस प्रकार के प्रयत्नों के फलस्वरूप जिस दर्शन पर पहुंचते हैं उसे 'पाश्चात्य दर्शन' की संज्ञा दी जा सकती है।

किन्तु जीवन का लक्ष्य क्या मात्रा इतना सा ही है कि इस दृश्यमान जगत में सुख-दुख, हर्ष-शोक की उठने-गिरने वाली लहरों के मध्य संघर्ष करते रहना, कामनाओं के प्रवाहों में बहते रहना, भोजन, सुरक्षा, विश्राम और सुख-सुविधा के साधनों को जुटाते रहना और अन्त में मृत्यु के मुख में फँस कर तड़पना। तनिक विचार करो कि आजकल क्या हो रहा है। प्रगति के नाम पर; कला को अनैतिक और विषयवासनाओं से पूर्ण मनोरंजन के लिये घसीटा जा रहा है; शिक्षा सम्बन्धी

प्रगति हमें विद्या, विनय, सरलता और सम्मान में नहीं दिखायी देती बल्कि वह तो दृष्टिगोचर होती है अवज्ञा, असम्मान और अनुशासन हीनता के रूप में। शिक्षा के द्वारा चरित्र के निर्माण और सद्‌गुणों के विकास पर चिरकाल से बल दिया जाता रहा है किन्तु अब इन लक्ष्यों को त्याग दिया गया है और उनके स्थान पर सांसारिक सफलता, अपनी स्वयं की उन्नति तथा अपनी इच्छाओं की अधिक से अधिक पूर्ति के द्वारा जीवन स्तर को ऊंचा उठाना आदि भौतिकतावादी लक्ष्य सामने रहते हैं। विधि-विधान और कानून कायदे दिन-प्रति-दिन तेजी के साथ बदलते और बढ़ते जा रहे हैं किन्तु फिर भी कहीं कोई ऐसा संकेत नहीं मिलता कि अधर्म और अन्याय कहीं घट रहे हों। तृष्णा और तिरस्कार अनियन्त्रितरूप से बढ़ते चले जा रहे हैं। विज्ञान की प्रगति के अनुपात में हमारे सुख और शान्ति में वृद्धि नही हो रही हैं बल्कि उसके फलस्वरूप बढ़ रहे हैं अशान्ति, आतंक और अनिद्रा, भय, व्याकुलता और चिन्ता। मनुष्य अपनी सहस्त्र-मुखी जिज्ञासा के साथ वाह्य जगत का विश्लेषण और उपयोग तो करता जा रहा है किन्तु अपने अन्तर जगत की, जो कि वास्तव में मूल आधार हैं, उपेक्षा करता चला जा रहा है और उसे भूलता जा रहा है।

मानव जीवन का अर्थ शरीर और उसमें स्थित आत्मा दोनों से है किन्तु आजकल शरीर को ही सर्वोपरि समझ कर केवल उसका ही पोषण किया जाता है और आत्मा को भुला दिया जाता है। इसी का यह फल है कि न व्यक्ति, न समाज और न ही राष्ट्र शान्त और सुरक्षित रहने की आशा कर सकते हैं। सृष्टि तो सुख-दुख, लाभ-हानि, हर्ष-शोक, भले-बुरे, शीत-उष्ण की मिश्रित संरचना है। न तो संसार में से सत्य को कभी निर्मूल किया जा सकना सम्भव है और न ही कभी शोक और दुख को संसार से समूल नष्ट कर सकना ही। फिर भी दुख की पीड़ा और शोक के भार को, मनुष्य की उत्कृष्ट और पवित्र आदर्शों के प्रति भक्ति और उन्हें अपने जीवन में व्यावहारिक रूप में अपनाने के लिये। निष्ठापूर्ण प्रयत्नों के अनुपात में अवश्य कम किया जा सकता है।

जब तक मनुष्य पशुओं के स्तर पर ही जीवन बिताता रहेगा और अपनी समस्त प्रतिभाओं, ज्ञान और कौशल का केवल अपने भोजन, सुरक्षा, विश्राम, विषय वासनाओं की तृप्ति और भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति में ही उपयोग करता रहेगा तो जो अशान्ति आज उसके हृदय में जड़ जमाये बैठी है यह कभी नहीं निकल सकती इसलिये धर्म के मार्ग को, जिस पर चल कर मनुष्य अपने अन्तर की शुद्धि और सरसता प्राप्त कर सकता है, कभी नहीं छोड़ना चाहिये।

धर्म क्या है ? यह उच्चतर जीवन का मार्ग है जो व्यक्ति को प्रिय आदर्शों, उसके द्वारा प्राप्त उपलब्धियों के स्तरों, समाज में उसकी स्थिति और उसके स्वयं अपने निज के सम्बन्ध में बोध, अपनी स्थिति के ज्ञान और चेतना से निदेशित होता है। इतना सा बोध कि 'मैं मनुष्य हूं, व्यक्ति को धर्म के मार्ग पर अग्रसर नहीं करेगा; इतनी सी चेतना केवल उसे आहार, निद्रा, संकट के भय से बचने और वासनाओं की तृप्ति के मार्ग की ओर ही आगे बढ़ायेगी। "मैं मनुष्य हूं" यह तो केवल अर्द्ध-सत्य है; 'मैं पशु नहीं हूं' उस सत्य का दूसरा अर्द्ध भाग है। अपने आपको सदा इसकी याद दिलाते रहो कि वास्तव में तुम क्या हो और साथ में यह भी कि तुम क्या नहीं हो। जब वह इस सचेतनता के अनुसार चलता रहेगा तो मनुष्य, जिस नाम से वह जाना जाता है उस नाम की सम्पूर्ण सार्थकता और महत्व को प्रकट कर देगा।

जब मनुष्य ने यह निर्णय कर लिया कि वह अपने सत्य की पूरी जांच-पड़ताल के साथ खोज करेगा तो फिर उसे दूसरों को प्रिय लगने वाले दृष्टिकोणों और विश्वासों की आलोचना और निन्दा करने की गलती नहीं करनी चाहिए; उनकी सार्थकता और पुष्टता को अस्वीकार नहीं करना चाहिये। उसे सभी पक्षों को मान देना चाहिये, सभी दृष्टिकोणों पर विचार करना चाहिये क्योंकि मेरा और तेरा यह और वह, आदि की कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं है। सत्य ही ज्ञान है, ज्ञान अनन्त है। तथ्यों और विभिन्न रूप से मिश्रित जटिलताओं का विश्लेषण करके सत्य की खोज करनी चाहिये।

भारतीय संस्कृति सत्य और ज्ञान के क्षेत्र में युग-युगों से प्राप्त अनुभव की उपज है, वह सत्य और ज्ञान जो अनन्त है तथा जो ज्ञानी की प्रज्ञा दृष्टि से ही देखा जा सकता है। जब विद्यार्थियों को भारतीय संस्कृति पर एक बार दृष्टि डालने का अवसर प्राप्त होगा, वे संस्कृति के सजीव रूपों और अभिव्यक्तियों के सम्पर्क में आयेंगे और उसके विविध स्वरूपों के सम्बन्ध में खुलकर वार्तालाप करेंगे तो उनके मनों के सभी सन्देह मिट जायेंगे। यह सत्य है कि जो लोग आलसी हैं और सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिये परिश्रम करने को तैयार नहीं; जिन्होंने वेदान्त की परिपुष्ट सार्थकता को नहीं समझा जिन्होंने संसार की अपेक्षित सत्यता को नहीं समझा वे ही ऐसा सोचते हैं कि भारतीय संस्कृति समय काटने का एक अच्छा छल-प्रपंच है। हमारा ऐसे लोगों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके ऐसे विचारों का कारण है कि उनको इस तथ्य का ज्ञान नहीं कि वेदान्त तो उनका स्वयं का ही इतिहास है।

पशुओं को यह चेतना नहीं होती कि वे सजीव हैं; वे जीवन के तथ्य के ज्ञान के बिना ही जीते हैं। यदि मनुष्य भी इसी अज्ञान में अपना जीवन बिताता है तो फिर क्या वह एक पशु से बढ़कर हुआ?

आपके पूर्वज अपनी मां के स्तन-पान के साथ-साथ धर्म के उत्कृष्ट आदर्शों और महान सिद्धान्तों का भी पान करते हुये अपना भौतिक और आध्यात्मिक पोषण करते थे जिसके फलस्वरूप वे प्रशंसनीय ढंग से दृढ़ता के साथ सभी परिस्थितियों में सत्य और धर्म के मार्ग पर अडिग बने रहे। उन्होंने सदा एक दूसरे की सहायता करने का प्रयत्न किया, दूसरों के कल्याण और प्रगति के लिये किये जाने वाले प्रयत्नों में सहयोग प्रदान किया तथा दूसरों के दुख-दर्द और संकट में सहानुभूति और सहायता के लिये तत्पर रहें। उन्होंने अपने मनों में घृणा, द्वेष, बदले की भावना या हिंसा के भावों को कभी विकसित नहीं होने दिया। वे यह भली प्रकार जानते थे कि सर्व लोक हितकारी कार्यों में अपने जीवन को लगा देने से बड़ा और कोई कर्त्तव्य नहीं है—'परहित सरिस धर्म नहीं भाई'।

आज जो मनुष्य की महान् प्रगति पर बड़ा अभिमान करते हैं और उसकी तुच्छ उपलब्धियों पर बड़ी उछल-कूद करते और डींग मारते हुए बढ़ा-चढ़ा कर कहानियां सुनाते हैं वे अपने इस प्रकार के व्यवहारों से प्रकट करते हैं कि उन्हें इन महान् सिद्धान्तों और आदर्शों का तनिक भी बोध नहीं है जिनका उनके पूर्वज अपने जीवन में पालन करते थे। आज की पीढ़ी में उनके श्रेष्ठ गुणों का, पारस्परिक सहयोग और सहायता की भावना का शान्ति और सुख का जो उस समय पाये जाते थे, अब अभाव क्यों है किस कारण उनका लोप हो गया है, इस समस्या की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता है।

क्या कोई राजा जो अपने को किसी राज्य का स्वामी कहता है, कभी अपनी प्रजा के सभी लोगों की सारी इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है? सभी प्रजाजनों की तो क्या वह अपनी स्वयं की सारी इच्छाओं की पूर्ति कर पाने में अपने आपको असमर्थ पाता है। यदि वह यह सोचे कि वह तो अपने राज्य का स्वामी है अपनी सभी उचित-अनुचित इच्छाओं की पूर्ति मनमाने ढंग से करने लग जाये तो प्रजा विद्रोह कर देगी और उसे सिंहासन से नीचे उतार देगी। यह कैसे होता है? किसी व्यक्ति का अधिकार कितना भी उच्च क्यों न हो, उसे उन नियमों और मर्यादाओं का पालन करना ही पड़ता है जो उसकी शक्ति के सही रूप में उपयोग को

सुनिश्चित करने के लिये बनाये जाते हैं। चाहे उन कानून-कायदों का बनाने वाला वह राजा स्वयं ही क्यों नहीं हो किन्तु एक बार उन्हें स्वीकार करके घोषित कर दिये जाने के बाद वह उनका पालन करने के लिए उतना ही बाध्य होता है जितना कि अन्य कोई व्यक्ति। यदि वह उन स्वीकृति नियमों का उल्लंघन करेगा तो फिर प्रजा भी उनका पालन नहीं करेगी और उन गतिविधियों और व्यवहारों का नियमन नहीं हो सकेगा जिनके लिये वे नियम निर्धारित किये गये थे और इसका परिणाम यह होगा कि अराजकता फैल जायेगी। कहा भी गया है, "जैसा राजा वैसी प्रजा"। नियम बनाने वालों को नियमों का पालन करना चाहिये। जो मर्यादायें निर्धारित करे उनका उन्हें आदर करना चाहिये। यह एक बहुमूल्य शिक्षा है, ज्ञान का जलता हुआ दीपक है जो रामायण मानव-मात्र के कल्याण के लिये हमारे सामने प्रस्तुत करती है। यह है भारतीथ संस्कृति और इतिहास की महानता।

विद्यार्थियों को भारतीय संस्कृति के इन कीर्ति स्तम्भों के विषय में शिक्षित करने की आवश्यकता है, उन्हें उन आदेशों का ज्ञान करवाने की, उनके महत्व को समझाने की आवश्यकता है जो इन में समाये हुये हैं। जब इस प्रकार उनकी बुद्धि शुद्ध और शक्ति से परिपूर्ण हो जायेगी तो वे समान रूप से पालन किये जाने वाले आदर्शों को संसार के राष्ट्रों के सामने प्रस्तुत कर सकेंगे, साथ ही वे दूसरों के भी रक्षक और मार्ग-दर्शक बन जायेंगे। नवयुवकों को वास्तविकता का ज्ञान करवाने के विचार से, उनके मनों और मस्तिष्कों में नवीनतम् को ग्रहण करने के पागलपन के फलस्वरूप पनपे विनाशकारी विश्वासों और मान्यताओं का निराकरण करने के लिए उनके विवेक और विचार शक्ति से चिपटे हुए लम्बे-चौड़े तर्कों और निराधार संदेहों को निर्मूल करने हेतु तथा उनके हृदयों को शुद्ध, निश्चल और अहंकार शून्य बना कर उनमें उस शान्ति और आनन्द को स्थापित करने हेतु जिसको हमारे पूर्वजों ने प्राप्त किया था, हमने इन क्षेत्रों में अमूल्य अनुभवों के धनी श्रेष्ठजनों को आमंत्रित करने और युवकों को शारीरिक, मानसिक, नैतिक, व्यावहारिक, लौकिक और आध्यात्मिक सत्यों की शिक्षा देने की व्यवस्था की है।

जब ऐसा पावन यज्ञ प्रति वर्ष होगा तो आज के युवक सरलता के साथ न केवल भारतीय संस्कृति के महत्व को ही समझेंगे बल्कि हमारे देश के लोगों द्वारा संचित ज्ञान भंडार से भी परिचित होकर उनके लाभ उठायेंगे। इस प्रकार वे उन भावनाओं और विचारों से छुटकारा पा सकेंगे जिनके कारण उनमें अपने ही लोगों के प्रति भेद-भाव और अलगाव उत्पन्न हो गये हैं। जो सत्य उनके समक्ष प्रकट होंगे उन्हें वे अपने जीवन

में अपनाकर उनकी व्यावहारिकता और उपयोगिता को सार्थक सिद्ध कर सकेंगे और अपने जीवन को सार्थक बना सकेंगे। भारतीय संस्कृति और आध्यात्म का यह ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रम इसी आशा और विश्वास के साथ आयोजित किया गया है।

इस अभियान को विजय श्री प्राप्त हो। सभी प्राणी इससे सुख शान्ति और सुरक्षा प्राप्त करें।

—बाबा

आमुख

यह सबको भली प्रकार विदित है कि विद्यार्थियों के साधनों में बहुत अधिक अन्तराल और कमियां हैं जिन्हें पूरा कर पाना वर्तमान शिक्षा पद्धति के लिये आसान नहीं हो पा रहा है। अनेकों आयोगों और अध्ययन दलों ने विद्यार्थियों की बढ़ती हुई संख्या के दबावों, शिक्षा के माध्यम, परीक्षा पद्धतियों, शिक्षकों और विद्यार्थियों के सम्मान और प्रतिष्ठा तथा विश्व विद्यालय अनुदान आयोग ने अनेकों समितियां नियुक्त की हैं जिन्होंने विभिन्न विषयों के नूतन पाठ्यक्रम तैयार किये हैं शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर अनुसंधान के क्षेत्र और विधियों पर प्रतिवेदन प्रस्तुत किए हैं भारतीय और विश्व की दृष्टि से पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का निदेशन किया है तथा भारतीय संस्कृति के विकास के स्नातक-पूर्व अध्ययन के लिये एक सामान्य पाठ्यक्रम के निर्धारण की सम्भावना पर विचार विमर्श किये हैं।

उच्चतर शिक्षा के उद्देश्यों के ही पुनर्निर्धारण का विषय शिक्षाविदों का ध्यान आकर्षित किये हुये हैं। कोठारी आयोग ने उपयोगता-मूलक शिक्षा पर, विद्यार्थियों के विकासोन्मुख व्यक्तित्व पर नैतिक और आध्यात्मिक प्रभावों के लिये बहुत अधिक बल दिया है। उपयोगिता-मूलक शिक्षा की समस्या को तुरन्त हल किये जाने की आवश्यकता है। कुछ देशों में बाध्यताकारी शिक्षा प्रणाली है जिसका उद्देश्य विद्यार्थियों को सरकार द्वारा पूर्व निर्धारित ढांचों में ढालना मात्र होता हैं। प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति श्रेष्ठ होते हुये भी एकान्तिक थी, समाज के सभी वर्गों के लिये न होकर समाज के वर्ग विशेष के लिए ही थी। उपनिवेशिक पद्धति ने विज्ञान, स्वातन्त्र्य प्रेम और तर्क विचार जैसे मूल्य मानो को पुनः प्रवर्तित किया किन्तु उसने अहं को अछूता छोड़ दिया तथा वह चरित्र और दृष्टि कोण के परिष्करण और उन्नयन में शक्ति हीन सिद्ध हुई।

भारतवर्ष में एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के लिये किसी तर्क-संगति की आवश्यकता नहीं क्योंकि उसकी अनिवार्यता सभी दृष्टियों से युक्ति संगत है। सभी विषयों, भौतिक और सामाजिक विज्ञान तथा मानव-शास्त्रों का इस प्रकार से अध्ययन और विकास किया जाये कि वे आत्मविकास में सहायक सिद्ध हों। इस समय तो वे ऐसी दार्शनिकताओं के आंचल में बंधे हैं जो आध्यात्मिक जीवन के मूल्यों को महत्व नहीं

देते। भारत में शिक्षा को एक ऐसे समाज की कल्पना करनी चाहिये जो प्रेम और सहयोग पर निर्मित हो, जहां आत्मा की अमरता की चेतना और आत्मा के साम्राज्य में सबकी समानता के बोध के माध्यम से सभी जातियां, सम्प्रदाय और मत सभी भेदों को भुलाकर एकरूप में संगठित हों।

भगवान श्री सत्य साई बाबा का दर्शन प्रत्येक मनुष्य के अन्तर में स्थित प्रेम और आनन्द के मर्म पर बल देता है। यह दर्शन सारे ही भेदों को दूर करते हुये मानवीय भ्रातृत्व और ईश्वरीय पितृत्व को रेखांकित करता है तथा व्यक्ति, परिवार समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण विश्व में सत्य, धर्म, शान्ति और प्रेम को उत्तरोत्तर फैलाता और बढ़ाता जाता है। इन स्तम्भों पर मानवता के पुनरनिर्माण के एक साधन के रूप में, भगवान ने भारत के विभिन्न राज्यों के कॉलेज-विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिये भारतीय संस्कृति और आध्यात्म के ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रमों का आयोजन किया है। प्रत्येक पाठ्यक्रम हिन्दू धर्म तथा अन्य धर्मों, वेदान्त तथा अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों, विज्ञान और उसके सांस्कृतिक मूल्यों पर प्रभाव, सभी देशों के सन्तों और दिव्य पुरुषों तथा अन्य इसी प्रकार के, आजकल के शिक्षित व्यक्तियों के लिए अति आवश्यक मूल्यों का पोषण करने वाले विषयों पर विशिष्ट विद्वानों, विचारकों, प्रशासकों और शास्त्रीय ज्ञान-धरोहर के संरक्षकों तथा कला के मर्मज्ञों के भाषण रखे जाते हैं। इन भाषणों के व्यावहारिक पक्ष की पूर्ति के लिये विद्यार्थियों को भजन, ध्यान, योगासन की शिक्षा दी जाती है, उनसे स्वयं सेवा करवायी जाती है तथा जहां पाठ्यक्रम रखे जाते हैं उसके आस पास के ग्रामीण क्षेत्रों में सामाजिक सेवा के कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। शिविर में प्रति दिन सायंकाल भगवान स्वयं संभाषण करते हैं और दिन में हुये भाषणों में कही गयी प्रमुख बातों और विषयों को विस्तार के साथ स्पष्ट करते हैं, उनकी शैली ऐसी अद्वितीय, सुन्दर और सरल है कि गूढ़, रहस्यपूर्ण और जटिल विषयों को भी उपमाओं और उदाहरणों, दृष्टांतों और लघु कथाओं के साथ ऐसे ढंग से प्रस्तुत करते हैं कि सब को सभी बातें सरलता के साथ समझ में आ जाती हैं। उनका संदेश प्रेम का संदेश होता है। उनके वे संभाषण सबके हितसाधन के लिये यहां प्रस्तुत है जिससे कि वे सब लोग भी जो युवकों की प्रगति और विचार में रुचि रखते हैं भगवान के विद्यार्थियों को दिये गये संदेश का अध्ययन कर उसे आत्मसात कर सकें। यह प्रस्तुत पुस्तक मानवता के अभ्युत्थान के लिये अवतार की शिक्षाओं का लोगों को परिचय प्रदान कराने में भी सहायक होगी।

———

१

विद्यार्थियों को उपदेश

जब ऊंचे आकाश में बादल घिरते हैं तो अक्सर उनके साथ बिजली भी प्रकट होती है। इसी प्रकार जहां कहीं भी शिक्षा हो वहां उसके साथ बुद्धि-विवेक अवश्य होना चाहिये। इस प्रकार के संग-साथ को हम अनिवार्य सत्य के रूप में मानते हैं। शिक्षा की समस्याओं का बड़ा व्यापक-रूप है जिसमें अनेकों बातें जैसे जीवन की पूर्णता और इस संसार में जो कुछ अर्थ पूर्ण है वह सभी समाये हुये हैं। हम इन सारी बातों को स्पष्ट रूप में नहीं देख पाते हैं और वे हमें बहुत अधिक सीमा तक धुंधली ही दिखायी देती हैं इसलिये शिक्षा में जो भी कुछ अच्छा है वह हम से छिपा रहता है। प्रत्येक विचारमान व्यक्ति के सामने, जो शिक्षा से सम्बन्धित है, आज अनेकों-अनेकों समस्यायें हैं, वे समस्यायें जिन्होंने विद्यार्थियों और अध्यापकों के मन और मस्तिष्क को उद्वेलित कर रखा है। यह देखना प्रत्येक का कर्त्तव्य है कि इन समस्याओं का समाधान हो जाये और सही समाधान नवयुवकों के हृदयों में बैठ जाये और इसके फलस्वरूप उनके मनों में दैविक चेतना समा जाये। आज समाज अनेकों रोगों से पीड़ित है क्योंकि उसने त्याग, बलिदान, साहस, सहनशीलता, धैर्य विवेक, वैराग्य, सत्य और प्रेम जैसे सदगुणों को पीछे धकेल दिया है। अच्छी शिक्षा का यह पावन कर्त्तव्य है कि वह न केवल ऐसे रोगों का निवारण करे और समाज को स्वस्थ और सुन्दर रूप प्रदान करे बल्कि लोगों के मन और मस्तिष्कों, दिल और दिमागों को सभी दोषों से रहित कर दे। आजकल हमारी शिक्षा प्रणालियों में मोटी-मोटी भारी भरकम पुस्तकें रखने और उन पुस्तकों में दी गई सारी सूचनाओं को विद्यार्थियों को दिये जाने पर बड़ा बल दिया जाता है। हम विद्यार्थियों के विचारों और विचार-धाराओं को सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। विद्यार्थीगण इन मोटे-मोटे पोथों को पढ़कर अपने दिमागों को उन सब बातों से पूरी तरह भर लेते हैं जो इनमें

दी हुई होती हैं और अपने विवेक का उपयोग नहीं करते । जो कुछ मसाला वे अपने दिमागों में भर लेते हैं उसको भी वे सही रूप में उपयोग में नहीं लाते । आज प्रातः यह कहा गया था कि आजकल की हमारे देश की शिक्षा पद्धति हमारे विद्यार्थियों को बहुत अधिक मात्रा में सूचनायें प्रदान करती है और अनेकों बातों की जानकारी कराती है, किन्तु उन्हें ऐसी स्थिति में लाकर खड़ा कर देती है कि वे उस जानकारी और सूचनाओं को बुद्धि, विवेक और ज्ञान में परिवर्तित नहीं कर पाते । किन्तु मैं अनुभव करता हूं कि हमारे विद्यार्थियों में विवेक के उपयोग की कमी रहती है कि वे किन हितकर सूचनाओं और जानकारी को हृदयंगम करें । यदि वे ऐसा कर सकें तो फिर वे उन सब को ज्ञान में परिवर्तित कर सकते हैं । इसमें कोई संदेह नहीं कि आज हम अच्छी शिक्षा के उद्देश्य, आदर्श और लक्ष्यों को अपने सामने रखते हैं किन्तु यही पर्याप्त नहीं है । हम को उन सब को व्यवहार में परिणित करना चाहिये ।

एक क्षण को शिक्षण पद्धति की बात को एक ओर रखते हुये मैं यह कहना चाहूंगा कि शिक्षा के नाम पर आजकल हमारे बच्चों के मन और मस्तिष्कों में नयी आदतें, अनेकों नये विचार और नये आदर्श भरे जा रहे हैं जिसके परिणामस्वरूप माता-पिता अपनी सन्तानों के कारण अपने आस-पास के समाज में सम्मान के साथ सिर ऊंचा नहीं कर सकते । जिन माता-पिताओं के लड़के-लड़कियां विद्यार्थी हैं और जो आजकल की शिक्षा के अंग हैं, वे यह भली प्रकार जानते हैं कि वे इस प्रकार व्यवहार करते हैं कि घरों में नयी-नयी समस्यायें पैदा होती रहती हैं । माता-पिताओं को सदा यह चिन्ता लगी रहती है कि इन समस्याओं को कैसे दूर किया जा सकता है लड़के-लड़कियों को कैसे सम्भाला जा सकता है । ये लड़के-लड़कियां अपने में पर्याप्त आत्म विश्वास विकसित करने में असमर्थ रहते हैं । माता-पिता को यह चिन्ता लगी रहती है कि उनकी सन्तान के भविष्य का क्या होगा । आजकल मनुष्य के विचार एक विचित्र और विकृत स्वरूप ग्रहण करते जा रहे हैं और उसका कारण है उसके पाश्चात्य सभ्यता और पाश्चात्य विचारों के पीछे भागने के फलस्वरूप उसके मन में पैदा हुये विकार । इसी कारण वे अस्थायी लाभों और सफलताओं को जिनमें बाह्य आकर्षण और चमक-दमक होती है, अधिक महत्व देते हैं । लेकिन जीवन इतना अस्थिर, अल्पकालिक और तुच्छ नहीं है कि उसके साथ इस प्रकार खिलवाड़ की जाये । उसे गलत और दूषित उद्देश्यों के पीछे भागते हुये नष्ट नहीं कर देना चाहिये । विद्यार्थियों के जीवन को अधिक महत्व और पवित्रता प्रदान करनी चाहिये । विद्यार्थियों के मन, मस्तिष्क और हृदय सरल, अबोध, कोमल, मधुर और विनम्र होते हैं । यदि इस अवस्था में जबकि उनके हृदय कोमल और विनम्र होते हैं, वे

जीवन मूल्यों को ग्रहण नहीं कर सकते तो फिर बाद में कठोर और परिपक्व हो जाने पर वे उन्हें नहीं ग्रहण कर सकेंगे। इसका अनिवार्य कारण इसमें निहित है कि माता-पिता अपनी सन्तान की किस प्रकार देख भाल करते हैं, उन्हें क्या विचार और आदर्श देते हैं और उनका स्वयं किस प्रकार पालन करते हैं। माता-पिता की यह महत्वाकांक्षा रहती है कि उनके बच्चों का स्वतन्त्र विकास हो और वे अपने जीवन में उच्च पदों पर पहुंचें और ऐश्वर्य तथा सम्मान के साथ रहें, वे उन्हें पूरी स्वतन्त्रता प्रदान कर देते हैं किन्तु न तो वे स्वयं समझते हैं और न ही अपने बच्चों को यह समझाते हैं कि अनियंत्रित स्वतन्त्रता का जब मर्यादाओं में रह कर सदुपयोग नहीं किया जाता है तो कितनी भयंकर रूप से खतरनाक हो जाती है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि—

प्रज्ञा (बुद्धि) का अन्त स्वतन्त्रता में है।
संस्कृति का अन्त पूर्णता में है।
ज्ञान का अन्त प्रेम में है।
शिक्षा का अन्त चरित्र में है।

हम सब ही इन चारों गुणों अर्थात बुद्धि, संस्कृति, ज्ञान और शिक्षा को ग्रहण करना चाहते हैं और उनके अन्त को अर्थात् पूर्णता को जो स्वतन्त्रता, पूर्णता, प्रेम और चरित्र में है प्राप्त करना चाहते हैं। विद्यार्थियों को यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि इन गुणों को सही रूप से नहीं ग्रहण करते हैं और उचित रूप में उनका उपयोग नहीं करते हैं तो वे अपने आपको विद्यार्थी नहीं कह सकते। विद्यार्थी और इस देश के भावी नागरिक होने के नाते आप लोगों पर देश के भविष्य को स्वरूप प्रदान करने का उत्तरदायित्व है। अनुभवी श्रेष्ठ पुरुषों की बातों को ध्यानपूर्वक सुनते हुये अपने हृदयों को सतपथ पर अग्रसर करें। तभी आप उसी स्थिति में पहुंच सकते हैं जहां से दूसरों के अज्ञान को दूर कर सकते हैं और सारे संसार के समक्ष इस देश के प्राचीन गौरव और संस्कृति का उद्घोष कर सकते हैं। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रम के पश्चात आप लोग अपने देश की संस्कृति की पवित्रता और उसमें निहित महान मूल्यों की गर्व के साथ घोषणा कर सकेंगे। आप यह सोचते होंगे कि इस विशाल देश के विभिन्न भागों से केवल तीन सौ विद्यार्थी यहां इस पाठ्यक्रम में सम्मिलित हुये हैं और आप यह भी आश्चर्य के साथ विचारते हो कि इतने थोड़े से विद्यार्थी भला देश में लोगों के जीवन ने जो भयंकर रूप धारण कर रखा है और जिस गति के साथ उल्टी दिशा में प्रवाहित है उसको कैसे बदल सकेंगे !

मेरे प्रिय विद्यार्थियो ! चाहे सैकड़ों और हजारों सिपाहियों और जवानों को प्रशिक्षित किया जाना हो किन्तु उनको प्रशिक्षण देने के लिये थोड़े से प्रशिक्षक रखे जाते हैं। वे कमान्डर और लीडर होते हैं। इसी दृष्टांत के अनुसार इस देश में चाहे हजारों-लाखों विद्यार्थी हों आपको लीडर के रूप में वह प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिये जिसके आधार पर आप देश में दूसरे हजारों-लाखों विद्यार्थियों को प्रशिक्षित कर सकें। इसी विचार और भावना के साथ आपको इस ग्रीष्म कालीन पाठ्यक्रम का अध्ययन करना चाहिये। इस ग्रीष्म कालीन पाठ्यक्रम में आप पहली बार सम्मिलित हो रहे हैं और मैं आशा करता हूं और आप लोगों को आशीर्वाद देता हूं कि आप नेतृत्व के गुणों को ग्रहण करेंगे। आप लोगों को इन कक्षाओं में भाग लेकर अपने सामर्थ्य, शक्ति और चरित्र को बढ़ाना होगा। इसके द्वारा आप अपने देश को नेतृत्व प्रदान कर सकेंगे। आप में से अधिकांश इस संसार में कुछ श्रेष्ठ और कठिन कार्य करना चाहते हैं। जो लोग ऐसे कार्यों में भाग लेना चाहते हैं उन्हें नेतृत्व और उत्तरदायित्व सम्भालने पड़ते हैं। जो विद्यार्थी आज यह सोचते और अनुभव करते हैं कि इस प्रकार के उत्तरदायित्वों को सम्भालना और पूरा करना अच्छी बात है वे भविष्य में अच्छी प्रकार से कार्य कर सकेंगे।

यदि हम अपने कर्त्तव्यों को नहीं पहचान सकते हैं तो हम अपने तरीकों को कैसे सुधारेंगे। इसे एक उदाहरण से समझो। एक नेता को शराब पीने की बुरी आदत है। वह कैसे शराब न पीने के लाभ और शराब पीने के नुकसान समझा सकता है और लोगों को शराब न पीने के, नशाबन्दी करने के उपदेश दे सकता है? इसी प्रकार जो विद्यार्थी और अध्यापक स्वयं बुराइयों में फँसे होंगे वे समाज को कैसे बुराइयों से बाहर निकाल सकते हैं और समाज को सुधार सकते हैं। यदि हम दूसरों को समझाने और सुधारने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहते हैं तो सबसे पहले हमें अपने दोषों को दूर करना होगा, अपनी बुराइयां मिटानी होंगी, अपने जीवन में परिवर्तन लाने होंगे जिससे कि हम दोष और बुराइयों से रहित हो सकें। इसलिए सबसे पहला कार्य है अपने अन्तर की सफाई करो और फिर उसके बाद अपने बाहर के आस पास के क्षेत्र जैसे अपने गांव में जाओ। गांव के लोगों का शुद्धिकरण करके आप जिले के स्तर पर पहुंचे। जिले के क्षेत्र को शुद्ध करने के बाद प्रान्त को पवित्र बनाये और सके उबाद देश के नेता बन सकते हैं। यदि आप इस क्रमबद्ध रूप में कार्यों को पूरा किये बिना ही नेता बन जाओगे तो आपको निराशा होगी और आप नेता नहीं बन सकेंगे। जब हम नागरिकों के उत्तरदायित्व और कर्त्तव्यों

को समझेंगे और स्वीकार करेंगे तभी हम शिक्षा के तरीकों को बदल सकेंगे और उनमें एक अच्छे नागरिक के लिये अनिवार्य शान्ति और प्रेम के गुणों को भर सकेंगे। विद्यार्थियों और समाज के अन्य लोगों के लिये शिक्षा एक सामाजिक आदर्श होना चाहिये। शिक्षा एक ऐसा पुल बनादे कि आप उस पर चलकर बिना किसी बाधा और कठिनाई के अपने लक्ष्य तक पहुंच सकें। यदि शिक्षा का यह सेतु पर्याप्त शक्ति-शाली नहीं हुआ तो वह व्यक्ति के लिये हानि प्रद हो सकता है। विद्यार्थियों को पुनर्गठन का मार्ग अपनाना चाहिये और शिक्षा को आवश्यक बल प्रदान करना चाहिए। हम पक्षपातपूर्ण वृत्ति को बढ़ावा देकर तथा मोह और लगाव बनाये रख कर अपने कार्य से आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते हैं। आनन्द की प्राप्ति तो हमें सही दृष्टिकोण को विकसित करके ही हो सकती है। आजकल की शिक्षा तो शिक्षा ग्रहण करने वालों को अस्थायी सुख, अस्थायी सौन्दर्य और अस्थायी प्रसन्नता प्रदान करने के लक्ष्य तक सीमित है। आजकल के विद्यार्थी के आचरण पर किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण नहीं है। शिक्षा के शिद्धान्त विद्यार्थियों और उनसे माता-पिता तथा अभि-भावकों को आपस में सुसम्बन्धित नहीं रखते वे भविष्य में हम सबके लिये दुखदायी होंगे। भारतीय संस्कृति अनेकों अनिवार्य पक्षों में से एक यह है कि माता और पिता को ईश्वर के समान मानो (मातृ देवो भव। पितृ देवो भव।) यदि हम अपने माता और पिता का प्रेम पाने के अधिकारी नहीं रहते हैं तो फिर ऐसा प्रेम हमें किस दूसरे से प्राप्त हो सकेगा इसलिए हमें अपनी ऐसी प्रवृत्ति का विकास करना चाहिये कि जिनके द्वारा हम अपने माता पिता का वात्सल्य प्रेम प्राप्त करते रहें। यदि आप अपने माता पिता का सम्मान और सेवा करते रहेंगे तो भविष्य में आपके बच्चे भी, जब आप माता-पिता बन जायेंगे आपको सम्मान और सेवा प्रदान करेंगे। आप के प्रत्येक कार्य और प्रत्येक विचार की प्रतिच्छाया और प्रतिध्वनि होती है। यदि आप अपने जीवन में सुख, शान्ति और प्रसन्नता चाहते हैं तो इसके लिये अभी से आपको कुछ सिद्धान्तों और निर्देशों का दृढ़ता के साथ पालन करना चाहिये जिससे कि आपको अपने जीवन के भावी चरणों में शान्ति और सन्तोष उप-लब्ध हो सकें। भारतीय संस्कृति का निर्माण कुछ परम्पराओं, रीतिरिवाज और संस्कारों से हुआ है और ये वंश परम्परागत रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी चलते चले आ रहे हैं किन्तु आज का विद्यार्थी इन सांस्कृतिक कार्यों, रीति-रिवाजों और परम्पराओं को जो संस्कृति के अनिवार्य अंग हैं, मूर्खता पूर्ण कृत्य समझता है। विद्यार्थी गण इस प्रकार का विरोधात्मक और नकारात्मक रुख अपना कर अपने आपको बहुत चतुर और बुद्धिमान समझते हैं तथा अन्यों को मूर्ख, जो एक घातक प्रवृत्ति है।

आज अनेकों प्रसिद्धि प्राप्त बड़े-बड़े वैज्ञानिक नयी-नयी खोजें और आविष्कार करके उपकरण तैयार कर रहे हैं तथा चन्द्रमा पर उड़ानें कर रहे हैं। इस पर अथाह धन राशि खर्च होती है किन्तु उन्हें फिर भी मानसिक शान्ति नहीं है। समाज की चोटी पर बैठे नेतागण यह सोचते हैं कि उनके पास सब कुछ है, किसी बात की कमी नहीं। किन्तु खेद यह है कि उनके पास मानसिक शान्ति नहीं है। ऐसा क्यों है ? हमें इसकी खोज करनी होगी और उत्तर पाना होगा। मनुष्य तारों को गिन सकता है, चन्द्रमा तक उड़ सकता है किन्तु यदि वह अपने ही अन्तर को नहीं देख सकता तो फिर वह सुख कैसे प्राप्त कर सकता है ? हमारी संस्कृति और परम्परायें ऐसी हैं जिनके आधार पर आप अपने अन्तर की ओर देख सकते हैं, यह जान सकते हैं कि आप कौन हैं। इसके लिए सर्वप्रथम आवश्यक है आत्म-विश्वास, उसके पश्चात् ही आप प्राप्त कर सकते हैं आत्म-सन्तोष। एक बार आपने आत्म-सन्तोष प्राप्त कर लिया तो फिर आपको आत्म-बलिदान करना आना चाहिये और इसकी उपलब्धि पर ही आत्म-साक्षात्कार तक पहुंचते हैं। इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार के लिए कि आत्म-विश्वाश सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और सर्वप्रथम आवश्यक है। इन चारों में ही अर्थात आत्म-विश्वास, आत्म-सन्तोष, आत्म-बलिदान और आत्म-साक्षात्कार में आत्म शब्द सर्वनिष्ठ है। इस 'आत्म' को समझने के लिये आपको अनुभवी पुरुषों से यह जानना होगा कि वे इसके सम्बन्ध में क्या जानते हैं ? आज से पूरे एक महीने के लिये आप लोगों को 'आत्म' या आत्मा को समझाने के लिये हमने ऐसे अनेकों लोगों को जिन्होंने इस 'आत्म' को समझा है और उसका अनुभव प्राप्त किया है, आमन्त्रित किया है और वे आपको यह समझायेंगे कि इसका क्या अर्थ है, यह क्या है ?

यह सम्भव हो सकता है कि इस एक माह के दौरान आप लोगों को कुछ असुविधायें और कठिनाइयां उठानी पड़ें। आपको भोजन तथा अन्य सुविधायें रुचिकर न हों। आप लोगों को इन सब बातों को सहन करना चाहिये और प्रसन्नता के साथ सहन करना चाहिये क्योंकि इस प्रकार का शिक्षण आप लोगों के लिये जीवन में अनिवार्य है। आत्म-साक्षात्कार के लिये वास्तव में यह अनुशासम पहला कदम है। आप लोगों के प्रशिक्षण में मैंने इसे पहला कदम क्यों कहा है ? इसका कारण यह है आजकल ऐसे लोग बहुत हैं जो कठिनाइयों और असुविधाओं को तो थोड़ा सा भी सहन नहीं कर सकते हैं किन्तु फिर भी प्राप्त करना चाहते हैं बड़ी महत्वपूर्ण और सूक्ष्म वस्तुयें। आप लोगों को कोई असुविधा या कठिनाई असह्य नहीं होगी यदि इस अध्ययन और अनुशासन के प्रति आप लोग अपने आप को पूर्ण समर्पित कर देंगे बल्कि उससे आप

को सुख और आनन्द की प्राप्ति होगी। यदि आप छोटी-छोटी कठिनाइयों को नहीं सहन कर पायेंगे तो फिर आप अपने आप को उस व्यक्ति के रूप में कैसे बना सकेंगे जिसको समाज की बुराइयों को मिटाने और दोषों को दूर करने के लिये संघर्ष करने होंगे ? किसी न किसी दिन तो आपके मार्ग में बाधायें और कठिनाइयां आयेंगी अवश्य, इसी प्रकार दुख और शोक भी अनेकों असुविधाओं के साथ जीवन में अवश्य आयेंगे क्योंकि कभी कोई संकट अकेला नहीं आता। इसलिये यह बहुत अच्छा होगा यदि आप जब नवयुवक ही हैं दृढ़ रहना सीख जायें और उन दुख तथा कठिनाइयों को समझ लें। फिर अपने बाद के जीवन में जब ये कठिनाइयां आयेंगी तो आप उनसे भयभीत नहीं होंगे तथा उन सब को आसानी के साथ सहन कर सकेंगे। इस ग्रीष्म कालीन पाठ्यक्रम के दौरान आप लोगों के सामने जो भी कठिनाइयां और असुविधायें आयें उन्हें सरलता और हर्ष के साथ, इन्हें शिक्षण का ही एक भाग समझते हुये, सहन करना चाहिये। कुछ लोग अपने शारीरिक स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिये व्यायाम करते हैं। ऐसा व्यायाम करते समय आपको परिश्रम करना पड़ता है, थकान होती है किन्तु फिर भी आप प्रसन्नता के साथ उसे करते हैं क्योंकि उससे आपको आवश्यक शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है, आपके शरीर की मांस पेशियां सबल होती हैं। इसमें कोई भी संदेह नहीं है कि जो भी कठिनाइयां और परेशानियां आपके मार्ग में आती हैं और आपको कष्ट उठाने पड़ते हैं उनसे आपको भविष्य में सुख अवश्य प्राप्त होता है, वे कष्ट और कठिनाइयां, व्यायाम के समान शक्ति और सामर्थ्य प्रदायक होते हैं। प्रिय विद्यार्थियो ! यह तो आपका घर ही है और आप एक माह तक अपने ही घर में रहेंगे। इस अवधि में आप आवश्यक बुद्धि-विवेक और ज्ञान प्राप्त कर और फिर उस ज्ञान को अपने मित्रों में और समाज में, जिसके बीच आप रहते हैं, वितरित करें और इस प्रकार अपनी संस्कृति की महानता और गौरव-गरिमा को उजागर करें।

एक और विषय है। हमारे यहां के नियमों के अनुसार हम शान्ति और स्वच्छता को बहुत महत्व देते हैं। यदि आपको बातें करनी हों तो बहुत ही धीरे संयम और सावधानी के साथ करें। कैम्पस क्षेत्र के बाहर न जायें और इधर-उधर न घूमते फिरें। ये सब साधन हैं जिनका उपयोग करते हुये आप लोगों को अपने भावी जीवन को एक रूप देना है। गर्मियों के दिनों को छुट्टी के दिन मानते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है। जो विद्यार्थी यहां हैं उन्हें इस एक महीने को अवकाश के दिन (holi days) न मानकर, पवित्र दिन (holy days) मानना चाहिये इसलिये

ये पवित्र दिन अवकाश के दिनों के समान खाने पीने और मौज उड़ाने के दिन नहीं समझे जाने चाहिये बल्कि इन दिनों में अपने मन और हृदयों को पवित्र भावनाओं और सद् विचार से भर लेना चाहिये। अध्यापक गण आप लोगों को जो बातें बतायें जो शिक्षा प्रदान करें उसे आत्म-सात करने का प्रयत्न करना चाहिये, उन बातों को याद कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। इस उपदेश और आशीर्वाद के साथ मैं आज प्रातः का अपना भाषण समाप्त करता हूं।

———

२

वैदिक सत्य सम्पूर्ण संसार की सम्पत्ति है

यद्यपि कि मनुष्य मानव जाति में पैदा हुआ है, मानव के ही रूप में पैदा हुआ है, मानव वातावरण से घिरा है, मानव समाज में रहता है, किन्तु खेद है, वह मानवता के सारभूत व अनिवार्य गुणों और विशेषताओं को भूल गया है। सारे ही पशुओं में और सारे ही जीव-धारियों में मनुष्य का जन्म अपनी बहुत ही बड़ी विशेषता रखता है। मनुष्य शरीर के समान अन्य कोई और शरीर नहीं है और बड़ी कठिनाई और भाग्य से यह मनुष्य शरीर प्राप्त होता है। भगवान की असीम कृपा से ही नरतन की उपलब्धि होती है और यदि इस दुर्लभ शरीर को पाकर, जिसे पाने के लिए देवतागण भी तरसते हैं, आप इसका पूर्ण उपयोग नहीं करेंगे तो आप बहुत बड़ा पाप करेंगे और इसके लिए आपको पछताना पड़ेगा। आपको यह याद रखना चाहिए कि मनुष्य शरीर अनेकों पूर्वजन्मों के पुण्यों के प्रताप से आपको प्राप्त हुआ है, इस दुर्लभ अवसर को यों ही नहीं खोना चाहिए।*

---

* रामावतार में भी भगवान ने यही कहा था जिसे तुलसीदास जी ने श्री राम चरित मानस में निम्न शब्दों में लिखा है :—

बड़े भाग मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सद ग्रन्थ न गावा॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक संवारा॥
सो परतर दुख पावई, सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाइ॥

+ + +

नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥
नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ज्ञान विराग भगति सुभ देनी॥
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होंहि विषयरत मंद मंद तर॥
कांच किरिच बदलेंते लेहीं। करते डारि पारस मनि देहीं॥

यह शरीर एक नाव के समान है। हमारा जीवन एक नदी के समान है और हमें उस नदी को पार करके अपने गन्तव्य स्थान पर पहुंचना है। हमारा वह गन्तव्य स्थान या धाम वही है जो देव-धाम है। हमारा यह वर्तमान जीवन समकालिक संसार में अनेकों विषमताओं से पूर्ण है। जीवन की इस वेगवती नदी को पार करने और अपने धाम तक पहुंचने के लिए हमें अपनी नाव को अर्थात् अपने शरीर को सुरक्षित रखना है और इसकी भली प्रकार से देख-भाल करनी है जिससे कि इसमें कहीं कोई छेद न हो जाये, इसके बीच में ही डूबने की सम्भावना न रहे। हमें यह विश्वास करना चाहिए कि यहां जितने भी विद्यार्थी एकत्रित हुए हैं वे वास्तव में अच्छे और मजबूत हैं, नयी नावें हैं जिनमें छिद्र होने की अभी कोई सम्भावनायें नहीं हैं। यदि इन नावों को जबकि वे अच्छी दशा में, मजबूत और बिना किसी छिद्र के हैं अभी उपयोग में नहीं लाया जाता है अथवा फिर यह सोचकर कि उन्हें बाद में काम में लाया जायेगा और फिर तब तक ये पुरानी पड़ कर कमजोर हो जाती हैं और इसमें छेद हो जाते हैं, तो फिर जीवन में कठिनाइयों का आना और नुकसान होना निश्चित ही समझो। इस शरीर को 'देह' कहते हैं क्योंकि यह जिन तत्वों से निर्मित हुई है उसके अनुसार इसका नष्ट होना निश्चित है। इसकी इस नश्वरता का बोध इसके इस नाम से होता है। इस नाशवान देह में जो अविनाशी दैविक शक्ति है, जो इस शरीर को धारण करती है वह 'देही' कहलाती है, वही मनुष्य की 'आत्मा' है। देह में अविनाशी आत्मा का निवास होता है, इसलिए सजीव देहधारी को मनुष्य कहते हैं। मनुष्य को मानव भी कहा जाता है और इस मानव शब्द से हम मनुष्य के अन्तर में स्थित देवत्व को देख सकते हैं। मानव का प्रथम अक्षर 'म' अज्ञान के लिए है, द्वितीय अक्षर 'न' इस इच्छा के लिए इंगित करता है कि अज्ञान का निराकरण होना चाहिए और अंतिम अक्षर 'व' निर्देश करता हैं कि व्यक्ति को इस प्रकार आचरण करना चाहिए कि वह अज्ञान को मिटा सके। अज्ञान मृत्यु का पर्यायवाची हैं। इसलिए हम मनुष्य को अज्ञानी नहीं कह सकते किन्तु फिर भी ऐसा करते हैं क्योंकि हम भूल जाते हैं कि मनुष्य केवल नश्वर शरीर का नाम नहीं है बल्कि उसमें अमर आत्मा भी है, हम केवल शरीर को ही सब कुछ समझने की भूल कर बैठते हैं। इसी कारण आज मानवता बदनाम हो रही है मनुष्य को शर्म और तिरस्कार सहना पड़ रहा है, वह दुखी है। वेदान्त इस अज्ञान को दूर कर सकता है क्योंकि वह मनुष्य के सच्चे रूप को उसकी प्रकृति और स्वभाव को प्रकट करता है और सत्य का बोध कराता है।

आज प्रातःकाल प्रथम भाषण में ही आपके सामने भारतीय संस्कृति और भारतीय परम्पराओं के सम्बन्ध में कुछ विचार रखे गये थे। आपको अध्यात्म का अर्थ समझाया गया था। आपने संसार के सभी धर्मों के सार तत्वों के सम्बन्ध में कुछ समझा। समस्त धर्मों के सार तत्वों के दो पक्ष आपके सामने रखे गये। एक दार्शनिक पक्ष और दूसरा आध्यात्मिक। इन दोनों पक्षों के सम्बन्ध में आप से जो कुछ कहा गया, मेरा अनुमान है कि आप लोगों को दार्शनिक पक्ष तो समझ में आया होगा क्योंकि यह मस्तिष्क का प्रतिनिधित्व करता है किन्तु दूसरा आध्यात्मिक पक्ष जो हृदय का प्रतिनिधित्व करता है सरलता से समझ में नहीं आता क्योंकि दोनों पक्ष एक दूसरे से कुछ असम्बद्ध और प्रतिपक्षी से लगते हैं। किन्तु यह सम्भव नहीं है कि वे आपस में अलग हो जायें या दोनों में से कोई एक दूसरे की उपेक्षा कर सकें। यदि हृदय नहीं हो तो मस्तिष्क की भी आवश्यकता नहीं होगी। यदि मस्तिष्क है और हृदय नहीं तो फिर मस्तिष्क का क्या उपयोग। इसलिए यदि हमारे जीवन में हृदय और मस्तिष्क दोनों में से कोई एक अंग भी न हो तो जीवन निरर्थक बन जायेगा। दिल और दिमाग दोनों ही जरूरी हैं। यह परम आवश्यक है कि हम सम्पूर्ण दार्शनिक जिज्ञासा का अपने मस्तिष्क से चिन्तन और विचार करें तथा जानकारी प्राप्त करें तथा उसके बाद हम हृदय तक पहुंचने का प्रयत्न करें। यह हमारा आध्यात्मिक मार्ग है। जहां प्रथम केवल जानकारी तक सीमित है तो दूसरा रूपान्तरण से। यदि जानकारी प्राप्त नहीं होगी तो रूपान्तरण कैसे हो सकेगा, परिवर्तन नहीं आ सकेगा।

संसार के कुछ क्षेत्रों के लोग संसार के सभी धर्मों का सार संग्रहित करने के प्रयत्नों में लगे हुए हैं। इसके साथ-साथ वे संसार के विभिन्न देशों की विभिन्न संस्कृतियों में निहित मूलभूत सार भी एकत्रित करने के प्रयत्न कर रहे हैं। फिर वे उन सब का मिलान करते हैं। जब हम संसार के सारे धर्मों के विषय में खोज-बीन करते हैं उनकी तह तक पहुंचते हैं तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार के सभी धर्मों की स्थापना ज्ञानी महापुरुषों द्वारा अपने स्वयं के अपने अनुभवों के आधार पर की थी। वास्तविकता यह है कि उन समस्त धर्मों की स्थापना करने वाले मनुष्य थे, फिर चाहे वे कितने भी महान् संत रहे हों। किन्तु हमारे देश में धर्म किसी व्यक्ति द्वारा संस्थापित नहीं है। एक धर्म या इस देश के समस्त धर्मों का सार किसी एक व्यक्ति विशेष की देन नहीं है, किसी एक के अनुभव का प्रतिफल नहीं है। वह किसी व्यक्ति के प्रयत्नों के फलस्वरूप अस्तित्व में नहीं आया है। संक्षेप में उसका अस्तित्व है ईश्वर से। इसीलिए इसे वैदिक धर्म कहते हैं। जिसने इस देश में

मनुष्य को धर्म प्रदान किया है, जिसने इस देश में मानव धर्म का मार्ग निर्देशन किया है, इस देश में धर्म का वास्तविक स्रोत रहा है वह कोई मनुष्य नहीं है बल्कि वह है परम पुरुष स्वयं ईश्वर। वेदों की उत्पत्ति कब हुयी कोई नहीं जानता, वे अनादि हैं। वेदों को किसी आलम्बन अर्थात सहारे की कोई आवश्यकता नहीं है वे तो स्वयं अपना आलम्बन हैं। वास्तव में वेद तो ईश्वर के श्वास-उच्छवास हैं, ईश्वरीय प्राण हैं और वैदिक धर्म का इस देश में प्रारम्भ ईश्वर के श्वास के साथ ही हुआ है। इसीलिए वैदिक धर्म, ईश्वरीय धर्म है और वह ईश्वरीय धर्म ही भारतवर्ष का धर्म है। जब हम संसार के सब देशों के धर्मों का मिलान करते हैं तो पाते हैं कि भारतवर्ष का धर्म ही जीवन का श्वास है, प्राण-शक्ति है; वह जीवन धारा है जो संसार के समस्त धर्मों में प्रवाहित है। यह निश्चित है कि अन्य देशों के धर्म भी इतने ही पवित्र और पावन हैं किन्तु केवल कुछ सीमित समय के लिए ही क्योंकि उनका आरम्भ और अन्त है। किन्तु इस देश में न धर्म का प्रारम्भ है और न अन्त, वह अनादि और अनन्त है इसीलिए उसे सनातन धर्म कहते हैं।

यद्यपि कि संसार के कुछ धर्म हमें थोड़ा भिन्न मार्ग बताते हैं और उनमें आपस में विवरणों के सम्बन्ध में भी कुछ भिन्नतायें हैं और कभी-कभी बाह्य रूप में वे अपने-अपने गन्तव्य अर्थात् अन्तिम लक्ष्य के विषय में भी भिन्न से दिखायी देते हैं किन्तु फिर भी हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि इन सब धर्मों का सार या निचोड़ एक ही है और उसका सम्बन्ध है दैविक आत्मा से। यद्यपि कि मनुष्य का शरीर अनेकों अंगों और इन्द्रियों से निर्मित है किन्तु हम यह अनुभव करते हैं कि हृदय वह परम आवश्यक अंग है जो सभी अंगों को जीवनदायी सहायता प्रदान करता है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि इस संसार में धर्म तो अनेकों हैं किन्तु भारतीय दृष्टिकोण, आत्मिक-विचार, हृदय के समान है जो संसार के सभी धर्मों में जीवनदायी रक्त का संचार कर रहा है। जब मैं आपको यह समझा रहा हूं तो हो सकता है आपके मन में कुछ संदेह उठें। वे संदेह कुछ इस प्रकार हो सकते हैं यह क्या बात है कि महान् धार्मिक पुरुष और संत तथा दैविक आत्माओं ने भारत में ही जन्म लिया तथा सभी वेद भारत में ही उत्पन्न हुये? क्या कारण है कि वेद तथा उनके व्याख्याता महापुरुषों में से कोई भी संसार के किसी अन्य देश में क्यों नहीं हुये? ईश्वर सर्वव्यापी है और हर स्थान पर मौजूद है। इसलिए वेद जो ईश्वर के ही श्वास-उच्छवास है प्राण है, सर्वव्यापी होने चाहिये। वेदों की वाणी, वेदों की ध्वनि, वेदों का सार, वेदों की सुगन्धि वास्तव में सारे विश्व में पायी जानी चाहिये। इसे एक छोटे से उदाहरण से समझिए। हमने यह कब जाना कि पृथ्वी में आकर्षण

शक्ति है ? इसका पता उस समय लगा जब न्यूटन नामक एक पाश्चात्य वैज्ञानिक ने अपने कार्य, परिश्रम, ज्ञान, और अनुभव से यह पता लगाया कि पृथ्वी में आकर्षण की एक प्राकृतिक शक्ति है जिसे गुरुत्वाकर्षण कहते हैं । उसी दिन से हम यह मानने लगे कि पृथ्वी में यह गुरुत्वाकर्षण शक्ति है । किन्तु क्या पृथ्वी में यह गुरुत्वाकर्षण की शक्ति न्यूटन की खोज से पहले मौजूद नहीं थी ? पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण की यह शक्ति निश्चित रूप से कोई अलग से अस्तित्व में नहीं आयी । वास्तव में जब से पृथ्वी अस्तित्व में आयी तभी से इसमें यह गुरुत्वाकर्षण शक्ति होनी चाहिए । जिस प्रकार न्यूटन ने अपने प्रयत्नों और अनुसंधान से पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का पता लगाया जो पहले से ही पृथ्वी में मौजूद थी इसी प्रकार भारत के महान संतों तथा ऋषि मुनियों ने इस तथ्य को खोज निकाला कि वेद ईश्वर प्रदत्त जीवनदायी प्राण शक्ति है । जिस प्रकार पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की खोज के साथ न्यूटन का नाम जुड़ा है, उसके प्रयत्नों और प्रयासों को इसका श्रेय दिया जाता है इसी प्रकार भारतीय ऋषियों के प्रयत्नों और प्रयासों, उनकी तपस्या और चिन्तनपूर्ण खोज के फलस्वरूप इस सत्य का संसार को पता लग सका कि वेद ईश्वर प्रदत्त है, वेद ईश्वरीय प्राणी हैं मानवता के प्राण हैं । यदि किसी एक देश विशेष के विद्वान प्रकृति सम्बन्धी कोई खोज करते हैं और किसी दूसरे देश के विद्वान बाह्य जगत सम्बन्धी कोई अन्य खोज करते हैं तो वे उसी स्तर पर आ जाते हैं जिस पर कि इस देश के विद्वान जो आध्यात्म सम्बन्धी कोई खोज करते हैं । यह संसार के सभी देशों में बहुत पहले से चली आ रही सम्मानीय परम्परा रही है कि यदि किसी देश के नागरिक कोई लोकोपकारी, कोई नई खोज करते हैं तो उसे संसार के अन्य देशों के सामने भी प्रस्तुत कर देते हैं । इसलिये हमें किसी देश विशेष के दार्शनिक सिद्धान्त या उसके द्वारा अपनाये गये आध्यात्मिक मार्ग के सम्बन्ध में यह नहीं सोचना चाहिये कि वह विरल और विलग है, उस पर किसी एक देश विशेष का ही एकाधिकार है । ऐसे सत्यों पर वास्तव में सम्पूर्ण संसार का समान अधिकार होता है ।

दार्शनिक चिन्तन और आध्यात्मिक मार्गों के सम्बन्ध में जो भेद उत्पन्न किये जाते हैं और उन्हें बढ़ावा दिया जाता है वे मनुष्य के मन की उपजों का फल है । इसके कारण अनेकों बार कठिनाइयां पैदा होती हैं । आध्यात्मिकता और दार्शनिक चिन्तन दोनों विषय अलग-अलग हैं किन्तु आपस में एक दूसरे के साथ निकट से सम्बन्धित हैं और दोनों एक दूसरे के साथ चलते हैं । हमें इसे स्वीकार करना और उसका पालन करना होगा । हमें इन दोनों में भेद नहीं करने चाहिये बल्कि दोनों को एक दूसरे का पूरक समझना चाहिये, एक को मस्तिष्क तो दूसरे को हृदय ।

एक उदाहरण देता हूं । एक वृक्ष पर बहुत से फल लगे हुए हैं। हमारे देखते ही फल हमारे पास नहीं आ जाते, बल्कि उनको देख कर हमारे मन में उनको प्राप्त करने की इच्छा होती है तो हम उस वृक्ष के पास पहुंचते हैं। उनको निकट से देखकर हमारी इच्छा तीव्र होती है, हम झुकते हैं, हमारे हाथ आस-पास से पत्थर इकट्ठे कर लेते हैं, हाथ में पत्थर आते ही हमारे कंधों और हाथों में वह गति और शक्ति आती है कि साध कर हम पत्थर फल पर मारते हैं, हाथ से फल को उठाते हैं, पोंछते हैं और फिर उसे मुंह के सुपुर्द कर देते हैं। मुंह से फल धीरे-धीरे पेट में पहुंचता है। अब प्रश्न यह है कि फल को शरीर की पाचन-क्रिया तक पहुंचाने के लिए कौन उत्तरदायी है ? क्या हम इसका निर्णय कर सकते हैं कि इसके लिए उत्तरदायी हाथ है या कंधा है, पत्थर है, मन, मुंह अथवा फल स्वयं ही ? यह तो सब का सामूहिक प्रयास था, सबके सम्मिलित प्रयत्न से फल पेट में पहुंचा। इस प्रकार जब हम सभी धर्मों के सार का दार्शनिक सिद्धान्तों के निचोड़ का समन्वय करते हैं और यह देखते हैं कि उनमें मूल रूप से एक ही दैविक आत्मा है तो हमारे संदेहों का निवारण हो जाता है और एक दैविक सत्य को समझ कर हमारी शक्ति की भूख मिट जाती है, हमारी तुष्टि और तृप्ति हो जाती है। यदि कोई सारे धर्मों को ले, चाहे वह हिन्दू धर्म हो, इस्लाम हो, बौद्ध हो, पारसी हो या ईसाई धर्म हो और उनका थोड़ा भाग लेकर उस पर अपने अनुभव करे तो इसमें कोई संदेह नहीं है कि उसे किसी सीमा तक सबसे आनन्द प्राप्त होगा। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई अपना धर्म छोड़ दे अथवा किसी एक धर्म को अपनाने के लिए अन्य धर्मों का तिरस्कार करे। आपको यह जानना होगा कि सभी धर्मों में एक सर्वनिष्ठ सत्य है जो ईश्वर की एकता अर्थात् आत्मा की एकता से सम्बन्धित है तथा इसका ज्ञान और अनुभूति हो जाने पर विभिन्न धर्मों की एकता और उपयोगिता का पूर्ण अनुभव हो जायेगा।

पूर्ण ज्ञान को प्राप्त और अनुभव करने की हमारी योग्यता दोषपूर्ण है और कुछ अर्थों में तो वह लुप्त हो गयी है। इसीलिए जब हम किसी धर्म की ओर देखते हैं तो उसका पूर्ण रूप से अवलोकन नहीं करते, उसकी समग्रता को नहीं समझते और अनुभव नहीं करते हैं बल्कि उसका कुछ अंश मात्र ले लेते हैं, कुछ पहलू ही देखते हैं और उनको भी ऊपरी तौर पर ही देखकर अपनी धारणायें बना लेते हैं, राय क़ायम कर लेते हैं और उसके विरुद्ध फतवे देने लगते हैं। आप लोगों ने उन कई अंधो की कहानी सुनी होगी जो एक हाथी के चारों ओर खड़े कर दिए गये थे और उनसे कहा गया था कि वे स्वयं अनुभव कर लें कि हाथी कैसा होता है। जो

अंधा हाथी के जिस अंग के पास खड़ा था उसी पर अपना हाथ फिरा कर अपना अनुमान बनाने लगा कि हाथी कैसा होता है। जब उनसे हाथी का वर्णन करने के लिए कहा गया तो जो पैर के पास खड़ा था वह कहने लगा कि वह खंभे जैसा होता है, जिसने उसके कानों को छुआ था वह कहने लगा कि बड़े पंखे के समान होता है। जिस अंधे ने हाथी के पेट पर हाथ फिराकर हाथी के सम्बन्ध में अपनी धारणा बनायी थी वह कहने लगा हाथी बड़ी मोटी दीवार के समान होता है। इस प्रकार इन लोगों में से प्रत्येक ने हाथी के अंग विशेष को छूकर ही उसके आधार पर अपने अनुमान लगा लिए कि हाथी कैसा होता है। वे आपस में यह अनुमान नहीं कर सकते कि हाथी उन सब अंगों का सम्मिलित रूप है। इसी प्रकार संसार के लोग जो माया के कारण अंधे हो गये हैं जब विश्व धर्म की ओर देखते हैं तो केवल उसके कुछ अंगों को ही टटोलते हैं और उसके आधार पर ही अपनी धारणायें बना लेते हैं जिस प्रकार की उन अंधों ने हाथी के सम्बन्ध में बनायी थीं और समझने लगते हैं कि उन्होंने जो कुछ देखा है विश्व-धर्म बस उतना-सा है और जो कुछ समझा है वैसा ही है और कुछ नहीं। प्रत्येक उसकी पूरी तस्वीर को न तो देख पाता है और न समझ कर ग्रहण कर पाता है। हमें तो यह अनुभव करना चाहिए कि विश्व-धर्म विभिन्न अंगों का मतों का सम्मिलित रूप है। हमें यह समझना चाहिए कि वह सत्य-रूप में पवित्र प्रेम के समान है। कल मैंने आप लोगों से कहा था कि केवल एक ही धर्म है और वह धर्म है प्रेम।

आज प्रातः भाषण में प्रज्ञान (wisdom) ज्ञान (knowledge) के सम्बन्ध में कुछ बात थी और यह कहा गया था कि दोनों में बहुत भेद है। ज्ञान (knowledge) का सम्बन्ध केवल मस्तिष्क तक ही सीमित है। यह सम्भव है कि जिज्ञासा और लगन के साथ परिश्रम करके, कुछ विशेष प्रकार की मशीनों की सहायता से ज्ञान प्राप्ति के मामले में कोई किसी विशेष स्थिति में पहुंच सकता है। किन्तु यह सब किताबी ज्ञान ही होगा। किन्तु केवल इस प्रकार की ज्ञान प्राप्ति से हमारी सत्य को समझने और ग्रहण करने की क्षमता विकसित नहीं होगी। जिसे हम ज्ञान कहते हैं वह सभी विज्ञानों का सार हैं। प्रज्ञान अध्ययन, अभ्यास और अनुभव से प्राप्त होता है वह हमें हमारे जीवन की श्रेष्ठ मधुरता बताता है, किन्तु ज्ञान जो पुस्तकों से प्राप्त किया जाता है उससे आप केवल शब्दावली, शब्दों का हेर फेर और उनकी विभिन्न रूप में रचना और उपयोग तथा अर्थ समझ सकते हैं किन्तु वह आपको शाब्दिक अर्थ-बोध से परे नहीं लेजा सकता है। इन सब बातों को आप अच्छी तरह से समझ सकें इसके लिए हमें समुद्र का उदाहरण लेना चाहिए।

यदि आप समुद्र का जल लेंगे और मुंह में रखेंगे तो वह आपको बहुत खारा लगेगा। यदि वही जल सूर्य की गर्मी से भाप बनकर बादल बन जाता है और फिर वर्षा के रूप में पृथ्वी पर गिरता है तो वह भी जल ही होता है। किन्तु जल चाहे समुद्र से लिया गया हो अथवा बहती हुई नदी से या किसी तालाब से वह सब होता तो जल ही है। किन्तु हमें यह प्रश्न करना चाहिए कि समुद्र के जल का खारापन कहां चला गया, वह मीठा पानी कैसे बन गया? इसका कारण है संस्कार, शुद्धिकरण की प्रक्रिया। इसकी तुलना अनुभव से प्राप्त और परिष्कृत तथा संस्कारित ज्ञान अर्थात प्रज्ञान से, जिसे अंग्रेजी में wisdom कहते हैं, कर सकते हैं। जब हम पुस्तकों में संचित ज्ञान को जिसे हम समुद्र का जल कह सकते हैं, बुद्धि के साथ अध्ययन और मनन द्वारा, जैसे सूर्य के ताप से समुद्र का जल भाप बनता है और उसके बादल बनते हैं उसी प्रकार प्रेम के बादल बनने और उनके प्रक्रिया गत होकर बरसने से जो परिष्कृत और संस्कारित ज्ञान रूपी मीठा जल मिलेगा वही प्रज्ञान है। प्रत्येक प्रयास और प्रत्येक कार्य में जो हम करते हैं उसमें शोधन बहुत ही आवश्यक है। अज्ञातसमय से हमारी भारतीय परम्पराओं में इस शुद्धिकरण की प्रक्रिया पर बहुत बल दिया जाता रहा है।

किसी भी मानवीय प्रयत्न में हम शुद्धिकरण की इस प्रक्रिया का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। मैं एक छोटा सा उदाहरण और देता हूं। यदि आप इस घड़ी को आग में डाल दें तो आप पायेंगे कि या तो वह धातु में परिवर्तित हो जायेगी या धातु की राख में और उसके बाजार में आपको शायद कुछ नये पैसे ही मिलें। किन्तु जब तक वह एक चलती हुई घड़ी के रूप में है तो इसके आपको दो या चार सौ रुपये तक मिल जायेंगे। घड़ी की सैकड़ों में कीमत क्या उसकी धातु की होती है? या यह कीमत उस धातु को परिष्कृत और रूपान्तरित कर घड़ी के रूप में परिवर्तित कर देने की है जिससे वह आपके लिए उपयोगी हो गयी है। निश्चित ही मूल्य धातु के परिष्कृत और रूपान्तरण का है जिसके अनुसार नट, बोल्ट, चक्र, कमानी तथा अन्य छोटे-बड़े पुर्जे लगे और सही समय बताने लगी और आकर्षक रूप में उपयोगी बनी। इस प्रकार आप घड़ी के पुर्जों की धातुओं का मूल्य नहीं देते हैं। इसलिए मनुष्यों में विभिन्न लोगों को उनकी बाहरी शक्ल-सूरत या रूप-सौंदर्य के आधार पर कोई मूल्य नहीं देना चाहिए। यदि आप सही अर्थों में किन्हीं व्यक्तियों का मूल्य निर्धारण करना चाहते हैं तो आपको यह देखना होगा कि वे कैसे व्यवहार करते हैं, उनका चरित्र कैसा है, जन्म के बाद उनमें क्या परिवर्तन आये हैं, और वे किन मार्गों पर चल रहे हैं। यदि कोई वास्तविक अर्थों में अपने आपको सच्चे मनुष्य के रूप में

बदलना चाहता है तो उसे बहुत ही सावधानी बरतने की आवश्यकता है विशेष रूप से अपने कार्य और व्यवहार के सम्बन्ध में। भारतवासियों को सामूहिक रूप में, एक देश या राष्ट्र के रूप में जो सम्मान प्राप्त होने वाला है वह न तो धन-दौलत और सम्पत्ति के कारण आयेगा और न किसी अधिकार पूर्ण स्थिति के बल पर, बल्कि वह सम्मान प्राप्त होगा उच्च चरित्र और व्यवहार के सहारे से।

रावण का उदाहरण लें। हम पौराणिक कथाओं के आधार पर यह जानते हैं कि रावण के समय में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य और वैभव में उसकी समानता कर सके। रावण का सभी सम्भव शक्ति के साधनों पर पूर्ण अधिकार था। किन्तु इतना सब होने पर भी यह बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि अन्त समय में रावण को महान् कष्ट उठाने पड़े और रणक्षेत्र में अपने प्राण गंवाने पड़े। किन्तु इसके विपरीत हम राम को देखें। राम ने स्वेच्छा से जानबूझ कर राजपाट, धन-वैभव और ऐश्वर्यपूर्ण जीवन को त्यागा तथा बनवासी बन गये। अन्त में राम धर्म संरक्षक, मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाये। इस प्रकार जब हम धन, सम्पत्ति ऐश्वर्य, शक्ति और सत्ता के अधिकारी एवं संचयकर्ता रावण तथा सम्पत्ति, ऐश्वर्य, और सत्ता शक्ति अधिकार को स्वेच्छा से त्यागने और वन में रहने वाले राम के बीच अन्तर को देखते हैं तो हमें धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, सत्ता और अधिकार को कोई महत्त्व नहीं देना चाहिए। हमें महत्त्व देना चाहिए चरित्र पर, सही और शुद्ध आचरण के परिपालन पर। इससे हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि धन तो आता और जाता है किन्तु नैतिकता आती और बढ़ती जाती है। इसी संदर्भ में हम कह सकते हैं 'धर्मो रक्षति रक्षितः' अर्थात् जो धर्म की रक्षा करते हैं धर्म उनकी रक्षा करता है (जो दृढ़ रखे धर्म को, ताहि राखे करतार)। यही भारतीय संस्कृति का सार है। किन्तु यह कैसे जाना जाये कि सही क्या है ? यह कैसे जाना जाये कि धर्म पूर्ण आचरण क्या है ? ये सब बातें भी आपको कुछ ही दिनों में पता लग जायेंगी।

इस सम्बन्ध में भी विस्तार के साथ समझना होगा कि ईश्वर सर्वव्यापी है सर्व-शक्तिमान है और सर्वज्ञ है। इस प्रसंग में हमें यह याद रखना चाहिए कि शरीर के मुख्य संघटक हैं 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध।' शरीर का निर्माण होता है पांच भौतिक तत्वों से जो हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। हमें यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि ये पंचभूत है कहाँ, और इन सबके संयोग से क्या बनता है।

इसके आगे हमें यह जानना है कि, 'शब्द' स्पर्श, रूप, रस और गंध' पंच-भूतों से कैसे सम्बन्धित हैं। हम यह देखते हैं कि पंच भूतों के ये पांचों गुण जिन्हें पंचतन्मात्रायें कहते हैं केवल पृथ्वी में ही मिलती हैं। ये पांचों की पांचों तन्मात्रायें एक साथ पृथ्वी के अतिरिक्त, जल अथवा अग्नि अथवा वायु अथवा आकाश में नहीं होती हैं। चूंकि ये पांचों ही तन्मात्रायें पृथ्वी में एक साथ रहती हैं इसलिए पृथ्वी बहुत भारी होती है तथा एक स्थूल ठोस पिंड के रूप में स्थित है। दूसरा तत्व जल है जिसमें गंध नहीं होती केवल शब्द, स्पर्श, रूप और रस होते हैं। क्योंकि पांच गुणों में से एक गुण जल में नहीं होता इसलिए जल पृथ्वी के समान स्थूल, ठोस और भारी नहीं होता और वह पृथ्वी तत्व से अधिक स्वतन्त्रता के साथ गतिमान होता है। तीसरा तत्व अग्नि है और उसमें पाँच में से दो गुण रस और गंध नहीं होते केवल तीन गुण शब्द, स्पर्श और रूप होते हैं। इसलिए वह पृथ्वी और जल दोनों की तुलना में और भी अधिक हल्की होती है तथा अधिक वेग और स्वतन्त्रता के साथ ऊँची जा सकती है। चौथा तत्व है वायु जिसमें केवल दो ही गुण रह जाते हैं शब्द और स्पर्श तथा अन्य तीनों गुणों का इसमें अभाव होने के कारण वह और भी हल्की होती है तथा इसी प्रकार पूर्ण स्वतन्त्रता से कहीं भी जा सकती है। पांचवाँ तत्व है आकाश जिसमें केवल एक ही गुण होता है शब्द तथा अन्य चार गुण उसमें नहीं होते और इसी कारण वह सर्वत्र व्याप्त है। ईश्वर इन पंच भूतों तथा उनकी पंच तन्मात्राओं से परे है। ईश्वर में कोई गुण नहीं होता इसीलिए वह सभी तत्वों से सूक्ष्मतम् है तथा सर्वव्यापक है। अब इस कथन की सत्यता को आप चाहे आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखें या वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस सत्य में कोई अन्तर नहीं आयेगा और उसे सब को स्वीकार करना पड़ेगा। इसीलिए ईश्वर के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह सूक्ष्मतम् से भी सूक्ष्म और महानतम् से भी महान् है—'अणोर-णीयाम् महतो महीयान्'। एक बार गोपियां, जिन्हें दैवत्व का काफी अनुभव था भगवान की लीलाओं और गुणों का यशोगान इस प्रकार कर रही थीं "हम आपको कहां कहां ढूढ़ें, आप तो सभी ८४ लाख योनियों में रहते हैं, हम किसी सूक्ष्मतम् की सोचते हैं, किन्तु आप उससे भी सूक्ष्मतर हैं और किसी महानतम् की सोचें तो आप उससे भी महान्तर हैं। आप अनन्त हैं और आपने हमें जो मन दिया है वह तो आपको बिल्कुल नहीं जान सकता, आपकी एक झलक तक नहीं पा सकता जबकि आप सर्वदा सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार आपनें हमें केवल अज्ञान में रखा है, हमें कठिनाईयों में डाल दिया है इसलिए हम आपको 'चोर' और 'छलिया' कहेंगी।" गोपियों ने भगवान श्रीकृष्ण को 'चितचोर' भी कहा है यह एक बड़ा ही रोचक विषय है। गोपियों ने न तो कोई आध्यात्मिक साधना की थी, न शास्त्रों का

अध्ययन किया था, न कोई तपस्या या त्याग किया था, न ही उन्होंने कोई दिव्य अनुभव प्राप्त किया था, किन्तु फिर भी वे अपने आपको भगवान के साथ इस रूप में दृढ़ता के साथ कैसे आबद्ध कर सकीं। उनका केवल एक प्रयास था 'प्रेम', बस और कुछ नहीं। जगत के स्वामी को जानने के लिए, उन्हें समझने के लिए, उनके पास तक पहुंचने के लिए सभी ग्रंथों और शास्त्रों को पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। जिस एक चीज को आपको अपने हृदय में संजोकर रखना है, जिसका अभ्यास करना है वह है केवल 'प्रेम'। किन्तु हमारे पूर्वजों, ऋषियों-मुनियों ने हमें पवित्र शास्त्र दिये हैं और वे सभी ज्ञान के भंडार और अर्थपूर्ण हैं, यह हमारा उत्तरदायित्व है, प्रत्येक भारतीय का उत्तरदायित्व है कि वह उनका अध्ययन करे और उन्हें समझने का प्रयत्न करे। हमारा यह भी कर्तव्य है कि हम उनमें दी गयी बातों का पालन करें, उनकी उपयोगिता को अपने व्यवहार से सिद्ध करें और संसार को उनकी अच्छी बातों को बतायें और अपना तथा लोगों का कल्याण करें।

शंकराचार्य के सम्बन्ध में एक कहानी है कि एक बार जब शंकराचार्य सभी वेदों, शास्त्रों और उपनिषदों का अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् बनारस जा रहे थे तो उन्होंने देखा कि एक गरीब व्यक्ति एक टूटी-फूटी झोंपड़ी में व्याकरण का पाठ कर रहा है। शंकराचार्य के साथ चल रहे शिष्यों में से एक ने उस झोंपड़ी के पास जाकर उसकी दीवाल के एक छेद में से झांका और व्याकरण का पाठ कर रहे व्यक्ति से कुछ कहना चाहा। शंकर के उस शिष्य ने उस व्यक्ति को 'मूढ़मते' के नाम से सम्बोधित करते हुए कहा, "अब तुम्हें यह अनुभव करना चाहिए कि यह व्याकरण रटने का समय नहीं है बल्कि भगवान का नाम लेने का, भजन का समय है, तुम्हें भजन करना चाहिए क्योंकि तुम्हारे लिए भजन करने का उपयुक्त समय आ गया है। जीवन के अन्त समय में भजन करने की प्रतीक्षा मत करो।" यह उपदेश सबके लिए है। यह सबके लिए आवश्यक है कि वे आध्यात्मिक विषयों पर पुस्तकें पढ़-पढ़ कर अपने मस्तिष्क के भार को न बढ़ावें इसके स्थान पर तो यह परम आवश्यक है, पवित्र और उत्तम है कि हृदय को प्रेम से परिपूर्ण करें। आज भारत की संस्कृति दिन प्रतिदिन क्षीण और कमजोर होती जा रही है। इसको सबल और सशक्त बनाना है। इसी दृष्टि से भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों के विद्यार्थियों के लिए जो देश के भावी नागरिक हैं, इन कक्षाओं का आयोजन किया गया है। अनुभवी अध्यापकों और विद्वानों तथा उनके भाषणों के द्वारा एक ही पुस्तक का नहीं बल्कि समस्त वेदों, उपनिषदों तथा पवित्र ग्रन्थों और शास्त्रों का सारांश दिया जा रहा है। जहां तक आप लोगों का सम्बन्ध है यह अत्यन्त आवश्यक है कि आप अपने अन्दर 'प्रेम'

की भावना विकसित करें क्योंकि वेदों, शास्त्रों तथा और अन्य ग्रन्थों का जिनके सम्बन्ध में ये अध्यापकगण बतायेंगे, यही मूल्यवान अनुभूति सार तत्व है। मेरा आप सबको आशीर्वाद है कि आप यहां से जो अनुभव और ज्ञान लेकर जावें उसके आधार पर भारत के एक अच्छे नागरिक बनें तथा इस देश के दैदीप्यमान प्राचीन मार्ग के गौरव को पुनः स्थापित करें।

———

३

मानव मन की प्रकृति

जिस प्रकार इस संसार में जो रहना चाहता है उसे पहले मनुष्य बनना चाहिए, इसी प्रकार जो ब्रह्म विद्या सीखना चाहता है उसे पहले आध्यात्मवादी बनना चाहिए। मनुष्य का शरीर पंच तत्वों से निर्मित है किन्तु आत्मा को किसी प्रकार का कोई बन्धन नहीं है। यदि आप इस विषय पर अन्तर्दृष्टि डालेंगे, तो पायेंगे कि शरीर के अन्तर में स्थित आत्मा ही इसकी वास्तविक निरपेक्ष सत्ता है। जब हम किसी किराये के मकान में रहते हैं, तो सामान्य बोलचाल में कहते हैं कि हम किराया देते हैं। प्रश्न उठता है कि हम किराया मकान को देते हैं या मकान मालिक को देते हैं। उत्तर सीधा है। किन्तु आध्यात्मिक विषयों में इस प्रकार का प्रश्न करने की हम चिन्ता नहीं करते हैं। मनुष्य का शरीर भी एक किराये के मकान के समान है। उस किराये के मकान में एक व्यक्ति रह रहा है। उस किरायेदार को मकान मालिक अर्थात् ईश्वर को उसका किराया चुकाना पड़ेगा। उसे किराया शरीर को नहीं देना चाहिए। वास्तव में ईश्वर ही इस मकान का मालिक है जिसमें हम रहते हैं क्योंकि वही शरीर का मालिक है।

मनुष्य के इस शरीर को वह साधन समझा जाना चाहिए जिसके माध्यम से हमें ज्ञान और प्रज्ञान उपलब्ध करना है। आध्यात्मिक ज्ञान हमें बताता है कि इस शरीर में आत्मा का निवास है यद्यपि कि हम शरीर को नाशवान मानते हैं, और इसको हम क्षेत्र भी कहते हैं। आज प्रातः नश्वरता और अनश्वरता के सम्बन्ध में आपको बताया गया था। हमें इसके सम्बन्ध में जानना चाहिए। जितने भी जीवित प्राणी हमें अपने चारों ओर दिखायी देते हैं, वे सब नश्वर हैं, अनश्वर तो केवल जीव है जो सब प्राणिओं में है। यदि आप सरलता से समझना चाहते हैं तो बस इतना सा समझ लेना होगा कि जिस किसी भी वस्तु में यदि किसी प्रकार का परिवर्तन होता

है, समय-समय पर उसका स्थानान्तरण होता है तो निश्चित रूप से वह नश्वर है, उसका अन्त निश्चित है। मनुष्य के शरीर में परिवर्तन की छः स्थितियां हैं। ये छः हैं जन्म, वृद्धि, परिवर्तन, विकास, मृत्यु और विनाश। शरीर इन सारी स्थितियों में होकर निकलता है और वह स्थाई नहीं होता, इसलिए हम इसे नश्वर कहते हैं।

नश्वरता और अनश्वरता में अन्तर बहुत ही कम और सूक्ष्म है। यदि बिनाश न हो तो हम यह नहीं समझ सकेंगे कि अमर व स्थायी क्या है? इसी प्रकार दूसरी ओर यदि अविनाशी या स्थिर न हो तो हम यह नहीं समझ सकेंगे कि बह क्या है जिसका विनाश होता है। आपको कभी-कभी इनसे यह अनुभव होगा कि दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और इतनी निकटता के साथ सम्बन्धित हैं कि वे एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते हैं। इस विषय में भगवद्-गीता के अध्याय १३ में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन उल्लेखनीय है। उनमें स्पष्टरूप से यह बताया गया है कि घर (क्षेत्र) और घर में निवास करने वाले (क्षेत्रज्ञ) में क्या सम्बन्ध और अन्तर है? हमें इस विषय पर जिज्ञासा करनी होगी और प्रश्न करना होगा कि क्या आत्म-साक्षात्कार ही अन्तिम उपलब्धि है। किन्तु जिज्ञासा का यहीं अन्त नहीं है। इससे हम यह जान पाते हैं कि मनुष्य में क्या नश्वर है और क्या अविनाशी है। किन्तु इसके भी परे कुछ है जो न तो शरीर है और न ही आत्मा वह है पुरुषोत्तम। जब हम इस 'पुरुषोत्तम' की अनुभूति कर लेते हैं तब कह सकते हैं कि हम लक्ष्य तक पहुंच गये हैं। इसको एक छोटे से उदाहरण से समझो। एक नौकर अपने मालिक को एक अंधेरे कमरे में ढूंढ़ने के लिए घुसता है। उसको वहां कुछ नहीं दिखायी देता और वह अपने हाथों को फैलाकर इधर-उधर घूमता है और जिन जिन वस्तुओं पर हाथों का स्पर्श होता है उन्हें टटोलता है। कभी उसका हाथ कुर्सी पर पड़ता है, तो कभी मेज पर, तो कभी बैंच पर और प्रत्येक बार यह कहता हुआ कि यह मेरा मालिक नहीं है, वह आगे बढ़ता और ढूंढ़ता जाता है तथा अनेकों वस्तुओं को जो कमरे में हैं टटोल-टटोल कर छोड़ता जाता है? अन्त में वह एक पलंग के पास पहुंचता है। पलंग को छूकर वह उसके ऊपर टटोलता है और पाता है कि उसका किसी के पैरों से स्पर्श हुआ। वह अनुमान लगाता है कि उसका मालिक होगा, उसे आशा बंधती है वह खुश होता है, किन्तु जब तक वह उसके निकट तक पहुंचकर यह सुनिश्चित नहीं कर लेता कि पलंग पर सोने वाला व्यक्ति उसका मालिक ही है, वह यह नहीं कह सकता कि उसकी खोज सफल हुई; उसको सफलता और पूर्ण प्रसन्नता तब ही प्राप्त होती है जब वह पलंग पर सोने वाले के निकटतम् पहुंचकर अपने मालिक को पहचान लेता है।

इस शरीर की आप एक मकान से तुलना कर सकते हैं तथा इस शरीर के विभिन्न अंगों से उठने वाली इच्छओं की अन्धकार से तुलना कर सकते हैं। अंधेरे से भरे इस घर में व्यक्ति उस नौकर के समान अपने मालिक भगवान को ढूंढ़ता है। सबसे पहला कार्य जो व्यक्ति करता है वह है अपने अंगों को टटोलना। उनको छोड़ कर वह आगे बढ़ता है, तो टकराता है मन से। उससे आगे बढ़ता है तो पाता है बुद्धि को। इस बुद्धि पर पहुंचने को समझिये जैसे वह नौकर पलंग तक पहुंचा था। वहां पहुंच कर मालिक को प्राप्त करने की आशा बंधती है और कुछ प्रसन्नता होती है। वहां से खोज आगे जारी रखने पर मालिक के चरणों का स्पर्श होता है। इस उदाहरण में और आध्यात्मिक मार्ग में हमें चार स्थितियां मिलती हैं आत्मा, बुद्धि, मन और इन्द्रियां। आज प्रात: के भाषण में–आत्मा, बुद्धि, मन और इन्द्रियों के सम्बन्ध में बताया गया था कि इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन पर अधिकार बुद्धि का है, और बुद्धि की स्वामी है आत्मा* इस प्रकार यदि हम आत्मा तक इन्द्रियों, मन और बुद्धि को पार करके पहुंचना चाहते हैं तो यह बहुत ही कठिन कार्य होगा। यदि हम और भी गहराई में जावें और सावधानी तथा गंभीरता के साथ सोचें तो पायेंगे कि इन चारों ही से जो सम्बन्धित है वह एक ही है और वह एक है आत्मा। मैं एक और उदाहरण देता हूं जो इससे कुछ भिन्न है। हम दूध को लें। पहले हम दूध को देखते हैं और उसका उपयोग करते हैं। फिर अपने स्वाद परिवर्तन के लिए हम दूध का दही जमाते हैं। फिर हम उस दही को बिलोकर उसमें से मक्खन निकालते हैं। दही में से मक्खन निकालने के बाद जो कुछ बचता है उसे हम कहते हैं छाछ या मठा। इस सारी प्रक्रिया और परिवर्तन के बाद जो कुछ बच जाता है वह तो नगण्य और तुच्छ दिखाई देने वाली छाछ होती है उसकी हम इन्द्रियों के साथ तुलना कर सकते है। सारा-तत्व मक्खन के निकाल लिए जाने के बाद स्पष्ट रूप से छाछ उतनी उपयोगी नहीं रहती इसलिए इसकी हम इन्द्रियों से तुलना कर सकते हैं। मन की दही के साथ तुलना कर सकते हैं, मक्खन की तुलना बुद्धि से की जा सकती है। किन्तु दही, मक्खन और छाछ सबका मूलस्रोत है दूध। इसलिए दूध को हम आत्मा कह सकते हैं क्योंकि आत्मा भी इसी प्रकार सबका मूलस्रोत है। अब हमें यह सोचना

---

* इन्द्रियाणि पराण्या हुरिन्द्रियेभ्य: परे मन:।
मनस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे परस्तु स:॥

अर्थात्—इन्द्रियों को परे (श्रेष्ठ, बलवान और सूक्ष्म) कहते हैं, इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त परे है वह आत्मा है। —गीता ३। ४२

चाहिए कि ये इन्द्रियां या छाछ कितनी महत्वपूर्ण हैं और इन्द्रियों के माध्यम से हम मूलस्रोत अर्थात आत्मा या दूध की अनुभूति तक पहुंच सकते हैं। मन और बुद्धि विभिन्न इन्द्रियों से सम्बन्धित रहते हैं। हमें इस पर विस्तार के साथ यह विचार करना होगा कि इस प्रकार के सम्बन्धों के कारण मूलस्रोत आत्मा की कितनी विकृत तस्वीर हमारे सामने आती है।

एक और उदाहरण है। हम किसी कप में बहुत अच्छा फल का रस भरते हैं। कप फल के रस को रखने भर का पात्र है, वह उसके रस का स्वाद नहीं जानता। हम उस कप में एक नलकी-स्ट्रा डालकर उसको धीरे-धीरे पीते हैं। उस नलकी को भी उस रस का स्वाद नहीं ज्ञात होता। किन्तु जब रस जीभ पर पहुंचता है तो वह इसकी मधुरता और सुस्वादता को पहचान लेती है। किन्तु वास्तव में उस स्वाद का अनुभव करने वाली जीभ भी नहीं है। वह तो उस रस को आपकी पाचन क्रिया में पहुंचा देती है। इसी प्रकार हम दैविक तत्व को, फल के रस को कप में रखने के समान, शरीर में रखते हैं। हमारी इन्द्रियां नलकी-(स्ट्रा) के समान हैं। कप और नलिका जिस प्रकार रस का स्वाद अनुभव नहीं करती उसी प्रकार शरीर और इन्द्रियां देवत्व का अनुभव नहीं करते हैं। लेकिन बुद्धि, जिसे हम उपरोक्त उदाहरण में जीभ के समान मान सकते हैं, वह उसकी कुछ जिज्ञासा कर सकती है और कह सकती है वह कुछ ऐसा-ऐसा है। किन्तु जीभ की तरह वह फल के स्वाद का पूरा अनुभव नहीं कर सकती, वह तो केवल स्वाद को कुछ जान सकती है और कह सकती है कि वह कैसा है किन्तु उसका सही अर्थों में अनुभव नहीं कर सकती। जिस प्रकार रस को जीभ पाचन क्रिया में पहुंचा देती है उसी प्रकार बुद्धि सारे विचारों को आत्मा तक पहुंचा देती है। इसी संदर्भ में हम कहते हैं कि हमारी बुद्धि भी कोई इन्द्रियों से अधिक हमारी समस्या का समाधान नहीं कर सकती है। जिसका न इन्द्रियों से और न हीं बुद्धि से अनुभव किया जा सकता है वही आत्मतत्व है।

जब हम इन्द्रियों को, मन और बुद्धि को सतपथ पर, श्रेयस्कर मार्ग पर लगायेंगे तथा आगे बढ़ेंगे तभी हम कुछ यह समझ सकेंगे कि आत्मा क्या है? शरीर के भीतर स्थायी क्या है? आत्मा की पूर्ण अनुभूति की प्राप्ति के लिए हमें कुछ ऐसे माध्यम से होकर चलना होगा जो बहुत कुछ आत्मा के समान है। आत्मा इन्द्रियों की पहुंच से परे है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन्द्रियों की स्थिति आत्मा से कहीं नीचे है इसलिये वे आत्मा का अनुभव नहीं कर सकती हैं। इस संदर्भ में हम दो अनुशासनों पर आते हैं एक भौतिक विज्ञान दूसरा दर्शनशास्त्र। यही कारण है

कि जहां भौतिकी का अन्त होता है वहां दर्शन का प्रारम्भ होता है। इस दृष्टि से कि आत्मा के इस पक्ष को समझ सको और अनुभव कर सको, आपको कुछ साधना करनी होगी। यदि इस साधना को आप अपनी इन्द्रियों, मन और बुद्धि के माध्यम से करना चाहते हैं अर्थात् जिस प्रकार उदाहरण दिया गया था, दूध का दही जमा कर, दही को मथ कर उससे मक्खन निकाल कर, छाछ बनाते हैं उसी प्रकार आपको कुछ स्वीकृत और निर्धारित विधियां अपनानी होंगी और उनका सही रूप से पालन करना होगा। यदि आप उन विधियों का सही रूप से उपयोग नहीं जानते और उनके द्वारा वांछित परिवर्तन और उपलब्धियाँ नहीं प्राप्त कर सकते हैं तो आप न तो दूध का दही जमा पायेंगे और न ही दही को मथ कर उसकी छाछ बना पायेंगे और न ही मक्खन प्राप्त कर सकेंगे। हमारे प्रत्येक कार्य में हमें लक्ष्य को नहीं भूलना चाहिए। इस उदाहरण में मुख्य वस्तु दूध है और उसमें परिवर्तन के द्वारा अन्य वस्तुयें, दही, मक्खन और छाछ, बनाते हैं। कहावत है कि मनुष्य का मन ही उसके अन्तर का दर्पण है। इसलिए जो भी कुछ हमारे अन्तर से आता है, भीतर से जो भी कुछ उद्‌भूत होता है, प्रकट होता है वह ठीक प्रकार से प्रतिबिम्बित होता है तो वह मन ही होता है। वही बुद्धि है और वह ही उन कार्यों के रूप का निरूपण करती है जिन्हें हम करते हैं। इस प्रकार मन, बुद्धि, कर्म किसी के भी रूप में कुछ ऐसा नहीं है जो बाहर से आता हो, ये सब हमारे शरीर के अन्तर से आते हैं।

आप लोगों में से बहुत से ऐसे हैं जो पहली बार ही आये हैं उनको यह पूरी तरह से समझाने के लिए कि इसका अर्थ और महत्व क्या है, मैं एक और उदाहरण देता हूं जो आप पहले भी जानते होंगे। मेरे हाथ में एक कपड़े का टुकड़ा है। आप सभी यह जानते हैं कि यह एक कपड़े का टुकड़ा है। लेकिन मेरी दृष्टि से यह कपड़े का टुकड़ा नहीं बल्कि धागों का एक बन्डल है। और यदि आप और भी दूसरे दृष्टिकोण से इसे देखें तो यह धागों का बन्डल न रह कर केवल थोड़ी सी रूई कहलायेगा। रूई धागा और कपड़ा तीनों एक ही हैं। इसी प्रकार इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि भी तीनों एक हो जायेंगे और हम इस स्थिति में होंगे जिसे हम एक ही कहेंगे, एक ही नाम से पुकारेंगे। जिस प्रकार की छाछ, दही और मक्खन सभी का एक ही स्रोत है, एक ही उद्‌गम है। आप के मन में जो भी कुछ है आधार, नींव या स्रोत के रूप में वास्तव में वही एक मूल है जिससे सब अन्य परिवर्तन स्वरूप प्रकट हुये हैं। यदि हम कुछ ऐसा करें कि यह कपड़े का टुकड़ा यहाँ से गायब हो जाये या कपड़ा न रहे तो आप में से शायद कोई इसमें आग लगाने की

सोचे। किन्तु यह कोई सही तरीका नहीं होगा। यदि हम इस कपड़े के एक-एक धागे को खींच-खींच कर अलग कर दें तो कपड़ा नहीं रहेगा, उसका स्वरूप लोप हो जायेगा। यदि हम गहन विचार करें, खोज करें और अपने आपसे प्रश्न करें कि कपड़े के समान क्या है और धागे के समान क्या है .तथा रूई के समान क्या है तो हम पायेंगे कि मन कपड़े के समान है, इच्छायें धागों के समान हैं। इच्छाओं के ताने-बाने से मन रूपी वस्त्र का निर्माण होता है। यदि हम मन या कपड़े का लोप करना चाहते हैं तो इच्छाओं या धागे के ताने-बानों को एक-एक धागा खींच कर खोल देना होगा विघटित कर देना होगा एक-एक इच्छा को खींच कर बाहर निकालना होगा, उनके ताने-बाने को विघटित कर देना होगा। वास्तव में मन का निर्माण हम अनेकों इच्छाओं का ताना-बाना बुनकर करते हैं और जितनी अधिक और सबल इच्छाओं के ताने-बाने से मन का निर्माण होगा उतना ही वेगवान् और सशक्त मन बनेगा तथा उतनी ही अधिक तकलीफें और कष्ट हमें देगा। दूसरी ओर यदि हम इच्छाओं को एकत्रित नहीं होने देंगे, उन्हें अपना ताना-बाना नहीं बुनने देंगे तो मन रूपी वस्त्र का निर्माण होगा ही नहीं और फिर वह हमें कोई कष्ट नहीं दे सकेगा।

आप में से लगभग सभी ने रेल द्वारा यात्रा की होगी और रेल के डिब्बों के भीतर लिखा पाया होगा जिसका अभिप्राय होता है कि 'जितना कम सामान उतनी यात्रा अधिक आरामप्रद।' हमारा जीवन भी एक लम्बी यात्रा है किन्तु इस लम्बी यात्रा में भी हम अपने पर इच्छाओं का इतना अधिक बोझ लाद लेते हैं कि यह हमारे लिए दुखदायी हो जाती है। हम अपनी इच्छाओं के बोझ को जितना अधिक कम करेंगे हमारी यात्रा के कष्ट उतनी ही मात्रा में कम होते जायेंगे। अपनी यात्रा में बोझ को कम करके जीवन यात्रा में इच्छाओं के भार को कम करते जाने को वेदान्त की भाषा में वैराग्य कहते हैं। वैराग्य का अर्थ घर त्यागने से नहीं है, अपनी स्त्री, बच्चों को छोड़कर जंगल में जाने से नहीं है। अपने घर में रहते हुए, अपने समाज में रहते हुए अपने गृहस्थ धर्म का, सामाजिक कर्त्तव्यों और दायित्वों का पालन करें किन्तु मन को इनमें फसावें नहीं, मोह न पैदा होने दे। अपने कार्य को ईश्वर को समर्पित करें, उसकी इच्छा की पूर्ति के निमित्त करें, स्वयं निर्लिप्त रहें यही वैराग्य है। अपनी कोई इच्छा न रखते हुए ईश्वर-इच्छा से ही सब कार्य करना, उसके फल की कोई कामना न करना, और जो कुछ परिणाम निकलते हैं उन्हें सहर्ष स्वीकार करना; जब ऐसी स्थिति आ जाती है तो फिर जीवन में आने वाली सभी कठिनाईयां और कष्ट, हानि और लाभ, दुख और शोक स्वतः ही मिट जायेंगे।

वेद हमें पूर्ण ज्ञान प्रदान करते हैं, जैसा कि वेद शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट होता है। यह शब्द विद् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है ज्ञान। अनेकों लोगों, जिनमें इस देश के निवासी भी सम्मिलित हैं, को संदेह है और वे प्रश्न करते हैं कि वेदों के रचियता कौन हैं, वेदों का क्या महत्व और मूल्य है, उनमें क्या है और उनकी शिक्षा क्या है ? वास्तव में यह एक दयनीय स्थिति है कि हमारे देश के लोगों के मनों में ऐसे संदेह हैं। वेदों के उद्गम के सम्बन्ध में यह कहा जाना चाहिए कि इस देश के चिन्तक, विचारक और दिव्य दृष्टा महान् ऋषियों ने जब घोर तप किए और ब्रह्म तत्व को जानने, परम सत्य का साक्षात्कार करने के लिए खोज की, तो उन्हें अपने इन प्रयत्नों के फलस्वरूप उन्हें जो शब्द और ध्वनियां सुनाई दीं, जो वाणी उनके अन्तर में प्रतिध्वनित हुई, उनके द्वारा वे सब कुछ जान सके। ऋषियों द्वारा सुनीं गई उस दिव्य अन्तर वाणी से वेदों की रचना हुई है। वेद पुस्तकों के अध्ययन या लिखने के परिणामस्वरूप अस्तित्व में नहीं आये। ऋषियों द्वारा दैविक शब्दों और ध्वनियों को सुनकर वेदों की रचना करने के कारण ही उन्हें 'श्रुति' कहा जाता है। जो कुछ सुनकर प्राप्त किया जाता है, उसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। वेदों की साधिकारिक प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकते क्योंकि वे तो ध्वनियों के माध्यम से सुने गये हैं। यह तो श्वास के समान हैं, परमात्मा की ही श्वास लेना और उसकी ही उच्छवास छोड़ना। परमेश्वर द्वारा प्रदत्त ऐसे पावन ज्ञान को, परमात्मा के ऐसे दिव्य अनुग्रह को आचरण और कर्म का निदेशन करने वाली एक पुस्तक मात्र मानना ठीक नहीं है। आज यदि कोई विद्वान दस लाइनें लिख देता है तो वह उन पंक्तियों के लेखक के रूप में अपना नाम उजागर करने के लिए एड़ी से लेकर चोटी तक का जोर लगा देता है और लेखक के रूप में अपने सर्वाधिकार सुरक्षित करवाने के लिए कानून कायदों का भी सहारा लेता है। किन्तु वेदों के सम्बन्ध में, जो अनादि और अनन्त हैं, उनके रचयिता परमेश्वर ने वेदों में कहीं यह प्रकट नहीं किया है कि वह वेदों के रचियता हैं। उस परम पुरुष का, उस पुरुषोत्तम का जिसने हमें अपार और अपरिमित आनन्द प्रदान किया है, न कोई नाम है और न कोई रूप है उसकी क्या शक्ति होगी कि उसने वेदों के रूप में हमें ऐसा अपार ज्ञान और अपार आनन्द दिया है। यह परमात्मा का हम पर असीम अनुग्रह है कि उसने इस संसार को, उसके वास्तविक स्वरूप और महत्व को समझने के लिए, मनुष्यत्व को समझने के लिए और देवत्व को समझने के लिए ऐसा अथाह ज्ञान भंडार प्रदान किया है।

सर्वप्रथम जब वेद प्रकट हुए तो वे अनन्त थे किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया उनकी संख्या कम होती गयी और अब इस समय केवल चार वेद ही उपलब्ध

हैं। इन चारों में पहला है ऋग्वेद। वह पद्यमय है और उसके पद्य या मंत्र छोटे-छोटे हैं। उन्हें ऋक् कहते हैं और इसमें ऋक् संग्रह होने के कारण ही इसे ऋग्वेद कहा गया है। इन ऋचाओं के अतिरिक्त इसमें उपदेश भी हैं जैसे 'सत्यम् वद्'। सत्य बोलो, 'धर्मम् चर' धर्म का पालन करो जो समाज को सुव्यवस्थित रखने में सहायक होते हैं। दूसरा वेद है यजुर्वेद जो हमें हमारे कर्त्तव्यों का बोध और पालन कराने वाला है, उसमें यज्ञ, कर्म का उपदेश है। इसमें बताया गया है समाज और राष्ट्र की सेवा करते हुए हमें कैसे प्रगति करनी चाहिए, हमारा आचरण कैसा होना चाहिए। तीसरा है सामवेद, जो किसी अन्य से अधिक महत्व का है। सामवेद का मुख्य विषय है संगीत। उसमें गायन करने के मन्त्रों का संग्रह है। सामवेद में कई स्थलों पर ऋगवेद और यजुर्वेद का भी सार दिया गया है। (या ऋकतत् साम)। चतुर्थ और अन्तिम अथर्ववेद। अथर्ववेद में उपरोक्त तीनों ही वेदों का अंश लेने के अतिरिक्त हमें यह बताया है कि मनुष्य को अपने दैनिक जीवन में जिन विभिन्न कार्यों को वह करता है, उसको करने में क्या सावधानी रखनी चाहिए, उसे अपने परिवार, बाल बच्चों, अपने से बड़ों की किस प्रकार सेवा करनी चाहिए और उन्हें किस प्रकार सुरक्षित और प्रसन्न रखना चाहिए। इसके अतिरिक्त इसमें हमारे हित के लिए गोकर्म और 'गजकर्म' जैसे विशेष अनुशासन दिये गये हैं। ऐसे पवित्र ग्रंथ और पवित्र शास्त्र जिसका उद्देश्य मनुष्य के जीवन में सच्चा दृष्टिकोण उत्पन्न कर, सही मार्ग पर चलकर उसे ईश्वराभिमुख करना है, हमारे देश के लोग उनकी उपेक्षा कर रहे हैं। जिन कर्मों को करने का, जिन विधियों को अपनाने का वेदों में निर्देश है और जिन्हें वेद में आवश्यक बताया गया है उनकी हम उपेक्षा कर रहे हैं। और ऊपर से हम वेद के अधिकार को ही चुनौती दे रहे हैं। कहते हैं कि वेद के रचियता कौन हैं और उन्हें निरर्थक बताते हैं तथा कहते हैं कि इनका हमारे लिए कोई उपयोग नहीं है। निराशापूर्ण इस उग्र भावना के होते हुए कि वेदों का प्रणेता या रचयिता कोई नहीं है, अपने कर्त्तव्यों को नहीं त्यागना चाहिए।

एक छोटा सा उदाहरण है। आप बिजली की ओर देखकर कि इसका प्रणेता कौन है, इसका किसने पता लगाया और कहाँ से आयी। इस प्रश्न का उत्तर ऐसा नही है जो हर कोई दे सके। केवल इसलिए कि हमें बिजली के प्रणेता, उसकी खोज करने वाले तथा अन्य बातों का ज्ञान नहीं है तो क्या हम बिजली की उपयोगिता को मना कर सकते हैं कि वह हमारे किसी काम की नहीं है। इसी प्रकार यदि हम सबको यह ज्ञात नहीं है कि वेदों के द्रष्टा या प्रणेता कौन थे किन्तु फिर भी हमारे लिए यही हितकर होगा कि हम उन मार्गों पर चलें, उन कर्त्तव्यों का पालन करें जिनका

हमें वेद निर्देश करते हैं। इसी मार्ग को अपनाने से हमें सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है। जो वेदों में निहित, वेदों द्वारा निर्देशित आदर्श और सिद्धान्तों का स्वयं पालन करते हैं तथा उनका दूसरों को भी उपदेश देते हैं उन्हें महर्षि कहते हैं। जब हम उन आदर्शों और सिद्धान्तों को समझते और स्वीकार करते हैं जो उन महर्षियों ने हमारे सामने रखे हैं और उन्हें हम अपने जीवन में अपनाते हैं तब ही हम वास्तव में यह देख सकते हैं कि ये महर्षि, कौन हैं और उनके क्या विचार और दृष्टिकोण हैं। ये महर्षि उसी प्रकार हैं जैसे वे आधिकारिक पुरुष जो बिजली का नियंत्रण करते हैं और बिजली पर अधिकार रखते हैं। जिस प्रकार बिजली पर अधिकार रखने वाले हमें जैसे निर्देश देते हैं और उनका पालन करके हम बिजली के पूरे लाभ उठाते हैं इसी प्रकार महर्षियों द्वारा हमें जो मार्ग दिखाये गये है यदि हम उन पर चलें, उनके आदेशों का पालन करें, उनके उपदेशों को मानें तो निश्चित ही हम अपने जीवन में बिजली के समान प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं, अज्ञान-अंधकार को दूर कर आनन्द और सुख प्राप्त कर सकते हैं।

इसलिये आप सब विद्यार्थियों को, बालकों और बालिकाओं को, युवकों और युवतियों को यह भली प्रकार समझना चाहिये कि भारतीय संस्कृति क्या है, हमारे पवित्र ग्रन्थों और शास्त्रों में जैसे रामायण, महाभारत और पुराणों में क्या लिखा है? उनको न केवल समझो बल्कि उनको समझकर उनका अपने जीवन में पालन करो और लाभ उठाओ। उनको समझने और पालन करने से ही आपको जीवन की पवित्रता का ज्ञान हो सकेगा और आप आवश्यक सुख और आनन्द प्राप्त कर सकेंगे। मैं यह भी आशा करता हूं कि आप भविष्य में यह भी जानने का प्रयत्न करेंगे कि वेदों में क्या है, वे क्या शिक्षा देते हैं; प्रत्येक में क्या सिद्धान्त और आदर्श दिये गये हैं। इस सम्बन्ध में उन पाठ्यक्रमों के दौरान होने वाली कक्षाओं में विषय के उत्कृष्ट विद्वानों द्वारा आप लोगों को समझाया जायेगा। मुझे उम्मीद है कि आप लोग उन अनुभवी विद्वानों को बहुत ही सावधानी से, दत्तचित्त होकर निष्ठा के साथ सुनेंगे। जो विद्यार्थी स्वतंत्रता के नाम पर लापरवाही से रहते हैं और अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति में ही लगे रहते हैं उन्हें वेद और वेदान्त की बातें बड़ी कठिन लगती हैं और वे उन्हें समझ नहीं पाते हैं। आज दोपहर में वेदान्त की कुछ कक्षायें हुई थीं और उनमें भाग लेने वाली एक लड़की ने कहा कि कक्षा में जो भी कुछ बताया गया वह उसकी समझ के बाहर की बात थीं। लेकिन आप यदि ऐसा अनुभव करते हैं कि यदि कुछ आपकी समझ में नहीं आया या आपकी समझ के बिलकुल ही बाहर है

वह, तो भी आपको निराश नहीं होना चाहिए। आपको समझने का प्रयत्न करना चाहिए और पूर्ण विनम्रता के साथ आपको वेदान्त समझाने वाले अध्यापक के पास जाकर अपनी कठिनाई रखनी चाहिए और वे जो कुछ बतायें उसे ध्यान और लगन से, निष्ठा और भक्ति की भावना के साथ सुनना और समझना चाहिए और निराश कभी नहीं होना चाहिए। जब पढ़ना प्रारम्भ करते हैं तो सबसे पहले वर्णमाला के अक्षर सीखते हैं। उस समय आपको कुछ कठिनाई होती है किन्तु उसके कारण क्या कभी पढ़ना छोड़ देते हैं? इसलिए प्रयत्न करते रहने से और परिश्रम के साथ, लगन और निष्ठा के साथ अभ्यास करते रहने से आप उस स्थिति में पहुंच सकते हैं जब सब कुछ सरलता के साथ समझ में आ जाता है। (करत-करत अभ्यास के जड़मत होत सुजान—अभ्यास के द्वारा मूर्ख भी ज्ञानी बन जाता है)। जिस शिक्षा के द्वारा आप अपने को समझ सकते हैं, जगत् को समझ सकते हैं और अपना आत्म-साक्षात्कार कर सकते हैं वह निश्चित् रूप से अच्छी शिक्षा है। जो केवल आपकी जीविकोपार्जन का साधन बने, नौकरी करने और वेतन प्राप्त करने के लिए आपको ज्ञान प्रदान कराये, वह शिक्षा ही वास्तव में सबसे अच्छी शिक्षा नहीं है। यदि मैं बहुत ही संक्षेप में आपको बताऊं कि वेदान्त क्या है तो मैं आपको कहूंगा कि वेदान्त आपको आपके ही बारे में बताता है। इसलिए आप स्वयं अपने आपको जानने का, स्वयं अपने आपको पहचानने का प्रयत्न करो। यह जानने का प्रयत्न मत करो कि दूसरे कौन हैं और क्या हैं? अपने आपको जाने बिना संसार को जानने के झंझट में मत पड़ो क्योंकि पहले अपने आपको जाने बिना दूसरों को या संसार को जानने का कोई उपयोग नहीं है।

हम अपने जीवन काल में यह कहते हैं यह मेरा शरीर है, ये मेरी इन्द्रियां हैं, यह मेरा मन है, मेरी बुद्धि है। सभी समय आप यह कहते हैं किन्तु यह कहने से पहले कि यह मेरा है या वह मेरा है क्या कभी आपने यह भी सोचा कि आप हैं कौन? जब आप अपने आपको जान जायेंगे तभी तो आप यह कहने के अधिकारी होंगे न कि यह शरीर आपका है? जब तक आप यह अनुभव करते हैं कि सभी वस्तुयें आपकी हैं तो इसका अर्थ होता है कि आप शरीर, मन, बुद्धि से पृथक् हैं। जब मैं यह कहता हूं कि यह तौलिया मेरा है तो इसका अभिप्राय हुआ कि तौलिया मुझ से पृथक् है और मैं इसे फेंक सकता हूं और मैं स्वयं अलग खड़ा रह सकता हूं। इसलिए जब आप यह कहते हैं कि यह मेरा शरीर है तो आप अपने इस अधिकार की घोषणा करते हैं कि आप चाहें तो इस शरीर को दूर हटा सकते हैं और आप स्वयं उससे पृथक् होकर दूर खड़े हो सकते हैं। जब आप यह कहते हैं कि मेरा मन

तो इसका अर्थ होता है आप मन नहीं हैं, मन अलग है और आप अलग। आप में क्या है वह, जो न तो मन है, न बुद्धि है, न इन्द्रियां हैं जो आपका है? जो आपके स्वरूप का रहस्य प्रकट करता है, उसकी व्याख्या करता है तथा आपके इस प्रश्न का उत्तर और समाधान प्रस्तुत करता है वही वेदान्त है।

एक युवा बालक नचिकेता सत्य आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए यम के पास गया और यम से अनेकों प्रश्न पूछे। यम ने उसे अनेकों वरदानों का लालच देकर प्रश्नों के उत्तर देने से टालना चाहा किन्तु वह अपने प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए अडिग रहा। आत्मतत्व को बिना जाने यम के द्वार से हटा नहीं। नचिकेता एक बालक ही था किन्तु उसकी जिज्ञासा प्रबल थी, उसने अनेकों कठिनाईयों का सामना किया और कष्ट उठाये किन्तु जब तक उसे अपने मूल प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं मिला और उसके समस्त संदेहों का निवारण होकर उसे आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो गया वह लौटा नहीं। किन्तु इसके विपरीत आत्म-ज्ञान प्राप्ति की इच्छायें हम में होती नहीं हैं, हम यह नहीं जानते कि हम कौन हैं और न ही इसको जानने का प्रयत्न करते हैं? बल्कि सदा अपनी सांसारिक इच्छाओं और मनोकामनाओं की पूर्ति में लगे रहते हैं। हम अवांछनीय स्थितियां पैदा करते हैं और उनमें फंसते हैं तथा महान् प्राचीन गौरव परम्पराओं वाले अपने देश के सम्मान को कलंकित करते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए, यह शर्म की बात है। इस ग्रीष्मकालीन पाठ्य-क्रम में भाग लेने के लिए आये हुए नवयुवक विद्यार्थियों, आपको सनातन धर्म को स्थापित करने के लिए वेदों और शास्त्रों द्वारा जो मार्ग दिखाये गये हैं, उन पर चलने के लिए, अनुशासित रहने के लिए, अपने सत्य आचरण के द्वारा समस्त संसार को यह बता देने के लिए कि अपना देश कितना महान् था और कितना महान् है, दृढ़-संकल्प करने चाहिए। आपको समस्त संसार को यह बता देना चाहिए कि आप आनन्द और शान्ति के जिस पर हमें सदा गर्व रहा है, सैनिक और ज्ञान प्रचारक हैं। आपको अपना व्यवहार और आचरण ऐसा आदर्शमय रखना चाहिए कि आप जिस क्षेत्र में जायें वहां सबको नेतृत्व प्रदान कर सकें। आपको इन विचारों और आदर्शों को अपने मन, मस्तिष्क और हृदयों से कभी बाहर नहीं होने देना चाहिए। मैं आशा करता हूं और आशीर्वाद देता हूं कि आप ऐसा ही करेंगे।

———

४

उपनिषद् हमें क्या शिक्षा देते हैं

वृक्ष में लगने वाले फलों के सुमधुर रस का सुस्वाद वृक्ष नहीं लेता। वे लतायें और पौधे उस मधु का स्वाद नहीं जानते जो उन पर लगने वाले फूलों से प्राप्त होता है। जो सुन्दर उपदेश पाठ्यपुस्तकों, ग्रन्थों और शास्त्रों में हैं, उनका आनन्द वे ग्रन्थ और पुस्तकें नहीं लेती हैं। प्रकृति में जो सौन्दर्य है उसका आनन्द प्रकृति स्वयं नहीं लेती है। इसी प्रकार भौतिक संसार का वर्णन करने वाला लेखक उसमें छिपे आध्यात्मिक आनन्द को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

हमारे भारतीय समाज और संस्कृति में परमात्मा को स्नेह, प्रेम और प्रसन्नता के साथ 'माधव' नाम से पुकारते हैं। माधव में तीन अक्षर हैं, मा, ध और व। मा का अर्थ किया जा सकता है, 'माया'। इसका अर्थ प्रकृति से भी लिया जा सकता है तथा 'मा' लक्ष्मी के लिये भी हो सकता है। 'धव' का अर्थ होता है पति। जो माया या प्रकृति या लक्ष्मी का स्वामी या पति है, वह माधव है। वही परमात्मा है और वही परमानन्द है। जीवात्मा या जीव जो प्रकृति के अधीनस्थ है आनन्द के साथ एकाकार नहीं कर सकता। परमात्मा स्वतन्त्र हैं, उसे कोई बन्धन नहीं है किन्तु जीवात्मा आश्रित है और उसे किसी अन्य के सहारे रहना पड़ता है। इसलिए यदि हम परमानन्द प्राप्त करना चाहते हैं तो वह तभी सम्भव हो सकेगा जब हम परमात्मा की ओर निहारेंगे, उनको समझेंगे और उनके साथ तादात्म्य अर्थात् एकता स्थापित करेंगे। हमें अपना आश्रय मायापति अर्थात् लक्ष्मी पति माधव को बनाना चाहिये, किसी अन्य को नहीं अन्यथा परमानन्द प्राप्त करने की कल्पना भ्रान्ति होगी। जब तक हम माया में लिपटे रहेंगे हम उस परमानन्द को प्राप्त नहीं कर सकते। किन्तु हमें निराश नहीं होना चाहिये सदा आशा बनाये रखनी

चाहिए और यह जानने के लिए सदा प्रयत्न करते रहें कि कौन से मार्ग हैं, क्या साधन और विधियां हैं, हमें क्या और कैसे करना है जिससे कि हम समझ सकें और परम पुरुष या परमात्मा को प्राप्त कर सकें जो स्वयं सच्चिदानन्द हैं, परमात्मा हैं, माधव हैं। परमात्मा को हम कहाँ पा सकते हैं? हम परमात्मा तक कैसे पहुंच सकते हैं? कैसे पहचान सकते हैं? आदि इसी प्रकार के अन्य प्रश्नों के उत्तर भगवद्गीता तथा अन्य दूसरे ग्रन्थों में दिये गये हैं। एक बार अर्जुन ने भगवान कृष्ण से स्नेह और मित्रता भाव में पूछा कि आजकल आप कहां रहते हैं। उसने भगवान से कहा, "मैं आपसे मिलना चाहता हूं इसलिए मुझे आपका स्थायी पता चाहिए, आपके मुख्यालय का पता। मुझे आपके शाखा कार्यालयों का पता नहीं चाहिए क्योंकि यह सम्भव नहीं है क्योंकि आप सदा शाखाओं में ही रहते हो।" भगवान ने इसका उत्तर दिया, "ठीक है, मेरा स्थायी पता है 'द्वारा समस्त सजीव पदार्थ।"

एक और उदाहरण द्रौपदी ने हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। एक बार द्रौपदी बड़े आराम के साथ प्रसन्न मुद्रा में श्रीकृष्ण के साथ वार्तालाप कर रही थीं। द्रौपदी अपने जीवन का बड़ा ही संकट भरा और कष्ट पूर्ण लम्बा समय काट चुकी थीं। उसने विनोद के साथ श्रीकृष्ण को अपने बन्धु के रूप में सम्बोधित करते हुये कहा, "यह क्या बात है कि जब भी मैं घोर विपदाओं में पड़ी और आपको अपने हृदय से पुकारा और सहायता के लिये याचना की तो आप सदा देर से क्यों आये आप कभी समय पर नहीं पहुंचे। क्या आप मुझे अब बताने की कृपा करेंगे कि आपके मार्ग में ऐसी कौन सी रुकावट आ जाती थी कि आप ठीक समय पर नहीं पहुंच पाते थे?" श्रीकृष्ण ने उत्तर देते हुये द्रौपदी से प्रश्न किया, "तुम कहती हो कि तुमने मुझे याद किया और पुकारा। क्या तुम बता सकती हो कि तुमने मुझे किस नाम से याद किया और मुझे किस प्रकार सम्बोधन करते हुये बुलाया?" द्रौपदी ने उत्तर दिया, "मैं पुकारती थी, हे! कृष्ण, हे द्वारकावासी।" भगवान ने कहा, "ठीक है, मुझे तुम ने द्वारकावासी कह कर बुलाया था। अब सोचो द्वारका कहाँ है और हस्तिनापुर कहाँ है? मुझे कितनी दूर से आना पड़ा। यदि तुमने मुझे हृदय वासी कह कर पुकारा होता, उस रूप में मेरी याद की होती तो फिर विलम्ब का कोई कारण नहीं होता। जिस प्रकार तुमने मुझे पुकारा, उसी रूप में मुझे द्वारका से हस्तिनापुर पहुंचने में समय लगा क्योंकि इतनी दूरी तय करके आना पड़ता था, फिर भला समय पर कैसे पहुंच पाता।"

इस प्रकार भगवान के वचन सदा यह प्रदर्शित करते हैं कि वे हमारे कितने सन्निकट हैं । उपनिषद् भी परमात्मा की हमारे साथ अत्यन्त सन्निकटता बताते हैं । किन्तु कौन किसके निकट, किसकी किसके साथ सन्निकटता ? इसका अर्थ तो यह हुआ कि हम परमात्मा के निकट जावें । किन्तु हमारे परमात्मा के निकट जाने का क्या परिणाम ? मैं आपको एक छोटा सा उदाहरण देता हूं और उसके बाद उपनिषदों के बारे में बताऊँगा । इस मकान के भीतर एक वातानुकूलक लगा है, निश्चित ही वह हमें किसी सीमा तक प्रसन्नता प्रदान करेगा । वातानुकूलक तापक्रम को कम कर देता है और वातावरण शीतल बन जाता है जिससे आपको आराम मिलता है और प्रसन्नता होती है । इसी प्रकार सर्दियों में हम आग के निकट बैठना पसन्द करते हैं । अग्नि की गरमी ठंड को दूर करती है और उससे आपको उष्णता प्राप्त होती है तथा आराम मिलता है । तो इस प्रकार वातानुकूलक गर्मियों में आपको ठंडी हवा देकर आपके आस-पास के वातावरण की गर्मी को कम करता है और आपको आराम पहुंचाता है तथा सर्दियों में आग आपके आसपास के वातावरण की ठंड को कम करके आपको गर्मी पहुंचाती है जिससे आपको आराम और सुख मिलता है । इसी प्रकार जब हम भगवद् सान्निध्य प्राप्त करते हैं, परमात्मा के निकट पहुंचते हैं, वह हमारी समझ, भौतिक कामनाओं, सांसारिक इच्छाओं को जो हमें घेरे रहती हैं और हमारे समस्त कष्टों का कारण है, हमसे दूर कर देते हैं, वे हमसे दूर हो जाती है तथा हमें उनसे छुटकारा पाने के कारण बड़ा आराम और सुख मिलता है हमारे सारे कष्ट मिट जाते हैं, हमें आनन्द प्राप्त होता है । जीव तो पंच भूतों से घिरा हुआ और बंधा हुआ है, उनके बन्धन से मुक्त हो जाता है । परमात्मा के सान्निध्य में पहुंच कर इस स्थिति की प्राप्ति को 'कैवल्य' कह सकते हैं। जो ऐसा कैवल्य स्थापित करता है, जो आपको कैवल्य प्रदान करता है, जो आपको कैवल्य प्राप्ति का मार्ग बताता है वह मात्र इतना सा है कि आप पंचभूतों के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करें । यही उपनिषद् करते हैं ।

जब कोई नया व्यक्ति हमारे पास आता है और हमसे परिचय प्राप्त करना चाहता है, तो जो पहला प्रश्न हम सामान्य रूप में करते हैं वह होता है कि आप कौन हैं, कहाँ से आये हैं ? आपका मेरे पास किस कार्य से आना हुआ ? इसी प्रकार आप में से जो विद्यार्थी यहाँ पहली बार आये हैं और जिन्हें उपनिषदों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है, उन्हें उपनिषदों से पूछना चाहिए कि आप कौन हैं, कहाँ से आये हैं और हमारा क्या हित कर सकते हैं ? हम आपके लिए क्या कर सकते हैं ? यदि

हम यह प्रश्न करेंगे तो उपनिषद निश्चित ही आपको इसका उत्तर देंगे कि इस देश के चिन्तक और विचारक महर्षियों और मुनियों ने उन्हें दोहराया है और तथा वे परमात्मा द्वारा दिये गये ज्ञान-भंडार वेदों का सार है। वेदों में तीन भाग हैं— उपासना काण्ड, ज्ञान काण्ड और कर्म काण्ड। ये तीनों भाग उपनिषदों के हैं। उपनिषद् मनुष्य को बताते हैं कि मनुष्य को क्या करना चाहिए उसे क्या नहीं करना चाहिए, किन मार्गों पर चलने से मनुष्य का हित होगा, किन रास्तों पर चलने से उसका अहित होगा। जब हम उपनिषदों की गहराई में उतरने और उनमें जो कुछ दिया गया है उनके अन्तर्निहित अर्थों को समझेंगे तो हमें अपना जीवन एक सुखद स्वप्न सा दिखायी देगा। आप उस स्थिति में पहुंच जायेंगे जहां से लौट कर आप अपने इस जीवन के मोह में नहीं फँसना चाहेंगे, आप निर्लिप्त रहना चाहेंगे।

उपनिषद् वेदों से ही निकले हैं। उदाहरण के लिये जैसे ईशावाषय उपनिषद् की उत्पत्ति यजुर्वेद से है। यह ज्ञान काण्ड से सम्बन्धित है। इसमें १८ मंत्र हैं जिनमें से प्रथम दो मन्त्र मोक्ष विषयक है तथा अन्य १६ मंत्र हमें अन्य विभिन्न विषयों की शिक्षा देते हैं जिसके सम्बन्ध में बाद में विचार करेंगे। दूसरा उपनिषद् है 'केन' जिस की उत्पत्ति सामवेद से है। 'केन' उपनिषद् का दूसरा नाम है तलवकारोपनिषद्। इन उपनिषदों के नाम बोधक हैं तथा ये नाम बहुधा उपनिषद् के प्रथम मंत्र के प्रथम शब्द से ही प्रारम्भ होते हैं। उपनिषद् का लक्ष्य है मनुष्य को परमात्मा तक पहुंचाना। उपनिषद् मनुष्यों को विशेष नियमों आदि के बन्धन में बांधने के लिए नहीं है और नहीं कोई कष्ट देने वाले हैं। यदि प्रत्येक भारतवासी उनको समझने का प्रयत्न करे और उनके भीतर छिपे रहस्य को जाना जाये, परम सत्य का बोध हो जाये तो वह निश्चित रूप से अच्छे आनन्द को प्राप्त कर सकता है। आज प्रातः आपको भगवद् गीता के सम्बन्ध में बड़े सरल ढंग से समझाया गया था। किन्तु गीता का पाठ कर लेने मात्र से या नित्यप्रति उसे दोहराने मात्र से ही आपका कोई लाभ नहीं होगा। उनका लाभ और आनन्द तो आप तब ही प्राप्त कर सकते हैं जब गीता के उपदेशों के सार को ग्रहण कर उन्हें जीवन में व्यावहारिक रूप में अपनावें। भगवद् गीता के सार को ग्रहण करने के लिये हमें अपनी आंखों के सामने वह दृश्य लाना होगा जब श्री कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया था, उस समय क्या परिस्थिति थी और चारों ओर क्या वातावरण था तथा अन्य सारी बातों की सविस्तार कल्पना करनी होगी और उन पर विचार करना होगा। अर्जुन और श्रीकृष्ण उस समय किस वेश में थे, कैसा

रथ था, उसमें कैसे घोड़े जुते हुए थे। जब हमारे सामने सारी परिस्थितियां और वातावरण स्पष्ट हो जायेगा, पृष्ठभूमि समझ जायेंगे तभी हमें भगवद् गीता का सार समझ में आ सकेगा। हम उस दृश्य में देखते हैं कि एक रथ है, एक सारथी है जो उस रथ को चलाता है, एक उस रथ में बैठने वाला है, रथ को खींचने के लिये उसमें घोड़े जुते हुये हैं तथा सारथी उन घोड़ों की बागडोर संभाले हुए है। इन सब को मिला कर रथ का चित्र पूर्ण होता है। अब हम देखें कि वह रथ खड़ा कहां किया गया था। वह खड़ा था दो सेनाओं के बीच जो शस्त्रों और आयुधों आदि से पूर्ण सज्जित आपस में लड़ने के लिए तैयार खड़ी थीं। अब हमें सोचना होगा कि इस सारे दृश्य को, रथ, सारथी, सवार, घोड़े और उनकी बागडोर, रणभूमि और युद्ध के लिए तैयार सेनाओं से क्या आन्तरिक अर्थ अभिप्रेत है ? गीता को समझने के लिए हमें उस आन्तरिक अर्थ का बोध होना चाहिए कि यह तो जीवन का दृश्य है। गीता स्वयं ही इस सारे रहस्य को बहुत ही सरल ढंग से समझाती है। रथ शरीर है, जीव अर्जुन है आत्मा कृष्ण है। घोड़ों की बागडोर मन है, हमारी इन्द्रियां घोड़े हैं। इसका अर्थ यह है कि आत्मारूपी श्री कृष्ण शरीररूपी रथ का सारथी है और उसने इस शरीररूपी रथ को जिसमें मनरूपी बागडोर के साथ इन्द्रियोंरूपी घोड़े जुते हुए हैं इहलोक और परलोक अथवा सत् और असत् रूपी दो युद्ध सन्नद्ध सेनाओं के बीच खड़ा है और उसे इस भीषण विरोधी स्थिति का सामना करना है। हमें यह भूल जाना चाहिए कि महाभारत का युद्ध कुरुक्षेत्र में लड़ा गया था। वह एक ऐतिहासिक सत्य हो सकता है किन्तु हमें तो यह याद रखना चाहिए कि कौरव और पांडवों के बीच लड़ा गया महाभारत हमारे जीवन में सदा चलता रहता है क्योंकि असत् का प्रतिनिधित्व करते हैं कौरव और सत् का प्रतिनिधित्व करते हैं पांडव यह सत् और असत् के बीच का युद्ध हमारे हृदय में सदा चलता ही रहता है।

हमें हर शब्द और कथानक के भाव को, उसके अन्तर्निहित अर्थ को समझना चाहिए। इसी प्रकार भारतवासियों को केवल यह नहीं समझना चाहिए कि इस देश पर कभी भरत ने राज्य किया था इसलिए भारतवर्ष कहते हैं। किन्तु भारत का तो एक साधारण सा अर्थ है, जो परमात्मा में अनुरक्त हो। इसलिए भारतवर्ष के नागरिकों की परमात्मा में अनुरक्ति होनी चाहिये और उनसे प्रेम और आनन्द प्राप्त करना चाहिए। वेदों और उपनिषदों में जो भी ज्ञान-भंडार भरा है जो निर्देश और आदेश हैं उन पर केवल गर्व करने मात्र से, उनको केवल पढ़ लेने भर से ही हमारा कल्याण नहीं होगा। उनका व्यवहारिक रूप में पूर्ण सह-सम्बन्ध और समन्वय करते

हुये हमें उन्हें अपने जीवन में अपनाना होगा। भगवद् गीता के प्रथमश्लोक का प्रथम शब्द है 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' सामान्य अर्थों में हम कुरुक्षेत्र का अर्थ उस स्थान से लेते हैं जहां कौरवों की राजधानी थी। कुरु के वंशज होने के कारण वे कौरव कहलाते थे। हम उसे धर्म क्षेत्र भी कहते हैं, क्योंकि वहां धर्म की स्थापना के लिये युद्ध हुआ था। किन्तु यदि हम कुरु शब्द के अन्तर्निहित अर्थ को समझने का प्रयत्न करें तो वह उस अर्थ से भिन्न होगा जो अभी आप को बताया था। कुरु का यह अर्थ होता है भात, अन्न या भोजन। अन्न का अर्थ विष्णु भी होता है। अन्न से मानव शरीर का पोषण होता है और शरीर अन्न पर आश्रित रहता है इसमें एक और भी अर्थ निहित है और यदि हम विचार करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि शरीर में जीवन अन्न पर आश्रित रहता है और शरीर का उपयोग सत्य आचरण या धर्म की स्थापना और उसके परिपालन में होना चाहिए। किन्तु हम इन सब अर्थों को भूल कर अन्न का उपयोग उदर-पूर्ति और शरीर में पोषण के लिये ही करते हैं तथा इस शरीर में वास करने वाले को भूल जाते हैं; यह एक बहुत बड़ी भूल है अनर्थ है। हमें यह दुर्लभ मानव शरीर परमात्मा ने केवल इसलिए दिया है कि हम इसके द्वारा आतम-साक्षात्कार कर सकें, परम सत्य को पा सकें। किन्तु आज निन्नानवे प्रतिशत लोग जीवन के इस उद्देश्य को भुलाये बैठे हैं और उनका ध्येय केवल इस शरीर का पोषण और वासनाओं की पूर्ति ही रहता है। आत्मा या परमात्मा के सम्बन्ध में सोचने और उस ओर समय देने की फुर्सत नहीं। किन्तु मनुष्य ऐसा कहता है तो वह निरर्थक है उस वृक्ष के समान है जो फल नहीं देता, उस फल के समान है जिसमें रस नहीं, उस पशु के समान है जिसमें बुद्धि नहीं, उस गाय के समान है जो दूध नहीं देती और इसलिए ऐसे जीवन का वास्तव में क्या उपयोग ? मनुष्य के रूप में उसका जन्म लेना व्यर्थ है, यदि वह इस जन्म के उद्देश्य को ही नहीं समझता। जीवन में कर्म का क्या उद्देश्य या सार्थकता, यदि इसके फल स्वरूप आप यह नहीं जान सके कि आप क्या हैं जो जीव की ८४ लाख योनियों में समान रूप से व्याप्त है।

कभी-कभी मनुष्य के व्यवहार में छिपे कुछ दुर्गुण, उसके प्रयासों को कुछ ऐसा मोड़ दे देते हैं कि उनके विचित्र परिणाम सामने आते हैं। यदि आप भगवान को भुला दें और उसकी किसी भी रूप में कोई भी परवाह किये बिना कोई काम करें तो उससे आपको सुख प्राप्त नहीं होगा और न ही वह देश के लिये समृद्धि-प्रदायक होगा। इसी संदर्भ और पृष्ठ-भूमि में आज प्रातः आप लोगों से यह कहा गया था कि विज्ञान के अनुष्ठान और अनुसरण में कुछ ऐसे दोष एवं विकार प्रवेश कर गये हैं

कि उसके विचित्र परिणाम निकल रहे हैं। हमें अपने आपको इन गलत मार्गों पर चलने से रोकना होगा, सन्तुलित करना होगा। प्रकृति या भौतिक जगत का व्यवस्थित रूप में अध्ययन और ज्ञान की प्राप्ति के प्रयत्न जिसे हम विज्ञान कहते हैं, सर्वप्रथम ईश्वर में आस्था के साथ प्रारम्भ हुये थे। परमात्मा में विश्वास के साथ संसार के सम्बन्ध में ज्ञान-प्राप्ति के वे प्रयत्न निश्चित रूप में लाभकारी थे। उनके वे प्रयत्न सामाजिक संरचना में स्थायित्व प्राप्त कराने संसार को सुख-समृद्धि प्रदान कराने में बहुत सहायक सिद्ध हुये। तथापि कुछ समय से भ्रष्ट और दूषित मार्गों पर चलने वाले लोगों के निजी स्वार्थ इतने प्रबल और महत्वाकांक्षी हो गये हैं कि वे अपने स्वयं के हित-साधन करने, नाम और यश कमाने, केवल अपने देश का ही नाम और गौरव बढ़ाने की ही सोचते हैं तथा पूर्ण मानवता के हित की दृष्टि से नहीं सोचते चाहे अन्य लोगों को इसके कारण कितनी भी हानि क्यों न उठानी पड़े। इस प्रकार वे ज्ञान प्राप्ति के पावन उद्देश्य को भुला देते हैं। इस प्रकार की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएं, जिनसे अहंकार और लोभ बढ़ता है, परमात्मा की उपस्थिति और सत्ता को भी भुला देती है, वास्तविक पावन उद्देश्य जिसके लिए प्रयत्नों को प्रारम्भ किया जाता है बिल्कुल भुला दिये जाते हैं। वे पथ भ्रष्ट हो गये हैं। आज विज्ञान ने भी वह मार्ग त्याग दिया है जिनसे मानवता का हित हो सकता है तथा वैज्ञानिकों ने उन राहों पर चलना शुरू कर दिया है। जिनके परिणाम लोगों के लिये हानिप्रद हैं उनके लिए कष्ट, कठिनाईयां और पारस्परिक स्पर्धा और संघर्ष पैदा करने वाले हैं और इन सब बातों का परिणाम हुआ है कि वे ईश्वर की भी उपस्थिति भुला बैठे हैं। चाहे कोई किसी भी क्षेत्र में कार्य करता हो किन्तु व्यक्ति को यदि अभिमान हो जाता है तो उसे संकटग्रस्त होने में देर नहीं लगती और उसके लिये एक के बाद एक अनेकों कठिनाइयां पैदा होती जाती हैं। अहंकार मनुष्य को इसी प्रकार प्रभावित करता है जिस प्रकार प्रातःकालीन सूर्य की किरणें मनुष्य की छाया को। सूर्योदय समय छाया सबसे अधिक होती है जैसे जैसे सूर्य आकाश में ऊपर उठता जाता है छाया कम होती जाती है और मध्य दोपहर में जब सूर्य सिर पर होता है छाया सबसे कम होती है। इसी प्रकार अभिमानी का आकार भी समय बीतने पर कम होता जाता है। विनम्रता का प्रभाव हमारे विपरीत होता है जिस प्रकार कि दोपहर के बाद के सूर्य का प्रभाव छाया पर होता है। जैसे-जैसे सूर्य ढलता जाता है छाया लम्बी होती जाती है। इस प्रकार अहंकार मनुष्य को घटाने वाला है तथा विनम्रता उसको बढ़ाने वाली है। इसलिए विनम्रता मनुष्य के लिये लाभप्रद है। विनम्रता और आज्ञा पालन यद्यपि कि बहुत ही साधारण सी बातें लगती हैं जिनके कारण आपको कोई

अधिक सत्ता या शक्ति प्राप्त नहीं हो जाती है, किन्तु यह निश्चित है कि इनको अपनाने से आपको समय बीतने पर अवश्य लाभ प्राप्त होगा आपको अधिक प्रसन्नता और सुख की प्राप्ति होगी इसलिए छोटों को बड़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिये। आपको विनम्र भी होना चाहिए। मैं यह चाहता हूं कि आप सब इन तीनों गुणों—आज्ञा पालन, विश्वास और विनम्रता को निश्चित रूप में अपनाएं।

विद्यार्थी होने के नाते जब आप पवित्र ज्ञान की प्राप्ति के उद्देश्य को लेकर आते हैं और यदि ज्ञानार्जन की इस प्रक्रिया में आप उचित मार्ग त्याग दें, सतपथ से च्युत हो जायें तो यह अस्वीकार्य होगा। अनुभवी विद्वान लोग आपको यह बतायेंगे कि उपनिषदों में क्या है तथा उसे आप दिन प्रतिदिन सुनते और अध्यय करते जायेंगे, कुछ ही दिनों में आपको उनके सम्बन्ध में बोध हो जायेगा आप यह भी जान जायेंगे कि अध्यापक और विद्यार्थी, गुरु और शिष्य के बीच क्या और कैसा सम्बन्ध होना चाहिए। आप यह भी अनुभव करेंगे कि विद्यार्थी के रूप में आप में ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा होनी चाहिए, गुरु-चरणों में बैठकर अपने आपको समझना चाहिये कि आप को कुछ नहीं आता है तथा गुरु के पास ज्ञान का अथाह भंडार है। गुरु को भी यही सोचना चाहिए कि शिष्य का ज्ञान-पात्र खाली है और उसे अपने ज्ञान भंडार से ज्ञान देकर भरना है। गुरु शिष्य के बीच इस ज्ञान संचार का, आदान, प्रदान का, जो शिक्षा की एक प्रक्रिया है, गुरु के प्रति पूर्ण आदर सम्मान और पूर्ण विश्वास रखे हुये, पूर्ण सतर्कता और सावधानी के साथ उपयुक्त और स्वीकृति मार्ग पर चलते हुये पालन किया जाना चाहिए। प्राचीन काल में गुरु अपने शिष्यों को वेदों का अध्ययन करवाते थे और जब उनका विद्याध्ययन पूरा हो जाता था तो गुरु उनको आशीर्वाद देते थे। किन्तु गुरु शिष्य को उस समय यह आशीर्वाद नहीं देता था कि दीर्घ जीवी हो, धन सम्पत्ति के स्वामी बनो। उनका आशीर्वाद होता था निदेशों के साथ जैसे—'सत्यम् बद'—सदा सत्य बोलो। 'धर्मम् चर' सदा धर्म का आचरण करो। किन्तु आजकल के अध्यापक और आचार्यगण विद्यार्थियों की शिक्षा पूर्ति पर बुलाकर उपहार आदि भेजना न भूलने के लिये कहते हैं। आप विद्यार्थियों को इस पर आतम-परीक्षण और विचार करना चाहिये कि हमारे देश की उस प्राचीन शिक्षा का श्रेष्ठ स्थान और स्तर आज इतना नीचा और दयनीय स्थिति में क्यों हो गया है। उस समय शिक्षा का पावन पथ था आतम ज्ञान की प्राप्ति तथा उस सब कुछ का ज्ञान प्राप्त करना जो दैविक था, परमातम तत्व से सम्बन्धित था, जिससे कि विद्यार्थी का हृदय, मन और मस्तिष्क श्रेष्ठ और दिव्य मधुर भावों और

विचारों से ओत-प्रोत रहता था तथा वह जन्म मरण से मुक्ति के चरम लक्ष्य तक पहुंच सकता था। किन्तु आजकल जो शिक्षा दी जा रही है उसके कारण तो विद्यार्थी यह सोचने को बाध्य होता है परमात्मा है ही नहीं, उनके अपने माता, पिता और गुरुजनों तथा श्रेष्ठ व्यक्तियों के प्रति कोई सम्मान और आदर की भावना नहीं रहती इस प्रकार ईश्वर के भय से शून्य होकर, पशुओं के समान बनते जाते हैं और सच्चे अर्थ में मानवीय जीवन से, उनके उद्देश्यों, आचरण और व्यवहार से दूर हटते जाते हैं। आजकल हम केवल उसे ही स्वीकार करते हैं जिसे स्वयं अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख सकें। इस प्रकार की मान्यताओं के विकसित हो जाने से तथा किसी भी वस्तु को स्वीकार करने से पूर्व अपनी आँखों से देख लेने के हमारे दृढ़तापूर्ण व्यहार से, हमारे मार्ग में गहरे गड्ढे पड़ गये हैं और अवरोध पैदा हो गये हैं। केवल स्वयं देखकर, सुनकर, स्वाद चख कर, या अपनी इन्द्रियों द्वारा अनुभव करने के बाद ही किसी बात को स्वीकार करने की प्रवृत्ति बहुत ही विपत्तिकारक है। वास्तव में इस प्रकार आप बिना किसी संकोच के सत्य तक पहुंच सकने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। यह बात आपको उस समय बहुत ही भली प्रकार स्थापित कर, समझायी गयी थी जब चारवाक् का दार्शनिक सिद्धान्त आपके सामने स्पष्ट किया गया था तथा उस सिद्धान्त की व्याख्या की गयी थी। चारवाक् ने भी प्रत्यक्ष को प्रमाण माना है। किन्तु यह कोई उपयुक्त और उचित प्रमाण नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक समय ऐसी स्थिति आ सकती है जब कि हमारी पांचों ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियाँ इतनी प्रबल नहीं रहें जितनी आज हैं तथा बहुत ही क्षीण और अशक्त हो जायें। कोई ऐसी भी स्थिति आ सकती है जब इन्द्रियों में परिवर्तन हो जायें। इन दशाओं में जब कि इन्द्रियों में परिवर्तन हो सकता है, वे क्षीण और विकारग्रस्त हो सकती हैं तो उनके द्वारा प्राप्त अनुभव भला निश्चित रूप से वास्तविक सत्य कैसे कहा जा सकता है? एक छोटा सा उदाहरण है। किसी मलेरिया ज्वर से पीड़ित व्यक्ति के मुँह में मीठी चीज रखने पर भी वह उसे कड़वी कह कर थूक देता है और उसे समझाने पर कि वह वस्तु कड़वी नहीं मीठी है वह हठपूर्वक यही कहता है कि वह कड़वी है। बताइये प्रत्यक्ष प्रमाण का औचित्य कहाँ सिद्ध होता है। रोगी में जब तक मलेरिया का रोग विकार है वह यही कहेगा, जबकि वस्तु वास्तव में मीठी होगी। दोष वस्तु का नहीं रोग का है। उसके रोग-विकार को दूर करने पर ही वह सत्य को जान पायेगा, वह मीठी वस्तु फिर उसे कड़वी नहीं, मीठी ही लगेगी। एक और उदाहरण है। एक बहुत ही स्वस्थ विद्यार्थी है और उसकी नेत्र-दृष्टि भी बहुत अच्छी है, वह दूर तक की वस्तु को उसके विविध रंगों के सही विवरण के साथ आपको पहचान कर बता सकता है।

किन्तु इसके विपरीत पीलिया रोग संग्रस्त किसी विद्यार्थी से आप पूछेंगे तो वह यही कहेगा कि उसे चारों ओर पीला ही पीला दिखायी देता है। किसी सफेद वस्तु को भी वह पीला ही बतायेगा। यद्यपि कि वह विद्यार्थी स्वयं, अपनी आंखों से सीधे देख कर अपने प्रत्यक्ष अनुभव से वस्तु का रंग बताता है किन्तु वह सही नहीं होता। यहां भी प्रत्यक्ष प्रमाण सत्य सिद्ध नहीं होता है। किन्तु स्वास्थ्य या दृष्टि में जो उपरोक्त उदाहरणों में विकार बताये गये थे स्थायी नहीं रहते, रोग से छुटकारा मिलने पर स्वाद और दृष्टि के दोष दूर हो जाते हैं और व्यक्ति किसी वस्तु का सही स्वाद पा सकता है तथा सही रंग रूप देख सकता है। इसी प्रकार चारवाक् का सिद्धान्त कि ईश्वर नहीं है, उसी प्रकार दोषपूर्ण है जिस प्रकार रोग के कारण स्वाद या दृष्टि का दोषपूर्ण हो जाना, तथा उसी के समान अस्थायी भी है। There is, no God "ईश्वर है नहीं" कथन में भी पहले 'है' (is) आता है तथा उसके बाद 'नहीं' आता है सत्य को अधिक समय तक छिपाये नहीं रखा जा सकता है, चाहे जितना छिपाने की कोशिश करो वह अवश्य ही प्रकट होता है। वास्तव में मनुष्य के हृदय में जो दैविक शक्ति रहती है वह सदा सत्य की घोषणा के लिए अपना दबाव डालती रहती है इसलिए सत्य को दबाने के प्रयत्न सदा के लिए कभी सफल नहीं हो सकते, फिर वह कोई भी व्यक्ति क्यों न हो। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, सत्य पर पड़े आवरण क्षीण होते जाते हैं और सत्य की शक्ति सत्य को प्रकट कर देती है तथा उस व्यक्ति को उसे स्वीकार करना पड़ता है। अन्त में उस व्यक्ति को भी जो ईश्वर को नहीं मानता, नास्तिक से आस्तिक बनना पड़ता है और ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना पड़ता है। सत्य अपरिवर्तनीय है, शाश्वत है। वह एक है, केवल एक ही। यदि कहीं द्वैत है तो वह सत्य नहीं। यदि हम असत्य को सत्य कहते हैं तो सत्य तो सत्य ही रहेगा केवल हम शब्दों का ही खिलवाड़ कर सकते हैं, यह मात्र शब्द-जाल होता है जिसे इस उदाहरण से समझ सकते हैं। एक नास्तिक कहेगा कि ईश्वर नहीं है और यदि कोई कट्टर नास्तिक हुआ तो अपनी बात पर जोर देकर कह उठेगा, "God is no where" (ईश्वर कहीं नहीं है)। किन्तु दूसरा व्यक्ति जो ईश्वर में विश्वास करता है—आस्तिक है वह भी उसी के शब्दों को कहेगा किन्तु एक शब्द where के प्रथम अक्षर w को उसके पहले वाले अक्षर no के साथ लगाकर इस प्रकार "God is now here" (ईश्वर यहीं है)। एक अक्षर को तनिक सा बायीं ओर कर देने मात्र से नास्तिक का नकारात्मक कथन, 'God is no where,' आस्तिक का सकारात्मक उत्तर, 'God is now here' बन गया यद्यपि कि दोनों वाक्यों में शब्द चार हैं, और अक्षर भी एक के बाद एक उसी क्रम में वे ही बारह हैं। न कोई नया शब्द या अक्षर आया है और न ही कोई अक्षर कम हुआ है।

केवल अपनी दूषित मनोवृत्ति और स्वार्थों के कारण ही, जिनको चारों ओर के दूषित वातावरण और हमारे अज्ञान के कारण पोषण और विकास मिलता है हम सत्य से दूर हटते जाते हैं। हमारा भगवान से विश्वास हटता है और हम अपने पवित्र जीवन को कलुषित करते हैं। विज्ञान प्रमाण की स्थापना का दायित्व अपने ऊपर नहीं लेता है अथवा यह नहीं कहता कि जो कुछ देखा जाये वही सत्य है। विज्ञान यह नहीं कहता कि आप जो नहीं देख सकते हैं उस पर विश्वास नहीं करें। वैज्ञानिकों ने अपनी स्वार्थपूर्ण महत्वाकांक्षाओं तथा अपने हितों को साधने और लाभ प्राप्त करने के लिए अपने तरीकों में ईश्वर में अविश्वास को सम्मिलित कर लिया है। आपको इस प्रकार के नियमों को नहीं मानना चाहिए, यह नहीं कहना चाहिए कि जब तक किसी को प्रमाण स्वरूप प्रत्यक्ष नहीं देख लेते विश्वास नहीं करेंगे।

जिसे आप प्रत्यक्ष समझते हैं या जो कुछ उन सब पदार्थों में देखना चाहते हैं वह सब भ्रांति है, आपका यह सोचना धोखा है कि कुछ जो आप देख रहे हैं वह सत्य है या वास्तविकता है। एक छोटा सा उदाहरण है। पच्चीस वर्ष की आयु का एक पुत्र अपनी साठ वर्षीय माता के पास रहता है। वह पुत्र पच्चीस वर्षों तक अपनी मां के साथ रहा है और उसका प्रेम पाया है तथा मां के सान्निध्य का आनन्द प्राप्त करता रहा है किन्तु उस वृद्धा का अन्तिम समय आ जाता है और वह अपना भौतिक चोला त्याग देती है। मां के मृत शरीर के निकट बैठा विलाप करता है, 'मां। क्या तुम चली गयी" "मां क्या तुमने मुझे अकेला ही छोड़ दिया" मां अब मुझे कौन संरक्षण प्रदान करेगा, कौन मुझे मार्ग दिखायेगा।" यहां कुछ चीज ऐसी हैं जिसे हमें सावधानी के साथ देखना होगा। वह कहता है, "मां तुम मुझे छोड़कर चली गयी हो।" वह कौन है जो छोड़कर चला गया है ? वह पच्चीस वर्ष तक उस शरीर को 'मां' कहकर पुकारता रहा, 'मां' कहकर उससे बातें करता रहा। यदि वह शरीर मां है और यदि वह व्यक्ति कहता है, "मां तुम मुझे छोड़कर चली गयी हो" तो फिर इन दोनों बातों में आपस में विरोध या असंगति रहती है। शरीर तो अब भी पड़ा है। इसलिए जो चला गया है वही उसकी मां थी शरीर जो पड़ा हुआ है वह वास्तव में मां नहीं है। जब तक वास्तविक मां का उस अस्थायी और नश्वर शरीर में वास था तब तक वह शरीर को मां कहता रहा। किन्तु जिस क्षण उस शरीर में वास करने वाला जीवन निकल गया, उसकी मां चली गयी अब शरीर का जिसे वह मां कहता हैं, दाह संस्कार कर देगा। जब तक जीवन रहता है उस समय तक हम कुछ सीमा तक हमारे अपने माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री आदि सब के साथ शारीरिक नाते सम्बन्ध रहते हैं किन्तु जैसे ही जीवन नहीं रहता, उस शरीर के साथ सारे सम्बन्ध

समाप्त हो जाते हैं, उनका कोई मूल्य नहीं रहता। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि जो कुछ स्थायी है वह दैविक आत्मा है जो शरीर में रहती है न कि शरीर। इसलिए सच्चे अर्थों में माता, पिता, बन्धु, सखा आदि किसी भी रूप में कोई भी है तो वह केवल परमात्मा है। अन्य सब नाते-रिश्ते उसी प्रकार स्थायी है और अल्प-कालिक हैं जिस प्रकार वर्षा के बादल आये और गये। इसलिए आपका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए परमात्मा के चिन्तन और चिरस्थायी, अनादि और अनन्त सत्य को प्राप्त करना। अन्य और जितनी बातें सत्य दिखायी देती हैं, वे स्थायी सत्य नहीं हैं, केवल सत्य दिखायी भर देती हैं। वे शाश्वत सत्य नहीं है। आपको उन्हें त्याग देना चाहिए। अपने हृदय को प्रेम से परिपूर्ण रखो। इसके द्वारा आप परमात्मा के सनातन सत्य को प्राप्त कर सकते हैं। आपको अपने हृदयों को प्रेम से परिपूर्ण रखने के लिए दृढ़ संकल्प के साथ प्रयत्नशील होना चाहिए जिससे कि आप अपने लक्ष्य तक पहुंच सकें। आपको यहां एक महीने तक रहने का अवसर मिलेगा, जिस अवधि में आपको परम सत्य को समझने और जानने की क्षमता और योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए। मैं आशा करता हूं और आप सबको आशीर्वाद देता हूं कि आप लोग अपने-अपने स्थानों को जब लौटकर जायेंगे तब अपने घर, गांव, नगर के लोगों में भी परम सत्य को जानने के लिए दृढ़ संकल्प पैदा करेंगे और उन्हें भी सत्य के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करेंगे जिससे कि अधिक से अधिक संख्या में लोग भारतीय संस्कृति की पुनः स्थापना तथा उसके विकास एवं विस्तार के लिए सफल प्रयत्न करते हुए देश की मान्यताओं और विश्वासों को यश और गौरव प्रदान करवायेंगे।

———

५

सत्य का स्वभाव

प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में मनवांछित फलप्रदायक कल्पवृक्ष रहता है, किन्तु इसके चारों ओर इतनी अनावश्यक घास-पात उग जाती है कि वह ओझल हो जाता है और यदि उस घास-पात तथा अनावश्यक उपज को साफ कर दिया जाये तो वह कल्पवृक्ष प्रत्यक्ष हो जायेगा। भारतीय पुराणों, शास्त्रों तथा धर्म ग्रन्थों का उद्देश्य सत्य के अर्थ को समझाना है जिससे कि मनुष्य बाह्य जगत् को उपयुक्त दृष्टि से देख सके तथा अपने स्वयं के सत्य को समझ सके। भगवान सामान्यरूप से समझी जाने वाली बाहरी बीमारी को ठीक कर देने की ही क्षमता नहीं रखते बल्कि मनुष्य के आन्तरिक जीवन में घुस गयी बुराइयों को भी ठीक कर देने का भार अपने ऊपर ले लेते हैं। साधारणतया हम कई रोगों के इलाज के लिए अंग विशेष पर बाहर दवाइयां लगाते हैं। कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनमें उपचार के लिये हमें औषधियां खानी या पीनी होती हैं। कुछ बीमारियाँ ऐसी होती हैं जिनके लगाने की दवाइयां तथा खाने-पीने की दवाइयां भी साथ-साथ उपयोग में लानी पड़ती हैं। आज आप एक ऐसे अस्पताल में आये हैं जो भगवान से सम्बन्धित है। आपके सब रोगों के उपचार के लिये न केवल बाहर लगाने वाली औषधियों की बल्कि आन्तरिक उपयोग में आने वाली औषधियों की भी आवश्यकता है। यद्यपि हम बाह्य उपयोग वाली औषधियों के रूप में कुछ क्रियायें और साधनायें करते हैं किन्तु हमें इन क्रियाओं और साधनाओं के आंतरिक अर्थ को भी समझना होगा क्योंकि इस आन्तरिक अर्थ को समझना ही आन्तरिक रूप में ली जाने वाली औषधि की रचना का आधार बनता है।

गीता उपनिषदों का सार है और उसमें हमें बताया गया है कि जीवन की आंतरिक देख-भाल कैसे की जानी चाहिये, उसका आन्तरिक परिचालन तथा उसकी

आन्तरिक परिचर्या कैसे होनी चाहिए। गीता के छठे अध्याय के ३२वें श्लोक में इस आन्तरिक शुद्धि के लिये कहा गया है—'आत्मॉपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुखं स योगी परमो मतः'[1] दया, करुणा, प्रेम, त्याग आदि सद्‌गुणों से कोई व्यक्ति भक्त या ज्ञानी या संसार से वैराग्य प्राप्त सन्यासी या योगी कहला सकने का अधिकारी होता है। किन्तु जब तक मनुष्य इन गुणों को नहीं प्राप्त कर लेता है वह कोरा नाम मात्र को ही मनुष्य रहता है, इन अनुभवों से शून्य। यह दृष्टिकोण या प्रवृत्ति कि इन सद्‌गुणों को तो सीमित समय और क्षेत्रों में ही अपनाया जाना चाहिये, जैसा कि पूजा के समय या भजन के समय, मन्दिर आदि धार्मिक स्थानों पर, उचित नहीं है। पूजा या भजन से बाहर आने पर इन सद्‌गुणों को भुलाकर प्रेम के स्थान पर घृणा, करुणा और सहिष्णुता के स्थान पर मोह और क्रोध को अपनाना, इन दुर्गुणों के वशीभूत हो जाने की हेय प्रवृत्ति भक्तों में कभी नहीं होनी चाहिए। यह परम आवश्यक है कि आप कहीं भी हों, कैसा भी समय हो, ये सद्‌गुण आप में चिरस्थायी रूप से बने रहें आपका सहज स्वभाव बन जायें। तभी आप 'सततम् योगिन'—'सदा योगी' कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं। किन्तु आप प्रातः योगी रहते हैं, दोपहर में भोगी अर्थात् खाने-पीने और मौज उड़ाने वाले तथा रात्रि में रोगी—खाट में असक्त पड़े रहने वाले बीमार। जो एक दिन में तीन रूप धारण करे वह भला कैसे स्थायी मूल्य की वस्तु हो सकती है? इसलिए हमारे उपनिषद् सत्य की खोज में हमें शिक्षा देते हैं कि प्रतिदिन हर समय कैसे प्रसन्न और एक समान स्थिति में रह सकते हैं। हमारे पुराणों में कथा आती है समुद्र मंथन की देवताओं ने मन्थराचल पर्वत को मथनी बनाकर समुद्र का मंथन किया था और अमूल्य पदार्थ प्राप्त किये थे जिनमें मुख्य थे मनवाँछित फल देने वाले 'कल्पवृक्ष' 'कामधेनु' तथा अमरता प्रदान करने वाला 'अमृत' तथा कौस्तुभ मणि, आदि चौदह रत्न प्राप्त हुए थे[2]

---

१ हे अर्जुन जो योगी, अपनी सादृश्यता से सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है सुख अथवा दुख को भी सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ है।

२ समुद्र मन्थन के समय प्राप्त चौदह रत्नों के नाम निम्नलिखित मङ्गालष्ट में बताये गये हैं—

लक्ष्मीः कौस्तुभ पारिजातकसुरा धनवन्तरिश्चन्द्रमा
गावः कामदुधामुरेश्वर गजो रम्भादिदेवांगना अश्वः
सप्तमुखोविषं हरिधेनुः शङ्खोऽमृत चम्वुधे रत्नानहि
चतुर्दश प्रतिदिन कुर्यः सदा मङ्गलम्।

इसी प्रकार आधुनिक युग में हम अपने जीवन सागर का मन्थन कर रहे हैं। इस जीवन सागर के मन्थन तथा पृथ्वी के आन्तरिक स्रोतों का मन्थन करके हम अनेकों गुण और अनेकों पदार्थ पाते हैं जिनकी हमें आवश्यकता होती है जैसे कि अन्न, रत्न आदि पदार्थ। यदि हम समुद्र मन्थन की भारतीय पौराणिक कथा के अन्तर्निहित अर्थ को समझने का प्रयत्न करें तो पाएंगे कि मन्थर पर्वत की सहायता से एक ओर देवता अर्थात सद्गुणों के प्रतिनिधि तथा दूसरी ओर असुर अर्थात दुर्गुणों के प्रतिनिधि खड़े होकर समुद्र मन्थन करते हैं और उससे अनेकों रत्न प्राप्त होते हैं जिनमें श्रेष्ठ अमूल्य पदार्थ भी होते हैं तो कुछ बुरे भी। यह इस कथा का अर्थ है आप प्रश्न करेंगे कि कथा का आन्तरिक अर्थ क्या है ? आपको यह जानना और समझना चाहिए कि हमारी सांस्कृतिक परम्परा में कोई भी ऐसी पौराणिक कथा नहीं है जिसके बाह्य और आन्तरिक अर्थ न हो। उनका कहना है कि विवेक वह स्रोत है जिससे ये बाते आती हैं। शरीर पात्र है। इसमें बुद्धि रूपी पर्वत मन्थन के लिए रखा गया है। इस मन्थन के फलस्वरूप प्राप्त पदार्थ वेदान्त हैं। इस मन्थन में बायां पार्श्व 'इड़ा' और दायां पार्श्व 'पिंगला' माना गया है। इड़ा और पिंगला दो नाड़ियां हैं जिन्हें मन्थन के लिए रस्सी के रूप में उपयोग किया जाता है। भगवान के नाम का सतत् स्मरण साधना या अभ्यास का चलते रहना ही सतत् मन्थन है। इस मन्थन के फलस्वरूप ही दैविक नवनीत की प्राप्ति होती है। इसलिए यदि हम अपने सद्गुणों को एक ओर रखें और दुर्गुणों को दूसरी ओर, हमारे विचार इड़ा और पिंगला के माध्यम से मन्थन का कार्य करें, हम अपने शरीर को इस पात्र के रूप में समझें जिसमें दूध रखा जाता है तथा फिर हम साधना करें तो यह निश्चित है कि देवत्वरूपी मक्खन को प्राप्त कर लेंगे।

आज के युग के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उसे आपको फुटवाल के खेल का उदाहरण देकर समझाता हूं। इस खेल में दो दल होते हैं जिसमें दोनों दलों में निर्धारित संख्या में बराबर खिलाड़ी होते हैं वे मैदान के बीच में गेंद रखकर अपना खेल प्रारम्भ करते हैं। इस फुटबाल की गेंद को दोनों दलों के खिलाड़ी अपने विरुद्ध दलवालों के गोल की ओर पैरों से ठोकर मारकर पहुंचाने के प्रयत्न करेंगे। खेल के मैदान की सीमायें निश्चित रहती हैं, निर्धारित दूरियों और स्थानों पर गोल के खम्भे गड़े होते हैं दोनों दलों के लिये मैदान का समान आधार पर विभाजन होता है तथा निर्धारित नियम होते हैं जिनके अनुसार खेल खेला जाता है। उस दल की विजय होती है जो खेल के निश्चित समय में प्रतिपक्ष के ऊपर अधिक संख्या में गोल कर देता है। गोल तभी माना जाता है जबकि गेंद

गोल के दोनों खंभों के बीच में होकर, नियमों के अधीन सारी शर्तें पूरी करते हुये निकल जाती है। यदि गेंद खंभों के बाहर या ऊपर होकर जाती है तो आउट माना जाता है। आज इस संसार में प्रत्येक स्त्री और पुरुष सतत् रूप में फुटबाल का खेल खेलता है। कितने समय के बाद, कब और कैसे वह निर्धारित गोल स्थल के खंभों के बीच से गेंद फेंकने में सफल होकर विजय प्राप्त कर सकेगा कुछ नहीं कहा जा सकता है। आप प्रश्न करेंगे कि जीवन में फुटबाल का यह खेल क्या है? हमारा हृदय फुटवाल का मैदान है। यह हृदय भौतिक हृदय नहीं है बल्कि आध्यात्मिक है। इसमें खेलने वाले एक दल में छः खिलाड़ी हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर जिनके दल का नाम 'अरिषड्वर्ग' कहलाता है। दूसरे दल में है सत्य, धर्म, शान्ति और प्रेम तथा साथ में दो और हैं अहिंसा और पूर्णता। इन दोनों प्रतिद्वन्दी दलों में जो गेंद है वह है जीवन। सत् और असत् रूपी दोनों दल जीवन रूपी गेंद को ठोकर लगाते और खेल में विजय प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु हम नहीं कह पाते हैं कि विजय किसकी होगी। अच्छे लोगों में जहां दैविक शक्ति है वहां बुरे लोगों में शारीरिक वा भौतिक शक्ति है। जब हमारे हृदय रूपी खेल के मैदान में सद् और असद् रूपी दो दलों के बीच जीवन रूपी फुटवाल की गेंद का खेल खेला जा रहा है तो उस खेल के मैदान की कौनसी सीमाएं हैं, गोल स्तम्भ क्या है जिनके बाहर गेंद नहीं आनी चाहिए? क्या नियम है? ये है 'धर्म विद्या' और 'ब्रह्म विद्या' अर्थात हमारे इस लोक में आचरण से सम्बन्धित शिक्षा तथा हमारे परलोक आचरण विषयक शिक्षा। ये दो सीमाएं हैं जिनके बीच में गेंद रहनी चाहिए। यदि इन दोनों निर्धारित सीमाओं के बाहर गेंद को हम फेकेंगे तो वह दोष होगा, विजय प्राप्ति में बाधक होगा। इस प्रकार हम जीवन के आन्तरिक अर्थ समझते हैं और विभिन्न परिस्थितियों में इस बाह्य संसार में घटित होने वाली विभिन्न बातों को समझते हैं तभी हमें जीवन की वास्तविकता किसी सीमा तक समझ में आती है।

किन्तु वेदों के अनुसार, वेदों द्वारा दी गयी शिक्षा, मनुष्य के अन्तर से ही प्राप्त होती है, वह कहीं बाहर से नहीं आती। हमारे इस विश्वास के संदर्भ में कि परमात्मा सर्वव्यापक है, वह आपके समक्ष है, आपके भीतर है, आपके बाहर है, आपको बाहर से क्या आता है इसको कोई विशेष महत्व देने की आवश्यकता नहीं है। आपको यह मानना पड़ेगा कि सब कुछ आपके अन्तर में ही मौजूद है। कुछ अज्ञान के कारण कुछ माया और भ्रम के कारण तथा कुछ पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप आप यह सोचते हैं कि कुछ ऐसा है अवश्य जो बाहर से आपके अन्तर में आता है और जो

अपनी पुण्यता और पवित्रता रखता है। किन्तु यह सही नहीं है। जब हम अज्ञान पर विजय पा लेते हैं, माया और भ्रम को दूर हटा देते हैं, जब हम अपनी इस धारणा को समाप्त कर देते हैं कि कुछ पवित्र और पावन बाहर से हमारे भीतर आता है तभी आपको अपने वास्तविक स्वरूप का पता लगेगा।

इसके लिये छोटा सा उदाहरण है। एक कुत्ते को कहीं से एक सूखी हड्डी का टुकड़ा मिला और वह उसे खाने के लिये मुंह में दबा कर एक स्थान पर गया। कुत्ते ने उस हड्डी को एकान्त में बैठकर खूब चबाया किन्तु उसे उसमें से कहीं कोई रस नहीं मिला। कुत्ता भूखा था इसलिये उसने उस सूखी हड्डी को और भी अधिक जोर लगाकर चबाना शुरू किया जिसके परिणामस्वरूप उस सूखी हड्डी के टुकड़े कुत्ते के मुंह में भीतर जगह-जगह चुभ गये और उसके मुंह में खून आने लगा, हड्डी के चबाने के साथ-साथ कुत्ता अपने स्वयं के ही खून का स्वाद लेकर प्रसन्न होने लगा कि अब उसे हड्डी से कुछ रस प्राप्त हो रहा है यद्यपि कि पी रहा था वह अपना ही रक्त। यह केवल उसका भ्रम था, वास्तविकता का उसे ज्ञान नहीं था, वह अपना ही रक्त पीकर उसे हड्डी से प्राप्त समझ रहा था। जब आप इस कहानी पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि हमारी भी स्थिति बहुत कुछ इसी प्रकार उस कुत्ते के समान है। यदि हम माया या भ्रम को दूर हटा सकने में सफल हो जायें तो हमें दूसरे छोर से दृष्टि प्राप्त होगी और हम स्वयं भगवान बन जायेंगे। इसलिये जो अपने सत्य स्वरूप को पहचानता है वह भगवान है जो अपने सत्यस्वरूप की अनुभूति नहीं करता, आत्म साक्षात्कार नहीं करता, जो केवल इस मायाभ्रम में रहता है कि उसके सत्यस्वरूप के अतिरिक्त भी अन्य कुछ और है और उसे बाह्य जगत से कुछ पावन पवित्र प्राप्त करना है, वह अनेकों जाल जंजालों में पड़कर कठिनाईयों में फंस जायगा। हमें इसी निर्णय पर पहुंचना पड़ता है कि माया हमारी सम्पत्ति नहीं है, माया तो भगवान की है। माया कुछ ऐसी नहीं है कि आप उससे अपने स्वयं के प्रयत्नों से टाल सकें या बच निकलें। माया से बच निकलना तो केवल भगवान की कृपा से ही सम्भव हो सकता है। माया मनुष्य के पूर्व जन्म संस्कारों के अनुसार ही अपना स्वरूप प्रकट करती है। आपके भ्रम के कारण यह आपके सामने बहुत ही भय और आतंक पैदा कर सकती है। एक छोटा सा उदाहरण है। इस भाषण के पश्चात् आप लोग उस शैड में जायेंगे जहाँ आप सब लोग ठहरे हुये हैं। मार्ग में एक टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी पड़ी हुई है। जैसे ही कोई उसे देखता है, सर्प समझ कर भयभीत हो जाता है रस्सी के आकार-प्रकार को देखने मात्र से सर्प का विचार आता है और भय का संचार हो जाता है और वह उस स्थान से पलट

कर भाग खड़ा होता है। शरीर उस स्थान से यथा सम्भव दूरी पर ही नहीं चला जाता बल्कि सारे अंग कांपने लगते हैं। साथ ही आप में एक जिज्ञासा भी पैदा होगी उसे देखने की। आप एक टार्च लाएंगे और सावधानी के साथ देखेंगे। बार-बार उस पर टार्च का प्रकाश डालने पर कंकर-पत्थर फैंकने पर भी जब उसमें कोई गति नहीं होगी तो आपका भय कम होता जायेगा, आप निकट जाकर देखेंगे तो पायेंगे कि वह तो एक रस्सी का टुकड़ा है। सर्प कहीं गया नहीं, रस्सी कहीं से आई नहीं। रस्सी जो वहीं थी उसे भ्रमवश सर्प समझ लिया गया। जब आपने प्रकाश की सहायता से सावधानी के साथ देखा तो पाया कि वह सर्प नहीं रस्सी है ये सारे परिवर्तन भ्रम के कारण उत्पन्न भय के परिणाम हैं। इसलिए यह तो मन की प्रवृत्ति है जिसके कारण ऐसे भ्रम उत्पन्न होते हैं। इसे ही माया कहते हैं। आप प्रश्न कर सकते हैं कि यह माया कब तक इस प्रकार कष्ट देती रहेगी। यह तब तक ही होता है जब तक आप दैविक स्वरूप को नहीं समझते हैं। इसलिये सर्वप्रथम यदि हम दैविक स्वरूप को समझ जाएं, भगवान को जान जायें तो फिर हमें ये सब कष्ट, या भ्रम संदेह नहीं होंगे।

आप यह संदेह करते होंगे कि क्या उपनिषदों, गीता या वेदान्त के अध्ययन से इन प्रश्नों का उत्तर हमें प्राप्त हो सकता है। इन सबके अध्ययन से आपको इनकी विषय-वस्तु से परिचय हो जायेगा कि उनमें क्या दिया गया है, वह सब जो कुछ दिया गया है उसका क्या अर्थ है? किन्तु उनके पढ़ लेने मात्र से माया या अज्ञान आप से स्वतः ही दूर नहीं हो जायेगा तथा न ही आप भगवान के निकट पहुंच जायेंगे। ये ग्रंथ, शास्त्र और पुस्तकें तो केवल मार्ग दर्शक संकेत चिह्न हैं। जिस प्रकार कि सड़कों तथा मार्गों पर खम्भे गड़े होते हैं और उन पर लिखा होता है अमुक-अमुक नगर किस ओर कितनी दूरी परहै, जहां आप हैं वह कौनसा स्थान है। उन संकेत चिह्नों की सहायता से जिस स्थान पर आपको पहुंचना है, आपको स्वयं ही चलकर पहुंचना पड़ेगा। मंजिल आपको स्वयं को ही तय करनी होगी। यदि आप उन ग्रंथों का केवल पाठ करते रहें और काफी समय बाद भी आप अपने आपको वहीं पायें तो इसमें उस ग्रंथ का क्या दोष? आप को तो इसके निर्देशों के अनुसार बताये गये मार्ग पर चलते चले जाना चाहिए तब कहीं आप कुछ आगे बढ़ सकेंगे और इसमें भी कोई संदेह नहीं कि उनमें दिये गये आदेशों और निर्देशों का सही ढंग से पालन करते हुये आगे बढ़ते जायेंगे तो अपने ध्येय तक निश्चित रूप से पहुंच जायेंगे। 'प्रकाश होने से अंधकार स्वतः ही भाग जाता है' क्या यह समाचार प्रकाशित करा देने मात्र से वह अंधकार भागेगा? क्या गरीबी केवल

धन का ख्याल करने से जायेगी ? क्या स्वादिष्ट पदार्थों का नाम लेने मात्र से भूख मिटेगी ? क्या रोगी औषधि का नाम लेने से या सुनने से ठीक हो सकेगा ? किसी बैंक में धन होने की खबर से गरीबी नहीं मिटेगी, भंडार में अन्न और मिष्ठान भरे होने की खबर से भूख नहीं मिटेगी। इसी प्रकार जो कुछ ग्रंथों और शास्त्रों में लिखा है उसको पढ़ लेने मात्र से कोई लाभ नहीं होगा जब तक कि हमें उसे व्यवहारिक रूप में जीवन में नहीं अपनाते हैं। ऐसा करने पर ही, साधना करने पर ही आप भगवान के अर्थ को, उसके देवत्व को समझ सकते हैं।

आप लोगों को जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओं को समझने के लिए कहा जाता है। जागृत अवस्था में हम अपनी पांचों ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग कर सकने की स्थिति में होते हैं, हम कुछ परिणाम प्राप्त कर सकते हैं, उनका व्यवहार कर सकते हैं तथा उनसे कुछ आनन्द भी पा सकते हैं। हम यह भी जानते हैं कि स्वप्न की अवस्था में केवल मन ही क्रियाशील रहता है तथा कोई भी इन्द्रियां कार्य नहीं करती हैं बल्कि हमारे चारों ओर के वातावरण, समय, स्थान और हमारे आसपास रहने वाले व्यक्तियों के अनुसार हमारी इन्द्रियां जो कुछ बता सकती हैं उससे भी कहीं अधिक हम जान जाते हैं। एक छोटा सा उदाहरण लें। आपके मन में यहां से मद्रास जाने का विचार आता है। क्या विचार के उठते ही आप मद्रास के लिए चल देते हैं ? नहीं। आपको समय निश्चित करना पड़ेगा। इसके बाद आप व्हाइट-फील्ड स्टेशन जाएंगे, टिकिट खरीदकर बंगलौर सिटी स्टेशन पहुंचेंगे। वहां से मद्रास के लिए टिकिट खरीदेंगे, रात भर गाड़ी में सफर करेंगे और फिर प्रातः मद्रास पहुंचेंगे। मद्रास पहुंचने की इस प्रक्रिया में चार बातें—विचार, समय, कारण और कर्म आते हैं जो चारों मिलकर एक इकाई बनात हैं। स्वप्नावस्था में न केवल इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं बल्कि ये चारों बातें—विचार, समय, कारण और कार्य कुछ भी नहीं रहते हैं। अब आप दूसरी अवस्था लीजिए। आप रात्रि में वृन्दावन में सो रहे हैं। आप स्वप्न देखते हैं कि आप दिल्ली गये हैं और वहीं एक सिनेमा देख रहे हैं तथा दिल्ली के अनेकों लोग भी आपको मिले हैं। अब प्रश्न उठता है कि आप दिल्ली कब गये ? रेलगाड़ी से गये या हवाई जहाज से गये ? समय कहां था ? इस कार्य का कर्त्ता कहाँ है और कार्य कहां है ? स्वप्नावस्था में इनमें से कोई उपस्थित नहीं है। यदि दूसरे दिन प्रातः आप उनसे पूछें जो आपको स्वप्न में दिल्ली में मिले थे और उनसे दिल्ली में मिलने और सिनेमा देखने के सम्बन्ध में पूछें तो वे कहेंगे कि क्या बात करते हैं ? आज न हम दिल्ली गये न सिनेमा देखा। किन्तु जागृत अवस्था में यह स्थिति नहीं होती तथा अन्य सब बातें—समय, विचार स्थान,

कारण, कार्य और कर्त्ता सब उपस्थित रहते हैं जो स्वप्नावस्था में नहीं रहते हैं। इस विवरण में हम सोचते हैं कि जो कुछ जागृत अवस्था में होता है वह सत्य है। साथ ही सामान्य साँसारिक व्यवहार में, बातचीत में हम यह सोचते और कहते हैं कि जो कुछ स्वप्न में देखा, सुना या किया जाता है वह सब भ्रम होता है, मिथ्या होता है। किन्तु वेदान्तिक भाषा में न तो वह सत्य है जो आप जागृत अवस्था में देखते हैं और न ही वह सत्य है जो आप स्वप्नावस्था में देखते हैं।

यह एक ऐसा विषय है जिस पर आपको सावधानी के साथ बहुत ध्यान देने और खोज करने की आवश्यकता है जिससे कि आप इसको सही रूप में समझ सकें। यहीं आपको सत्य के स्वरूप की झलक मिलेगी। जब तक आपके मन में यह भावना है कि आप जागृत अवस्था में हैं और जब तक आप यह जानते हैं कि आपकी पांचो ज्ञानेन्द्रियां क्रियाशील हैं; आपको यह विश्वास हो जाता है कि आप जो कुछ देख रहे हैं वह सत्य है। इस समय आप सब यहां बैठे हैं; आप सब मेरी ओर देख रहे हैं और मैं जो कुछ कह रहा हूं उसे सुन रहे हैं। इसका अर्थ हुआ कि आपके नेत्र कार्य कर रहे हैं और आप देख रहे हैं, आपके श्रोत (कान) कार्य कर रहे हैं और आप सुन रहे हैं, यही नहीं, आपका मन भी क्रियाशील है और जो कुछ नेत्रों और श्रोतों के द्वारा देखा और सुना जा रहा है उसे वह ग्रहण कर रहा है तथा हृदय भी उसका आनन्द ले रहा है। आप तर्क दे सकते हैं कि आपका यह प्रयत्न अनुभव कोई असत्य या मिथ्या नहीं है, क्योंकि आप अपने कानों से सुन रहे हैं और आंखों से देख रहे हैं तथा मन से विचार रहे हैं। आप और भी कह सकते हैं कि आपने इस आनन्द का हृदय से अनुभव किया है इसलिए यह सत्य है। किन्तु यहां से आप अपने निवास पर लौटकर जाते हैं, भोजन करते हैं और उसके कुछ समय बाद सो जाते हैं। नींद में आपको एक स्वप्न आता है। फिर बताइये कि जागृत अवस्था का वह सत्य अनुभव वह जागृति कहाँ चले जाते हैं। उसे स्वप्नावस्था के अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं होता। किन्तु उस स्वप्न में भी आप अपने गांव घर, मित्रों और ग्रामवासियों को देखकर व मिलकर वैसा ही अनुभव करते है जैसा आप जागृत अवस्था में मिलकर अनुभव करते। जब आप सुबह सोकर उठते हैं तो न आपको आपका गांव याद रहता है न घर, न ग्रामवासी और न ही मित्र-सम्बन्धी आदि। आप कहते हैं वह सब स्वप्न था तथा उसे कोई महत्व नहीं देते। स्वप्न की अवस्था में आपने जो कुछ देखा वह उस स्वप्नावस्था में सत्व था, जागृत अवस्था में आप जो कुछ देखते हैं वह जागृत अवस्था के लिए सत्य होता है इन दोनों में से कौन सा वास्तविक सत्य है? क्या वह बास्तव में सत्य है जो आंपने अपनी जागृत अवस्था में देखा-सुना था?

किन्तु जो कुछ जागृत अवस्था में आप देखते सुनते हैं उसका आपकी स्वप्नावस्था में कोई अस्तित्व नहीं रहता और इसी प्रकार आप जो कुछ स्वप्नावस्था में देखते, सुनते और अनुभव करते उसका जागृत अवस्था में कोई अस्तित्व नहीं रहता है। दिन का रात में गायब, और रात का दिन में गायब! जिसका अस्तित्व इतनी जल्दी समाप्त हो जाये वह सत्य कैसे? इसलिए दोनों ही असत्य हैं। किन्तु आप दोनों ही स्थितियों में वर्तमान रहते हैं, उपस्थित रहते हैं। इसलिए आप स्वयं सत्य हैं। आप जो कुछ दिन में देखते हैं वह दिन का स्वप्न है, जो रात में देखते हैं वह रात का स्वप्न है और दोनों ही सत्य नहीं हैं। आप स्वयं जो दोनों परिस्थितियों में द्रष्टा बनकर देखते सुनते रहते हैं सत्य है। जो परिवर्तित होता रहता है वह सत्य नहीं हो सकता। इसके समर्थन में एक और तर्क है। आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि हम जो कुछ जागृत अवस्था में देखते हैं उसे भी स्वप्न कैसे कहा जा सकता है? यह कैसे हो सकता है? यदि एक दिन या दो दिन की बात हो तो यह सही हो सकता है किन्तु जो बातें जो पदार्थ आदि हम अपने सारे जीवन-जागृत अवस्था में पचास, साठ या सत्तर वर्ष तक देखते रहते हैं उन्हें स्वप्न कैसे कह सकते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में मैं आपको बताता हूं कि आप स्वप्ना की अवस्था में कभी-कभी क्या अनुभव करते हैं। किसी को एक स्वप्न आता है, और वह उसमें देखता है कि उसका अभी हाल ही में जन्म हुआ है। उसी स्वप्न में वह देखता है वह शिशु से एक बालक बन गया फिर युवा बन गया है और वह व्हाइटफील्ड में हो रही कक्षाओं में पढ़ता है, वह सारा ग्रीष्म-कालीन पाठ्यक्रम पूर्ण करता है, वह लौटकर घर जाता है, शादी करता है, उसके एक लड़का होता है, वह लड़का बड़ा होता है, उसकी भी शादी हो जाती है और उसके उस पुत्र के भी पुत्र हो जाता है, वह दादा बन जाता है। वह यह सब एक रात्रि में कुछ क्षणों के लिए आये एक स्वप्न में देखता है। किन्तु जन्म से लेकर पौत्र प्राप्त करने तक की इस स्थिति को जागृत-अवस्था में कोई ४०-५० वर्ष लग जाते हैं। जन्म से लेकर पौत्र खिलाने तक के ५० वर्ष के समय का सारा अनुभव स्वप्न में एक ही रात में दो मिनटों के लिए आये स्वप्न में प्राप्त कर लिया। कहां ५० वर्ष का समय और कहां दो मिनट! यदि इसके सम्बन्ध में जिज्ञासा करें और पता लगायें तो पायेंगे कि दो मिनट के समय का सम्बन्ध उस पैमाने से है जो जागृत अवस्था के लिए लागू होता है तथा ५० वर्ष के समय का अनुभव का सम्बन्ध उस पैमाने से है जो स्वप्नावस्था के लिए लागू होता है। इसलिए जो जागृत अवस्था में दो मिनट के समय बराबर था वह स्वप्नावस्था में पचास वर्ष के अनुभव के बराबर हो गया। जागृत अवस्था के ५० वर्षों के अनुभव को स्वप्नावस्था के दो मिनट के अनुभव के बराबर मानने में हमें क्या बाधा है? इसलिए हमें यहां नहीं सोचना चाहिए कि जो

कुछ जागृत अवस्था में पचास वर्षों तक अनुभव करते रहे वह स्वप्न नहीं है। इसलिए भगवान के समय के माप दण्ड या पैमाने में या उन परिस्थितियों और वातावरण में जो ईश्वरीय हैं, वे मानक और मापदण्ड नहीं होते जो हम सामान्य रूप से अपने सांसारिक जीवन में काम में लाते हैं। सामान्य जीवन में देश और काल के विषयों में काम में लाये जाने वाले नुस्खों या विधियों को हम दैविक जगत में काम में नहीं ला सकते; वहां वे सब असंगत और बेकार हो जाते हैं।

आपको एक और संदेह हो सकता है। आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि जो हम जागृत अवस्था में भी करते हैं, देखते हैं यदि यह सब स्वप्न मात्र है तो फिर हम यह सब कुछ क्यों करें। मोक्ष प्राप्ति के लिए साधना, भजन, जप, तप आदि करने की क्या आवश्यकता है यदि सब कुछ स्वप्नवत है। किन्तु आप सोचें कुछ स्वप्न आपको सोते में जगा देते हैं और आपको ऐसा धक्का देते हैं कि आप तत्काल खड़े हो जाते हैं। उदाहरण के लिए आप स्वप्न देख रहे हैं और उसमें आपको एक शेर दिखायी देता है जो आपकी ओर लपकता चला आ रहा है तो आप इस भयानक स्वप्न के कारण अचानक सोते से जाग पड़ेंगे और चिल्लाते हुए खड़े हो जायेंगे। इस प्रकार जो कुछ स्वप्नावस्था में घटा उसने आपको जागृत अवस्था में लाकर खड़ा कर दिया। इसी प्रकार यदि इस जागृत अवस्था को भी स्वप्न स्वरूप मान लेते हैं तो इसमें भी जो कुछ आप करते हैं, जो कुछ घटित होता है, भगवान की कृपा से कोई दिन ऐसा आ सकता है जो आपको इस जागृत अवस्था से धक्का मार कर ज्ञान की अवस्था में पहुंचा दे। जिस प्रकार स्वप्नावस्था के लिए यह जागृत अवस्था है और यदि आप इस जागृत अवस्था को स्वप्नावस्था मान लें तो फिर इसके लिए ज्ञानावस्था जागृत अवस्था होगी। इसीलिए ऋषियों और महापुरुषों ने कहा है "उत्तिष्ठ जागृत निबोधत"—उठो जागो और आत्म बोध प्राप्त करो। उपनिषद् भी यही शिक्षा देते हैं। हमें अब अपने आप से प्रश्न करना चाहिये कि वह कौन सी निद्रा है जिससे जागने के लिए हमारे वेद, उपनिषद् और शास्त्र हमें ललकार रहे हैं वह निद्रा है कोई सामान्य निद्रा नहीं है वह है अज्ञान की निद्रा।

इसलिए जो कुछ हमारे उपनिषदों में निहित है, जो मार्ग हमें उपनिषद् बताते हैं उन्हें आपको भली प्रकार समझना है और उसे अपने जीवन में व्यवहारिक रूप में अपनाना है। माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार समस्त शब्द ओंकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ओ३म् शब्द है तो अपने आप में एक बहुत ही छोटा सा शब्द, किन्तु उसमें बहुत ही गहन और महत्वपूर्ण अर्थ छिपे हैं। माण्डूक्य उपनिषद् में केवल बारह

मंत्र हैं और यह सभी उपनिषदों में सबसे छोटा उपनिषद् है। इन बारह मंत्रों में ही सम्पूर्ण वेदों का निचोड़ है। यद्यपि इसमें यह नहीं बताया गया है कि आपको अपना कर्मकाण्ड कैसे करना चाहिए किन्तु उसमें ब्रह्म तत्त्व बहुत ही अच्छे ढंग से समझाया गया है और ब्रह्म विद्या समझने वाले उपनिषदों में यह प्रधान माना जाता है। यह उपनिषद् समस्त वेदान्तों का सार है आप लोगों को इसके विषयों के सम्बन्ध में समझाया जायेगा। यदि हम समस्त वेदों का अध्ययन नहीं कर सकते हैं तो केवल यह एक उपनिषद् ही मोक्ष का मार्ग बताने के लिए पर्याप्त है। इसलिए यदि कोई केवल एक ही उपनिषद् हमें अद्वैत का ज्ञान करा सकता है तो वह माण्डूक्योपनिषद् ही है।

६

काम और क्रोध ही इस संसार में समस्त विपदाओं की जड़ हैं

जीव संसार में रहता है। ईश्वर हृदय में वास करता है। दोनों के बीच सदा एक आन्तरिक खेल चलता रहता है। जब मनुष्य पैदा होता है तो रोता है, मनुष्य इस जन्म और मृत्यु के बीच में भी अनेकों बातों के लिए रोता रहता है। हमें यह जानना चाहिए कि क्या मनुष्य परम स्थिति के सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए भी रोता है ? क्या वह परमात्मा को जानने और उनका साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए भी रोता है ? जीवन में प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा रहती है कि वह सुख और शान्ति प्राप्त करे। किन्तु क्या हमने कभी सच्चे अर्थों में सुख और शान्ति के अभाव का वास्तविक कारण जानने का प्रयत्न किया है ? इस सुख और शान्ति के अभाव की उसी समय पूर्ति हो सकती है जब हम वह सब कुछ जान जायेंगे जिसको हमें जानना ही चाहिए, जब हम वह सब भूल जायेंगे जिसको हमें में भुला ही देना चाहिए, जब हम वहां पहुंच जायेंगे जिस गन्तव्य पर हमें पहुंच ही जाना चाहिए। इसमें तीन मुख्य बातें हैं जिनके द्वारा हम वह सब जान सकते हैं जिसे हमें जानना ही चाहिए। यह फिर पूछे जाने की आवश्यकता है कि वह क्या है जो हमें भुला देना चाहिए ? वह क्या हैं जो हमें जानना चाहिए ? वह क्या है जहा हमें पहुंचना चाहिए ? उत्तर है हमें जीव पक्ष को भुला देना चाहिए। हमें जानना चाहिए कि हम वास्तव में क्या हैं। हमें ईश्वरत्व तक पहुंचना है। इन तीनों को तीन शब्दों में कह सकते हैं जीव ईश्वर और प्रकृति। इन तीनों तत्वों को समझाने के लिये, उनका ज्ञान करवाने के लिए ही उपनिषद हैं। भौतिक का अर्थ शरीर से है, दैविक अर्थ आत्म तत्व से है, आध्यात्मिक अर्थ जीव तत्व से है। जो जीव से सम्बन्धित है वह बन्धन का कारण है। जो आत्मा से सम्बन्धित है वह उन सबकी मुक्ति के लिये है जो बन्धन में है। जहां जीव

तत्व अपने आपको छिपाता है, वहाँ आत्म तत्व प्रत्येक वस्तु को मुक्त करवाता है। आत्म तत्व ही हमारा आधार होना चाहिए। आप एक व्यक्ति नहीं हैं बल्कि तीन हैं, एक तो आप जो सोचते हैं कि आप हैं, एक जो दूसरे सोचते हैं कि आप हैं और तीसरे वह जो वास्तव में आप हैं। इन तीनों पक्षों को ध्यान में रखते हुये यदि हम अपने जीवन का मार्ग-दर्शन करें तो किसी सीमा तक हम अपने जीवन में आत्म तत्व को प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए अति पुरातन काल से इस देश के आदर्शवादी, मनीषी, चिन्तक, विचारक, ऋषि, मुनि, संत महात्मा शिक्षा देते चले आ रहे हैं। आज के इस कलियुग में जब इसके अधिपति 'कलि' की शक्ति बढ़ी हुई है वे लोग जो हमारे पथ प्रदर्शन करते थे, अच्छे मार्ग दिखाते थे, हमसे दूर से दूर होते चले जा रहे हैं। हम भी अपनी ओर से भौतिक जगत् में अनुरक्त हैं और आध्यात्मिक मार्ग से विमुख होते जा रहे हैं। लोगों को किसी मार्ग से या स्थान से भगा देना तो आसान होता है किन्तु उन्हें एकत्रित करना और किसी मार्ग पर चलाना, उनका नेतृत्व करना बड़ा कठिन होता है। आज सच्चे अर्थों में जो लोगों का आध्यात्मिक मार्ग पर पथ-प्रदर्शन कर सकें, उन्हें नेतृत्व प्रदान कर सकें बहुत कम होते चले जा रहे हैं। यह आपका बहुत ही अच्छा सौभाग्य है, आपके शुभ कर्मों का शुभ फल है कि आप लोगों को ऐसे सदाचारी और अनुभवी श्रेष्ठ पुरुषों को सुनने के दुर्लभ और श्रेष्ठ अवसर प्राप्त होते हैं। ये लोग अपने अनुभवों के आधार पर आपको अच्छे विचार देंगे जिन्हें यदि आप अपने हृदय में दृढ़ता के साथ धारण करते हैं, संजो कर सुरक्षित रखते हैं तो आपके जीवन में बहुत ही सुधार और परिवर्तन आयेंगे।

यह सब जानते हैं कि धन, दौलत, अन्न, वस्त्र, आभूषण, सोना, चांदी, हीरे, जवाहरात आदि को प्राप्त करने के लिए भाग-दौड़ करते रहना संसार का आम तरीका है, परम्परा है। किन्तु वास्तव में ये सारी वस्तुयें हमारा धन नहीं है, इनमें हमारा सुख नहीं है ये ऐसी वस्तुयें नहीं हैं जिन्हें हम अपनी सम्पत्ति के लिये महत्वपूर्ण और अनिवार्य समझें। हमारा उत्तम आचरण ही हमारा सच्चा धन है। दैविक ज्ञान ही वह सच्ची दौलत है जो हमारे पास होनी चाहिए। उत्तम आचरण और चरित्र ही हमारी वास्तविक सम्पत्ति है। जब हम यह अनुभव करने लगेंगे कि इन सद्‌गुणों को हमें अवश्य ही करना चाहिए क्योंकि वे ही सच्चे अर्थों में धन सम्पत्ति है न कि सांसारिक भौतिक पदार्थ या सुख साधन, तब ही हम, 'जन्तूनाम नर जन्म दुर्लभम्' याने प्राणियों में मनुष्य जन्म सबसे दुर्लभ है--इस कथन को सार्थक कर सकते हैं। मनुष्य शरीर पाना बहुत ही दुर्लभ समझा जाता है इसलिये अपने सम्पूर्ण जीवनकाल

में आपको उत्तम आचरण और उत्तम व्यवहार बनाये रखने के लिए अत्यन्त सावधानी और सतर्कता बरतनी चाहिए। आहार, निद्रा और भय तो मनुष्य और पशु में समान होते हैं इन लक्षणों से पशु और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं होता है। दोनों के बीच अन्तर का लक्षण है बुद्धि विवेक और यदि मनुष्य उसका उपयोग नहीं करता है तो वह पशु के समान है।(१)

आपने अद्वैत दर्शन के सम्बन्ध में सुना है वह दर्शन बहुत ही महत्वपूर्ण है शंकराचार्य ने कहा है कि "ब्रह्म सत्यम् जगद् मिथ्या" अर्थात् केवल एक ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है। यदि इस कथन को दो भागों में विभाजित कर केवल यह सिद्ध करेंगे कि संसार में जो कुछ देखते हैं वह असत्य है, तो आपका समय व्यर्थ जायेगा। दूसरी ओर हमें यह कथन भी लेना चाहिए जिसमें कहा गया है 'सर्वम् विष्णुमयम् जगत्'—अर्थात् सारा जगत् विष्णुमय है। किन्तु ये दोनों कथन तो आपस में विरोधी लगते हैं। एक ओर हम कहते हैं कि जगत् मिथ्या है और दूसरी ओर कहते हैं कि जगत् विष्णु का ही प्रकट रूप है, ईश्वर उससे शासित होने वाले ब्रह्मांड से भिन्न नहीं है। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि जब शंकर ने 'ब्रह्म सत्यम्' कहा तो जगत को असत्य नहीं कहा बल्कि एक विशेष शब्द 'मिथ्या' का उपयोग किया। इसलिए हमें इस मिथ्या शब्द के अर्थ को समझना चाहिए। मिथ्या का अर्थ कहा जा सकता है जो न तो सत्य हो और न ही असत्य

---

१ आहार-निद्रा-भय मैथुनं च, सामान्यमेतत्पशुभिनराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनः पशुभिः समाना॥

(चाणक्य नीति १७/१७)

(आहार, निद्रा, भय और स्त्रीसंग—ये लक्षण तो मनुष्य और पशु में समान होते हैं केवल धर्म ही मनुष्यों में एक विशेष लक्षण होता है। (इसलिए) धर्म रहित मनुष्य पशु के समान है।)

येषां न विद्या न तपो न दानम्, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूताः, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

(भर्तृहरि नीति शतकम् १३)

(जिन मनुष्यों में विद्या नहीं है, तप नहीं है, दान (त्याग भावना) नहीं है, ज्ञान नहीं है, शील नहीं है, गुण नहीं है वे इस लोक में भूमि पर भार बन कर मनुष्य रूप में पशु समान विचरते हैं।)

हो। यह सत्य और असत्य के बीच की स्थिति है, 'सदसत्' (सत् + असत्)। जो कुछ हम अपनी आंखों से चारों ओर देखते हैं तो उससे यह भासित होता है कि यह सब सत्य है। किन्तु जिसे हम सत्य समझते हैं वह ही अगले क्षण लुप्त हो जाता है और हम उसे नहीं देख पाते हैं। जब उसे नहीं देख पाते हैं तो सोचते हैं कि वह असत्य है। इसी प्रकार जिसे हम पहले नहीं देख रहे थे और असत्य समझ रहे थे, जब वह दिखायी देता है तो हम उसे सत्य समझने लगते हैं। इस प्रकार आप देखेंगे कि जो सत्य दिखाई देता है उसका लोप हो जाने पर वह असत्य हो जाता है। इसलिए इसका अर्थ हम न तो सत्य लेते हैं और न ही असत्य बल्कि इसके सत्य और असत्य दोनों ही अर्थ लेते हैं। इसके लिए उपयुक्त संस्कृत शब्द है 'सदसत्' जिसके अर्थ होते हैं विद्यमान और अविद्यमान्, अस्तित्व और अनस्तित्व, सत्य और मिथ्या। इन अभिव्यक्तियों में जो आंशिक रूप में असत्य है कुछ ऐसा भी है जो स्थायी स्वरूप का है और हमें उसे जानना चाहिए। आप में से बहुत से ऐसे हैं जो सिनेमा देखने जात रहते हैं। आप जब सिनेमा में जाते हैं तो सबसे पहली वस्तु दिखाई देती है वह होती है पर्दा, किन्तु केवल खाली पर्दे को अनिश्चित समय तक आनन्द के साथ नहीं देखते रह सकते। थोड़ी देर हुई कि हम इधर-उधर तथा प्रोजेक्टर की ओर देखने लगते हैं जहां से पर्दे पर चित्र प्रक्षेपित होते हैं। कुछ समय बाद पर्दे पर चित्र आते हैं और आप उन्हें देखने लगते हैं। पर्दे पर से चित्र हटते जाते हैं और उनके स्थान पर दूसरे चित्र आते जाते हैं। जो चित्र चले जाते हैं वे स्थायी रूप से सदा के लिए नहीं चले जाते, वे बार-बार पर्दे पर आते हैं। इसलिए इन चित्रों का पर्दे पर बार-बार आना और जाना एक प्रकार का प्रकटीकरण है। जब हम कहते हैं, 'जगत् मिथ्या' तो आपको जगत् का अर्थ केवल उसके निर्जीव या जड़ भाग को ही नहीं समझना चाहिए बल्कि उसके अर्थ में उसके साथ-साथ समस्त चेतन पदार्थों और प्राणियों के पूंजीभूत, एकीकृत रूप को भी लेना चाहिए। वे सब एक चक्र में चल रहे हैं और वह चक्र है जन्म और मरण का। किसी भी क्षण को ले संसार मे उस समय कितने जन्म लेते हैं और कितने मरते हैं। यह आने जाने का चक्र संसार में सतत् रूप से चलता रहता है और इसकी तुलना सिनेमा के पर्दे पर आने जाने वाले चित्रों से की जा सकती है। जगत् के इस मिथ्यावाद को हमें समझने की आवश्यकता है। किन्तु हमें यह भी जानना चाहिए कि वह क्या है जो इन आने और जाने वाले चित्रों को आलम्बन देता है। चित्र पर्दे पर आते हैं और पर्दे से ही चले जाते हैं। यदि पर्दा न हो तो आप चित्रों का आना जाना नहीं देख सकते हैं। किन्तु जब वास्तव में चित्र आते हैं तो पर्दा कहां चला जाता है? आप उस समय पर्दे को अलग से नहीं देखते। वह चित्र का ही अंग बन जाता है। इस प्रकार

आप देखते हैं कि स्थायी पर्दा भी आने और जाने वाले अल्पकालिक नश्वर चित्रों और दृश्यों के साथ मिल जाता है और एक हो जाता है। इसका अनुभव हो जाने पर आप यह भी समझ जाते हैं कि पर्दा सत् और असत् है, नाशवान है। पर्दा न कहीं से आता है न कहीं जाता है। यहां स्थायी पर्दे को आप समझें, सम्पूर्ण जगत् का स्थायी आधार या आलम्बन अर्थात् ब्रह्म। जब स्थायी अविनाशी ब्रह्म आने-जाने वाले अल्पकालिक नश्वर प्राणियों और पदार्थों के साथ मिल जाता है जैसे पर्दा चित्रों में तो आपको पर्दे की तरह ही ब्रह्म दिखाई नहीं देता और संसार का चित्र आपके सामने होता है सिनेमा के चित्रों की तरह। इसीलिए हम कहते हैं, "सर्वम् विष्णुमयम् जगत्"। यह प्रक्रिया जिसमें असत् चित्र और सत् या स्थायी पर्दा आपस में एकीकृत हो जाते हैं और आपको स्थायी या सत् होने का आभास देते हैं, उसे जगत् की 'विष्णु माया' कहा जाता है। यहां विष्णु का अर्थ व्यापक रूप में समझने की आवश्यकता है। इसका अर्थ केवल शंख, चक्र, गदा आदि धारण करने वाले व्यक्ति विशेष से नहीं है बल्कि सर्वव्यापक से है। शंकर ने यह जान लिया था कि सत् और असत् के मिश्रण—मिथ्या में सत्य है। जब शंकर ने कहा, "ब्रह्म सत्यम्, जगत् मिथ्या" तो उसने यह जान लिया था कि इस संसार में सत्य है और उस सत्य के उस तत्व को लोगों को बताना चाहिए और उसकी उन्हें शिक्षा दी जानी चाहिए। इसीलिए शंकर ने देश के चारों कोनों में चार पीठों की स्थापना की जिससे कि उनके माध्यम से लोगों को इस सत्य का ज्ञान करवाया जा सके। दैविक कृपा से ये चारों पीठ हमारे देश की सुरक्षा में किले की दीवारों के समान सुरक्षा सेवा प्रदान कर रहे हैं। किन्तु हमने इस किले के प्रति उपेक्षा बरती है और इसे कमजोर बना दिया है। दीवारें टूटने लगी हैं और इस कारण उनमें होकर तथा कथित पाश्चात्य सभ्यता हमारे देश में घुस आयी है। उसका प्रभाव ऐसा बढ़ता जा रहा है कि हम अपनी संस्कृति की उपेक्षा करते चले जा रहे हैं, अपनी प्राचीन परम्पराओं को भुलाते जा रहे हैं और पशुवत व्यवहार करने लगे हैं। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि हम अपनी प्राचीन संस्कृति के महत्व और गौरव को, उसकी पवित्रता को समझें, भारतीय संस्कृति ने जिस जीवन मार्ग की शिक्षा दी है उसको जानें और जीवन की बहुमुखी शिक्षाओं की एकता को पहचानें। हमें उन शिक्षाओं को जीवन में व्यावहारिक रूप में अपनाना चाहिए और दूसरों को भी उसकी शिक्षा देनी चाहिए। हमारी संस्कृति में परीक्षा करने और जानने की एक विधि सिखाई गयी है जिसमें कहते हैं, "आह! वह नहीं है जिसकी मैं खोज कर रहा हूं।" इस प्रकार इस संसार में जो कुछ अस्थायी और नश्वर हमारे सामने आता है उसे हम छोड़ते जाते हैं परम शाश्वत सत्य की खोज में आगे बढ़ते जाते है और अन्त में हमारा लक्ष्य

परमात्मा की प्राप्ति के लिए स्थिर हो जाता है जो कि एकमेव सत्य है। वेदान्त हमें इसी सत्य मार्ग की शिक्षा देता है। प्रारम्भिक अवस्था में जब हम वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करते हैं तो हम अपने आप से प्रश्न करते हैं, "क्या मैं शरीर हूं ? क्या मैं मन हूं ? क्या मैं अन्तःकरण हूं ?" इस प्रकार की जिज्ञासा करने और सत्य की खोज में आगे बढ़ने से अच्छा और कोई मार्ग नहीं है। यदि आप यह विश्वास करें कि आप शरीर हैं तो फिर यह कहने का क्या अर्थ 'मेरा शरीर'? फिर यह 'मेरा' कहने वाला कौन है और शरीर कौन है ? इसी प्रकार यदि आप कहते हैं 'मेरा मन' तो 'मेरा' तथा 'मन' दोनों अलग-अलग हैं। इसी प्रकार हम 'ये मेरे हैं' कहकर हम इन सबका अनुभव करते हैं और आनन्द लेते हैं। हम अलग से 'मैं' नहीं कहते, इस 'मैं' के सम्बन्ध में जब आप उपयुक्त रूप से जिज्ञासा करते हैं और पता लगाते हैं तो अनुभव करते हैं कि 'मैं' न तो शरीर है और न ही वह मन है तभी आप अपने आपको दृढ़ता के साथ अद्वैत दर्शन में स्थापित कर लेते हैं। भारतीय संस्कृति और वेदान्त की शिक्षा में आपको 'मैं' की खोज के लिए प्रश्न करना पड़ता है कि 'क्या मैं यह हूं' और तत्सम्बन्धी जिज्ञासा पूर्ण हो जाने पर कहना पड़ता है, 'मैं यह नहीं हूं' और 'मैं यह नहीं हूं' का क्रम तब तक चलता रहता है जब तक आप यह नहीं जान जाते 'मैं' क्या है।

जब राम लक्ष्मण और सीता के साथ बनवास में थे तो विभिन्न ऋषियों से मिलते रहते थे। किसी ऋषि के आश्रम में राम की उपस्थिति सुन ऋषिगण एकत्रित हो जाते थे तथा राम के सामने एक ओर ऋषिगण तथा दूसरी ओर महिलायें बैठ जाती थीं और आपस में वार्तालाप होते। जहां महिलायें होतीं वहां सीता भी इन विचार विमर्शों में भाग लेती थी। बनवास में राम और लक्ष्मण ने जो वेष धारण कर रखा था वह बनवास के लिए उपयुक्त था और उसमें वे भी ऋषियों के समान ही लगते थे। किन्तु फिर भी उन दोनों में दैविक तेज स्पष्ट भासित होता था। एक बार सीता के पास कुछ स्त्रियां गईं और प्रश्न किया, "क्या आप अकेली आयी हैं अथवा अपने पति के साथ ?" तो सीता ने उत्तर दिया कि अपने पति के साथ आयी हूं। उन स्त्रियों ने सीता से जानना चाहा कि दोनों में उनका कौन है। किन्तु सीता भारतीय परम्परा के अनुसार उस समय ऋषियों की उपस्थिति में न तो खड़ी ही हो सकती थीं और न ही यह कह सकती थीं कि यह मेरे पति हैं। सीता की इस दुविधा को एक स्त्री ने समझ लिया और एक व्यक्ति की ओर उंगली संकेत करके प्रश्न किया, "क्या यह आपके पति हैं ?" सीता ने संकेत से ही उसका उत्तर दिया 'नहीं'। दूसरी स्त्री ने दूसरे व्यक्ति की ओर संकेत करके पूछा जिसकी जटायें ऊपर की ओर करके बंधी हुईं थीं। सीता ने उसके लिए भी नकारात्मक रूप में सिर हिला दिया। इस

प्रकार स्त्रियां विभिन्न लोगों की ओर संकेत करके पूछती रहीं और सीता नकारात्मक उत्तर में गर्दन हिलाती रही तथा अन्त में जब एक स्त्री ने राम की ओर संकेत किया तो स्वीकारोक्ति में सीता ने न तो 'नहीं' के लिए और न ही 'हां' के लिए सिर हिलाया बल्कि चुप बैठी रही, केवल मुख पर एक लज्जापूर्ण मुस्कुराहट और प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी आंखों में चमक आ गयी तथा स्त्रियां भी प्रसन्न हो गईं, उन्होंने अपने प्रश्न का उत्तर पा लिया। हमारे वेदान्त की शिक्षा, सत्य के प्रति जिज्ञासा की पूर्ति कुछ इसी प्रकार है जैसी की कथानक में। सत्य को जानने के लिए हम किसी चीज को लेते हैं पूछते हैं कि "क्या यह वह है ?" और उत्तर पाते हैं, "यह वह नहीं है।" इस प्रकार जिज्ञासा और खोज आगे बढ़ती जाती है और हम कहते रहते हैं, "यह वह नहीं है।" अन्त में जब परम सत्य पर पहुंचते हैं—उंगली ब्रह्म पर रुकती है तो आप स्वतः ही परमानन्द प्राप्त कर लेते हैं, आपकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता, आसपास का वातावरण भी आनन्दित हो जाता है। हे निर्मल हृदय प्रिय विद्यार्थियो ! यह है हमारे वेदान्त का स्वरूप जिससे आज आपका परिचय कराया गया। मुझे प्रसन्नता है कि आप लोग संस्कृति के सम्बन्ध में अच्छी-अच्छी बातें जानने का प्रयत्न कर रहे हैं और हम आपको जो शिक्षायें दे रहे हैं उन्हें प्रसन्नता के साथ-ग्रहण कर रहे हैं। मुझे आशा और विश्वास है कि यह सब आपको भविष्य में सुरक्षा प्रदान करेगा।

आप लोगों को माया के सम्बन्ध में भी कुछ बातें बतायी गयीं। जिस प्रकार हमारी छाया सदा हमारे साथ ही रहती है, हम से अलग नहीं होती है, इसी प्रकार माया सदा ब्रह्म के साथ ही लगी रहती है, अलग नहीं होती। इसका एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण रामायण में है। राम जब वनवास में थे तो उन्हें सघन बनों में बहुत संकरी पगडंडियों पर होकर चलना पड़ता था जिस पर एक साथ दो लोग नहीं चल सकते थे। इसलिये सबसे आगे राम चलते थे, उनके पीछे सीता तथा सीता के पीछे लक्ष्मण। इसको समझने के लिये आप अपने हाथ की प्रथम तीन उंगलियां उठाइये। पहली उंगली राम का अर्थात् परमात्मा का प्रतिनिधित्व करती है, दूसरी उंगली सीता अर्थात् माया का प्रतिनिधित्व करती है और तीसरी उंगली लक्ष्मण अर्थात् जीव का प्रतिनिधित्व करती है। जीवन के घोर जंगल में एक संकरे मार्ग पर परमात्मा, माया और जीव चले जा रहे हैं। थोड़ी देर बाद लक्ष्मण अर्थात् जीव को राम अर्थात् परमात्मा के दर्शन करने की इच्छा होती है। अपनी इस इच्छा पूर्ति के लिये वह क्या करे ? राम के दर्शन के लिये लक्ष्मण अर्थात् जीव के लिये दो मार्ग हैं। या तो दोनों के बीच में चल रही सीता अर्थात् माया कुछ

समय के लिये एक ओर हट जाये और वह राम के दर्शन कर ले अथवा दूसरा तरीका यह हो सकता है कि लक्ष्मण उस मार्ग से थोड़ा एक ओर हटें और आगे बढ़ कर बगल से राम के दर्शन करें। सीता को हटाने के लिये यदि लक्ष्मण उन्हें धक्का देकर एक ओर हटाता है तो यह अनुचित व्यवहार होगा और इससे राम रुष्ट होंगे। इसलिये राम के दर्शन पाने के लिये लक्ष्मण सीता से प्रार्थना करते हैं कि "माँ कुछ ऐसी कृपा करो कि मुझे भगवान के तनिक दर्शन हो जायें।" सीता लक्ष्मण की यह विनम्रताभरी प्रार्थना सुन कर द्रवित हो जाती है, उस पर कृपा करती है मार्ग से थोड़ा सा एक ओर हट जाती है और लक्ष्मण को राम के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। इसलिये यदि आप माया से नाराज होते हैं, उससे घृणा करते हैं, अपनी शक्ति लगाकर उसको अपने मार्ग से दूर हटाने के लिये बल प्रयोग करते हैं जिससे कि आपको परमात्मा के दर्शन प्राप्त हो सकें तो आपको सफलता नहीं मिलेगी। उस दशा में माया कुपित हो उठेगी और आपके साथ छल-कपट करने लगेगी। इतना ही नहीं परमात्मा भी ऐसा नहीं होने देंगे। इसलिये अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये आपके पास एक ही उपाय है और वह यह है कि आप माया से, जो परमात्मा से कभी दूर न होने वाली छाया के समान, साथ लगी रहती है विनम्रता से प्रार्थना करें कि वह आपको परमात्मा के दर्शन का अवसर प्रदान करे तो वह माया आपके मार्ग से अलग हो जायेगी। आप सरलता के साथ दर्शन का सौभाग्य पा जायेंगे।

आपको कुछ व्याख्याताओं ने बताया है कि हमारे जन्म और मरण का यह चक्र जिसमें हम बारम्बार फंसते जाते हैं हमारे कर्मों के फलस्वरूप होता है या अज्ञान के कारण होता है। जन्म के बाद हम में अनेकों इच्छायें उत्पन्न होती हैं। इन इच्छाओं की उत्पत्ति और उनकी पूर्ति को 'काम' कहते हैं। जब आपकी ये सारी इच्छायें पूरी नहीं होतीं या जिस सीमा तक आप इनकी पूर्ति चाहते हैं उस सीमा तक पूर्ति नहीं होती तो आपको 'क्रोध' आता है। काम और क्रोध ही आपके संकटों के मूल हैं। इस सम्बन्ध में रामायण हमें बड़ी अच्छी शिक्षा देती है। जब हम रामायण पढ़ते हैं तो हमें यह प्रश्न करना चाहिए कि "राम को वन में भेजने के लिये कौन उत्तरदायी है।" इस प्रश्न का उत्तर देने में कोई कैकेयी को तो कोई महाराज दशरथ को इसके लिये दोषी ठहराते हैं जब कि कोई इसका सारा दोष मंथरा के सिर पर रखते हैं। रामायण की एक घटना और है कि एक बार राम जब छोटे बालक थे एक गेंद से खेल रहे थे। वह गेंद जाकर कैकेयी की कुबड़ी और कुरूप दासी मंथरा के जा लगी। उसी

समय से मंथरा के हृदय में राम के प्रति घृणा और ईर्ष्या पैदा हो गयी। इसके अतिरिक्त मंथरा कैकेय प्रदेश से रानी कैकेयी के साथ आयी थी इसलिये उसे अन्य रानियों के पुत्र वैसे भी प्रिय नहीं लगते थे और उसका स्नेह, प्यार और लगाव केवल रानी कैकेयी के पुत्रों से रहता था। अपने इस स्वभाव दोष के कारण जब राम की गेंद आकर उसकी कूबड़ में जोर से लगी और उसे पीड़ा हुई तो वह राजकुमार राम से कुछ कह तो नहीं सकी किन्तु कुछ भी न कर पाने के कारण और अपनी इच्छाओं को दबाने के कारण उसके हृदय में भीतर ही भीतर बड़ा क्रोध भड़का और राम के प्रति उग्र द्वेष पैदा हो गया। वह बदला लेने के अवसर की ताक में रहने लगी। यह एक सांसारिक दृष्टि से इसका स्पष्टीकरण है किन्तु वास्तव में मूल रूप में राम की स्वयं की इच्छा से ही यह सब कुछ घटित हो रहा था। जब राम के राज्याभिषेक का समय आया, मंथरा का आन्तरिक क्रोध, ईर्ष्या और द्वेष भड़क उठे और उसने वह षड्यंत्र रचा, ऐसी कुचाल चली, ऐसी परिस्थितियां बन गयीं कि उसकी इच्छा की पूर्ति हो गयी और राम को राज्याभिषेक के स्थान पर बनवास ग्रहण करना पड़ा।

जब राम लक्ष्मण और सीता के साथ अपना बनवास काल चित्रकूट पर्वत पर बिता रहे थे, एक दिन वहाँ सूर्पनखा आयी और वह राम को देखकर ऐसी मोहित हुई कि उसने राम के साथ अपने विवाह का प्रस्ताव रख दिया। लक्ष्मण ने उसकी इस कुत्सित भावना के लिये एक उपयुक्त दण्ड दे डाला। वह अपमानित होकर रावण के पास पहुंची और उसके समक्ष इस प्रकार अपना दुख रोया कि रावण उत्तेजित हो गया और राम से इसका बदला लेने के लिये सीता को ही चुरा लाने की योजना बना डाली। आप देखेंगे कि मन्थरा और सूर्पनखा का, जिन पर काफी उत्तरदायित्व है, रामायण में कहीं पूर्ण विस्तार के साथ कोई वर्णन नहीं है। केवल एक या दो स्थलों पर थोड़ा सा वर्णन आता है। ये दोनों चाहे पूर्ण कथा के परिप्रेक्ष में कितनी भी महत्वहीन लगें किन्तु सम्पूर्ण रामायण की कथा को गति और मोड़ देने वाली हैं। मन्थरा के कारण राम को राजतिलक होने के स्थान पर अयोध्या छोड़कर वन में जाना पड़ा तथा सूर्पनखा के कारण सीता को जो राम के साथ वन में रह रही थी, राम से विलग होकर लंका में रावण के यहां जाना पड़ा, जिसके फलस्वरूप राम रावण युद्ध हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि रामायण की सम्पूर्ण कथा के लिये मंथरा और सूर्पनखा उत्तरदायी हैं किन्तु हमें इसके आगे यह भी जानना होगा कि वे केवल मात्र स्त्रियां नहीं हैं, बल्कि वे दोनों ही काम और क्रोध का प्रतिनिधित्व करने वाली हैं। सूर्पनखा काम का प्रतीक है तो मंथरा क्रोध और

ईर्ष्या का । इस प्रकार ये दोनों काम और क्रोध हैं तथा सारे संकटों की जड़ हैं । हमारे जीवन में भी सम्पूर्ण विपदाओं के मूल में काम और क्रोध ही है किन्तु हम इन पर कैसे विजय प्राप्त करें । काम बड़ा प्रबल शत्रु है उस पर विजय पाना बड़ा कठिन होता है तथा जब तक जीते हैं कामनाओं के बन्धन में फँसे रहते हैं । किन्तु ऐसे निराश नहीं होना चाहिये कि इस पर विजय प्राप्त करने के प्रयत्न ही त्याग दें । आप बहुत सी वस्तुओं के लिये इच्छा कर सकते हैं । आप यह भी अनुभव कर सकते हैं कि आपने बहुत सी वस्तुओं के लिये इच्छा की है किन्तु उन सब इच्छाओं और अनुभवों को ईश्वर के नाम से प्रेरित समझे और उन्हीं पर छोड़ दे तो आप को इतना कष्ट नहीं होगा तथा आपको कुछ आनन्द की प्राप्ति होगी । किन्तु जब हम केवल प्रकृति के पुजारी बन जाते हैं, भगवान को बिलकुल भुला देते हैं और भौतिक सुख से रहते हैं तो हमें सच्चा सुख और शान्ति नहीं प्राप्त होती है । जहां आपको अपनी समस्त कामनाओं को त्याग देना चाहिए । उसका रामायण में एक बहुत ही अच्छा उदाहरण है । राम बन जाने को हैं, सीता उनके साथ जाना चाहती है । अन्त में वह सब कुछ त्याग देती है अपनी सुख-सुविधायें, शरीर का आराम तथा इस प्रकार जब समस्त 'काम' का त्याग हुआ तो उसे राम का साथ मिल गया । आगे चलकर बनवास काल में जब सीता के मन में स्वर्णमृग को प्राप्त करने की कामना हुई तो उस काम के कारण उसका राम से विछोह हो गया । तो जहां काम को त्यागा, राम को पाया किन्तु जैसे ही काम आया तो राम गया । काम और राम एक साथ नहीं रह सकते । रामायण एक ऐसा अनुपम ग्रंथ है कि उसमें जो कुछ भी लिखा है उसका आन्तरिक अर्थ होता है । इहलौकिक और पारलौकिक दोनों अर्थ स्पष्ट होते हैं । किन्तु कई लोग रामायण का अपने स्वार्थों के साधने में अर्थ लगाते हैं और कह देते हैं कि उसमें क्या रखा है ? वह तो किसी की औरत को किसी के द्वारा उठा ले जाने और उनकी आपस में लड़ाई होने का किस्सा भ . है, औरतों के कारण पैदा हुये झगड़े । उनका ऐसा सोचना उनकी निरी मूर्खता प्रकट करता है । जब हम यह अनुभव करेंगे कि रामायण एक ऐसा महान् अनुपम महाकाव्य है जिसमें वह मार्ग दिखाया गया है जिस पर चलकर मनुष्य सुख और शान्ति प्राप्त कर सकता है और अन्त में अपने जीवन के चरम लक्ष्य, आत्म साक्षात्कार तक, ईश्वर की प्राप्ति तक पहुंच सकता है, तो हमें इसका महत्व स्वतः ही समझ में आ जायेगा । हमारा कोई भी प्राचीन ग्रंथ हो चाहे वह रामायण हो या महाभारत, भागवत हो या पुराण उनमें बहुत ही महत्वपूर्ण और बहुमूल्य कथायें हैं और वे गहन अर्थों से भरी हुई हैं । केवल शब्द पढ़ लेने और अर्थ प्राप्त कर लेने से कुछ अर्थ नहीं निकलता, कुछ सफलता नहीं मिलती है जब

तक कि आप उसके आन्तरिक अर्थ को नहीं समझते हैं। आन्तरिक अर्थ को समझने के लिये आपको अनुभवी लोगों के सम्पर्क में आना चाहिए, जो कि आजकल आप लोगों को पढ़ाते हैं, तथा उनसे पूछना और जानना चाहिए। उनकी विद्वता ज्ञान और अनुभव का लाभ उठाना चाहिए। जो कुछ आप सीखें फिर उसे व्यावहारिक रूप में अपनायें। तब आप अपनी परम्पराओं के मूल्य को समझ सकेंगे। आप विद्यार्थियों को थकान और परेशानी नहीं होनी चाहिए। आपको यह अनुभव नहीं करना चाहिए कि आपको दिन भर बैठने के लिये विवश किया जाता है। आपको स्वत: प्रेरणा से, प्रफुल्लित मन और हृदय की पूर्णता के साथ यहां आना चाहिए।

———

७

पुरुष और प्रकृति

मित्र कौन है ? शत्रु कौन है ? परमात्मा कौन है ? भक्त कौन है ? लेखक कौन है ? रचयिता कौन है ? गुरु कौन है और शिष्य कौन है ? वह क्या है जो हमने जान लिया है ? वह क्या है जो हमने नहीं जाना है ? जो अभी तक नहीं जाना गया है वह उससे कम है या अधिक जो कुछ अब तक हमने जान लिया है ? यदि जो कुछ जानने के लिये अभी अछूता पड़ा है, वह बहुत अधिक है तो मनुष्य को वानर कहना क्या गलत होगा ? प्रिय विद्यार्थियो ! इस सारी सृष्टि में ऐसी बहुत सी बातें हैं जिन्हें मनुष्य को जाननी चाहियें किन्तु यदि आप किसी ज्ञानी पुरुष के पास जायें, या शास्त्रों या उपनिषदों आदि का अध्ययन करें तो आप उनसे यही संदेश पायेंगे कि आप सर्वप्रथम अपने आपको जानें। हमारे सम्पूर्ण ज्ञानार्जन का सार यही है कि हम अपने सत्य स्वरूप को जान सकने के लिये समर्थ हो सकें और आत्म-साक्षात्कार पा सकें, परम सत्य को जान सकें। हम यह जानते हैं कि सभी शास्त्र ऐसे विषयों की शिक्षा देते हैं जो आध्यात्मिक होते हैं—किसी न किसी रूप में आत्मा से सम्बन्धित होते हैं। वे किसी ऐसे विषय की शिक्षा नहीं देते जो किसी प्रकार आत्मा से सम्बन्धित नहीं हो। जब हम सावधानी के साथ इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि 'मैं कौन हूं ?' तो हम पाते हैं कि यह प्रश्न भगवद् गीता में भी आता है। भगवद् गीता सब जगह इस प्रश्न 'मैं कौन हूं।' के महत्व की ओर इंगित करती है। हर स्थल पर श्रीकृष्ण ने यह उपदेश दिया है कि प्रत्येक वस्तु में वह स्वयं उपस्थित हैं। आप में से प्रत्येक व्यक्ति अपना नाम लेकर कह सकता है, 'मैं राम हूं, मैं कृष्ण हूं, मैं रंगन्ना हूं, मैं अनिल हूं, मैं सुनिल हूं' और इसी प्रकार। आप जब यह सब कहते हैं तो एक अक्षर 'मैं' का पहले उपयोग करते हैं। उसके बाद वह नाम कहते हैं जो आपको

दिया गया है जो राम, कृष्ण या जो कुछ भी हो। इस प्रकार आप देखेंगे कि 'मैं' उसी प्रकार सर्वत्र इतने ही विस्तृत रूप में व्याप्त है जिस प्रकार आकाश। इसमें 'मैं' की अनन्तता का पता लगता है। यदि हम इसके तत्व और उसके सही अर्थ को समझ सकें तो हमें सारे ही शास्त्रों की विषय-वस्तु भली प्रकार सरलता के साथ समझ में आ जाएगी। जब हम कहते हैं 'एकम् एव अद्वितीयम्' तो उसका अर्थ मात्र इस एक से है बिना किसी द्वैत के। यही 'ओ३म्' के सम्बन्ध में है। यह ब्रह्म का वाचक है। ओंकार को एकाक्षर ब्रह्म कहा जाता है ईश्वर के साथ ओंकार का वाच्य-वाचक-भाव संबन्ध निन्य है, सांकेतिक नहीं। 'ओ३म्' में तीन अक्षर हैं अ उ म्। 'अ' स्वतन्त्र रूप से ओ३म् नहीं हो सकता, 'उ' स्वतन्त्र रूप से ओ३म् नहीं हो सकता और उसी प्रकार 'म्' स्वतन्त्र रूप से ओ३म् नहीं हो सकता। 'अ' का सम्बन्ध चेतना से है। इसे विश्व भी कहते हैं। दूसरी ध्वनि है 'उ' जो अधिक सूक्ष्म है और उसका सम्बन्ध विचार से है। इसका आन्तरिक महत्व है और इसे 'तेजस्' कहते हैं। यह सूक्ष्म ही नहीं है बल्कि इसका स्वप्नावस्था से भी सम्बन्ध है। अन्तिम ध्वनि 'म्' है और इसका सम्बन्ध कार्य-कारण से है और एक प्रकार से सुसुप्ति अवस्था से इसका सम्बन्ध है। इसे 'प्रज्ञा' भी कहते हैं। प्रणव या ओंकार वह स्थिति है जहां 'विश्व', 'तेजस्' और 'प्रज्ञा' मिलते हैं और एक हो जाते हैं। यदि हम में 'प्रणव' या 'ओंकार' के अर्थ और महत्व को जानने और उसके निकट तक पहुंचने की उत्कट इच्छा हो, वास्तविक जिज्ञासा हो तो हमें विश्व को तेजस् में और तेजस् को प्रज्ञा में मिलाने के प्रयत्न करने होंगे। इन तीनों को मिला देने, इनका एकीकरण कर देने पर ही इनके आपस में लय हो जाने की स्थिति में ही हमें आत्म-दर्शन हो सकते हैं। जब अ, उ और म एक साथ मिलते हैं तभी 'ओ३म्' की ध्वनि होती है अन्यथा नहीं। इसी प्रकार जब तीनों अवस्थाओं—जागृति, स्वप्न और सुसुप्ति या स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों का आपस में मिलकर लय हो जाता है तो उस समय हमें परमात्मा के दर्शन की झलक पाने का अवसर प्राप्त हो सकता है।

इस सम्पूर्ण संसार की सृष्टि के मूल में नाद मुख्य है। यदि नाद् न हो तो सृष्टि नहीं हो सकती, संसार अस्तित्व में नहीं आ सकता। सारा जगत नादात्मक है। नाद् ब्रह्म है। आधुनिक युग के आप नवयुवकगण यदि इस प्रकार के प्रश्न करते हैं कि 'ईश्वर कहां है? क्या ईश्वर है भी? वह कहां देखा जा सकता है?' तो मैं यही सोचता हूं कि अपने अज्ञान का प्रदर्शन कर रहे हैं। इस प्रकार का प्रश्न करने वाला युवक यह अनुभव नहीं करता कि उसके प्रश्न का उत्तर तो उसके प्रश्न में ही है। प्रश्न है "क्या ईश्वर है या क्या ईश्वर नहीं है?" इन दोनों प्रश्नों में

'ईश्वर' शब्द उभयनिष्ठ है और यही इसका प्रमाण है कि 'ईश्वर है'। यदि ईश्वर नहीं होता तो उसका वाचक शब्द ईश्वर कहां से आता। क्या आप में से कोई ऐसी वस्तु का नाम बता सकता है जो नहीं हो। कोई भी वस्तु जिसका रूप और अस्तित्व नहीं है, उसका नाम नहीं हो सकता। नामी के बिना कोई नाम नहीं होता। कई लोग कहते हैं 'गगन-पुष्प'। आप प्रश्न कर सकते हैं कि क्या वास्तव में ही आकाश में पुष्प होते हैं और यदि नहीं तो फिर ये शब्द कैसे आये ? यदि याद रखें यह एक शब्द नहीं है, दो शब्दों का योग है जिनमें एक शब्द है गगन और दूसरा है पुष्प और इन दोनों का अलग-अलग अस्तित्व है जिसे आप जानते हैं। इसलिये आप इसे अस्तित्वहीन के नाम के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते। इस प्रकार कुछ लोग शब्दों के अर्थों की गहराई को सोचे बिना ही व्यर्थ में तर्क करते हैं। वे अनास्थावादी सत्य में विश्वास नहीं करते। ऐसे लोगों को सत्य को समझाने का कोई मार्ग नहीं है।

इस संदर्भ में हम पुरुष और प्रकृति इन दोनों के बारे में विचार करें। इनके सम्बन्ध में आज प्रातः आपको काफी कुछ स्पष्ट किया गया था। पुरुष विभिन्न व्यक्तियों के समूह का वाचक शब्द है इसका अर्थ मनुष्य जाति से अभिप्रेत है। प्रकृति का अर्थ नाना रूप में प्रकट समस्त जड़ जगत से होता है। आप लोगों को यह भी बताया गया कि जिस प्रकार भौतिक संसार नाना रूपों में प्रकट है इसी प्रकार आत्मा भी नाना रूपों में प्रकट है। किन्तु जिस अर्थ को समझाने का हम प्रयत्न कर रहे हैं उस परिप्रेक्ष्य में हम गहन विचार करें और जानने के प्रयत्न करें तो पुरुष एक ही हो सकता है अनेक नहीं। पुरुष या आत्मा, परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है। दूसरी ओर प्रकृति है जड़ जगत का विस्तार जो पंचभूतों से परिपूर्ण है। ये सब नश्वर हैं अविनाशी या सदा रहने वाले नित्य सत्य नहीं हैं। किन्तु जो शुद्ध है निर्मल है, नित्य और अविनाशी है, जो तेज और प्रकाश है वह आत्मा है या पुरुष है। स्मृति और आत्मा को उपाधि रहित कहा है, जो गुणातीत है, परम है, सत्य, सनातन है, अनादि और अनन्त है, अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकार्य है।

कल जो प्रश्न पूछे गये थे उनमें एक प्रश्न था, "यह सृष्टि कैसे चलती रहती है ?" इस सम्बन्ध में मेरा आप से एक प्रश्न है, "स्वप्न कैसे आता है ?" क्या आप में से कोई इसका उत्तर दे सकता है ? नींद में स्वप्न आते हैं। यदि नींद न आये तो स्वप्न नहीं आते। जैसे स्वप्न के लिये नींद का होना आवश्यक है इसी प्रकार सृष्टि के लिये माया का होना अनिवार्य है। माया के लिये न आदि है न अन्त। इस प्रकार

यह सृष्टि या संसार जो आप अपने चारों और देखते हैं वह सब माया से सम्बन्धित है। माया आत्मा या पुरुष से प्रेम करती है। वह सदा पुरुष के साथ रहना चाहती है, परमात्मा तक पहुंचना चाहती है। इसी प्रकार सृष्टि भी सदा परमात्मा के पास पहुंचना चाहती है। इसलिये कहीं-कहीं कुछ पुराणों में कहा गया है कि पुरुष का संसार के साथ अनुराग है। भौतिक जगत में नाना रूप प्रकट होते हैं, हम विभिन्न आदमियों और औरतों में नामों से भेद करते हैं, किन्तु यह भेद प्रकृति तक ही सीमित है। जहां पुरुष का सम्बन्ध है कोई भेद नहीं हो सकता है। एक उदाहरण लीजिये। अनन्तपुर में हमने एक महिला कालेज की स्थापना की है। इसका नाम ही महिला कालेज है। क्या इस कालेज में लड़के होंगे ? इस कालेज में कई अवसरों पर जैसे कालेज दिवस पर नाटक होंगे। उस नाटक में कई लड़कियां महाराजा का अभिनय करती हैं। उसमें एक महारानी का भी अभिनय होता है। महाराज का पार्ट करने वाली लड़की मूंछें लगाती है, धोती पहनती है मुकुट धारण करती है तथा वे अन्य सब वस्त्र और आभूषण आदि धारण करती हैं जो एक महाराजा के लिये आवश्यक होते हैं। इस प्रकार एक महाराजा का पूर्ण वेष धारण कर वह मंच पर आती है। दर्शक देखकर यही कहेंगे कि एक लड़की महाराजा के रूप में दिखायी दे रही है तथा दूसरी महारानी। किन्तु जो लड़की महाराजा बनेगी वह यही सोचेगी कि मैं एक लड़की हूं इस कालेज की विद्यार्थिनी हूं। वह अपने आपको महाराजा कभी नहीं समझेगी। इसी प्रकार यह संसार महिला कालेज के समान है इस संसार रूपी कालेज के जीवन रूपी नाटक में हम विभिन्न पात्रों के रूप में अपने-अपने पार्ट अदा कर रहे हैं। आपको एक पार्ट, एक अभिनय दिया गया है, आदमी के रूप में या स्त्री के रूप में किन्तु वास्तव में आप क्या हैं ? क्योंकि वह तो संसार के नाटक में अभिनय के लिये धारण किया गया चोला है, रूप है। पंच तत्वों या पंच कोषों की दृष्टि से सब समान हैं, किसी में कोई अन्तर नहीं है। जब आप पुरुषत्व की बात करते हैं तो शरीर को पुरुष नहीं समझा जाना चाहिये बल्कि उसका अर्थ उसके अन्तर में पुरुष की शक्ति से, तत्व से समझना चाहिए; इस प्रकार पुरुष और प्रकृति के मेल से, सह-अस्तित्व से यह सम्पूर्ण सृष्टि चलती है।

इस प्रकार की सृष्टि के लिये कोई तो उत्तरदायी होना ही चाहिए। हमने तालाब में मिट्टी देखी है। हम नदी में पानी भी देखते हैं। केवल नदी के पानी से घड़ा या बर्तन नहीं बन सकता है। केवल तालाब की मिट्टी से भी घड़ा या कोई बर्तन नहीं बन सकता है। यह तो दोनों के उपयुक्त अनुपात में मिलने पर ही घड़ा या बर्तन बन सकता है। फिर इसकी बनाने की कला को जानने वाला कुम्भकार

भी होना चाहिए। परमात्मा ऐसा ही कुम्भकार है। शक्ति जल स्वरूप है तथा प्रकृति मिट्टी के समान। इन दोनों के मेल से मानव-देह का निर्माण होता है। मनुष्यों के ये शरीर मिट्टी के घर के समान फूट जाते हैं। (१) मनुष्य के शरीर रूपी इन घटों का निर्माण समय (काल) में होता है इसलिये उनका काल में ही विनाश होता है। इन घटों में या पात्रों में होने वाले परिवर्तनों से रूपान्तरणों से हमें नहीं घबराना चाहिए। यह तो केवल अज्ञान के अंधकार मे पड़े रहने के कारण हम सोचते हैं कि ये घट हमारे हैं, ये घट तुम्हारे हैं आदि। हम यह नहीं समझ पाते कि इन घंटों का या पात्रों के वास्तविक महत्व या मूल्य क्या हैं।

मैं आपको एक छोटा सा उदाहरण और देता हूं जिससे यह समझा जा सकेगा कि हम इस भौतिक जगत के सम्बन्ध में कितने अज्ञान और अंधकार में पड़े रहते हैं। एक अंधे व्यक्ति के पास एक लड़का है, किन्तु यह उस अन्धे का दुर्भाग्य है कि वह उस बालक को देख नहीं सकता है। वह यह कहता है कि यह उसका बालक है और वह उसकी सुख-सुविधा के लिये यथाशक्ति काफी प्रयत्न करता है। इसी प्रकार अन्धे व्यक्ति के समान हम यह सोचते हैं और भ्रम में पड़े रहते हैं कि इस प्रकृति या भौतिक संसार की उत्पत्ति हम से ही हुई है। यद्यपि कि हम प्रकृति की वास्तविकता को समझने में असमर्थ रहते हैं किन्तु अंधे के बालक में अनुराग के समान हमारा भी प्रकृति से लगाव हो जाता है और जैसे वह बालक को बिना देखे और पहचाने अपना कहता है वही हाल हमारा भी होता है। परमात्मा के सत्य स्वरूप को समझने और स्थापित करने के आठ विभिन्न मार्ग हैं। प्रथम का सम्बन्ध शब्द से है। दूसरा क्रिया (हलचल) से सम्बन्धित है। तीसरे का सम्बन्ध प्रकाश से है तथा अन्य इस प्रकार आठ विभिन्न मार्ग हैं। इसीलिये अष्टांग योग साधन के द्वारा साधक आत्म-साक्षात्कर के परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। यह अष्टांग योग है—

यमनिमासन प्रणायाम प्रत्याहार धारणाध्यानसमाधयः 'अर्थात् यम, नियम, आसन, प्रणायाम्, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये सब योग के अंग हैं।

एक दूसरे उदाहरण में दीपक का प्रकाश है। हल्की हवा चलने पर प्रकाश की लौ इधर-उधर हिलती है। उसमें थोडा धुआं भी होगा? यदि उसमें

---

१ फूटा घट जल-जल ही समाना।

—कबीर

तनिक सा पानी भी गिरता है तो उसमें चड़-चड़ आवाज होती है। यदि हवा अधिक हो तो दीपक बुझ जाता है । दीपक अनेकों प्रकार के होते हैं किन्तु प्रकाश एक ही होता है । जो कोई भी उसके पास पहुंचता है उसे वह समान रूप से प्रकाश प्रकाश देता है । इसी प्रकार परमात्मा जो उपाधि रहित है, निर्गुण, निराकार है सब को समान रूप से प्रकाश देता है चाहे कोई भी क्यों न हो । किन्तु जब यह निर्गुण ब्रह्म किसी देह में प्रवेश करता है तो, किसी के साथ सम्मिलित होता है तब भेद दिखायी देता है किन्तु मूल दैविक तत्व एक ही है और वह कभी नहीं बदलता, सदा निर्विकार रहता है ।

यद्यपि कि मैंने यह पहले भी अनेकों बार बताया है किन्तु यहां अनेकों लोग ऐसे हैं जो प्रथम बार आये हैं इसलिये आप सबको देह, आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध में फिर बताता हूं। एक कुम्हार मिट्टी के बर्तन और घड़े बनाने के लिये एक पोखर से मिट्टी खोद कर गाड़ी में भर कर (या गधों पर लाद कर) लाता है और अपने घर के सामने इकट्ठी करता जाता है वह यह क्रम प्रतिदिन जारी रखता है जिसके फलस्वरूप उस तलैया में तो मिट्टी खोदने से गड्ढा बढ़ता जाता है और उसके घर के सामने मिट्टी का ढेर बढ़ता और ऊंचा होता जाता है। कुम्हार के यहां मिट्टी लेने के लिये ढेर पर ऊपर चढ़ना पड़ता है तो तलैया से मिट्टी प्राप्त करने के लिये खदान में नीचे उतरना पड़ता है । तलैया में खदान की मिट्टी और कुम्हार के घर के सामने ढेर की मिट्टी दोनों एक ही हैं । कुम्हार अपने घर के सामने की मिट्टी से घड़े और बर्तन आदि बनाता है। जैसे-जैसे उसके बर्तन, घड़े आदि बनते जाते हैं घर के सामने बना मिट्टी का ढेर कम होता जाता है । फिर वह उन सब घड़ों और बर्तनों को आग में पकाता है । जब वे पक कर तैयार हो जाते हैं तब वह उन्हें बेचता है। किन्तु जब घड़े-बर्तन बनाने के लिये कुम्हार ढेर से मिट्टी लेकर उसमें पानी डालता था तो मिट्टी पानी को सोख लेती थी, गीली हो जाती थी, वह उसको गूंद कर इच्छानुसार घड़े, बर्तन आदि का स्वरूप दे सकता था। किन्तु वही मिट्टी जब घड़े के रूप में पक कर तैयार हो गई तो उसमें जब पानी डाला जाता है तो पानी ज्यों का त्यों उसी मिट्टी के घड़े में भरा रहता है। यह परिवर्तन या रूपान्तरण कहां से आया ? मिट्टी तो वही की वही है चाहे वह तलैया में हो, कुम्हार के घर के सामने ढेर में हो या उस घड़े में हो। किन्तु उसी मिट्टी ने तीन रूप ले लिए—तलैया में वह खदान का गड्ढा है, कुम्हार के सामने ढेर तथा तीसरी स्थिति में एक घड़ा तथा इन तीनों आकारों के मूल में है मिट्टी । समय की गति के साथ कुम्हार के घर के सामने की मिट्टी का ढेर मिट्टी के बरतनों के रूप में बदलता जाता है। इसी

प्रकार हमारे माता-पिता के कर्म तथा परमात्मा के संकल्प या इच्छा के फलस्वरूप यह मनुष्य देह अस्तित्व में आती है जैसे कुम्हार के मिट्टी के बर्तन। इस जीवन 'जीव' की तुलना हम कुम्हार के घर के सामने मिट्टी के ढेर के साथ कर सकते हैं जो हर रोज घटता जाता है। यह शरीर देहात्मा है। उसका अन्त होगा। इस उदाहरण में जिस प्रकार तीनों स्थितियों या स्वरूपों का मूल आधार मिट्टी है इसी प्रकार मानव-देह का मूल आधार परमात्मा है। कालक्रम में सभी देहों का अन्त निश्चित है। जैसे घड़े-बर्तन आदि सब टूट कर मिट्टी के मूल रूप में आ जाते हैं इसी प्रकार शरीरों का अन्त हो जाता है जो तत्व जहां से आता है उसी में लीन हो जाता है। मानव-शरीर की रचना का मूल स्रोत आत्म-तत्व है, जब उसके अस्तित्व में आने का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है तो शरीर का विघटन हो जाता है और वह अपने मूल-स्रोत को लौट जाता है।

इस स्थिति में यह जानना होगा कि वह क्या है जो जन्म लेता है? आपका इससे क्या अभिप्राय होता है कि मैंने जन्म लिया? जिसने जन्म लिया वह तो शरीर है। यदि हम यह जिज्ञासा करें कि 'हमारे जन्म से पहले क्या अस्तित्व था? यदि वह अस्तित्व में था तो फिर उसे जन्म लेने का प्रश्न कहां उठता है। मानलीजिए कि हम यह दृष्टिकोण लें कि वह बिलकुल अस्तित्व में नहीं था। यदि वह अस्तित्व में नहीं था तो फिर जो कुछ अस्तित्व में ही नहीं थी और नहीं है उसके जन्म लेने का प्रश्न कहां उठता है? हमें यह सब कैसे पता लग सकता है? हमें यह ज्ञान प्राप्त हो कि यह 'मैं' क्या है? हमें यह अपने आप से प्रश्न करना चाहिए कि इस प्रश्न को कैसे समझा और हल किया जा सकता है। जिन पुस्तकों और ग्रन्थों में इन प्रश्नों का समाधान दिया गया है उन्हें उपनिषद् और शास्त्र कहते हैं। यदि कोई यह कहे कि मुझे स्वयं अपने आपको जानने के लिए उपनिषदों के पीछे क्यों दौड़ना चाहिए, और क्यों उनके पास जाना चाहिए जिन्हें इस विषय में कुछ अनुभव प्राप्त है, तो यह उसका मिथ्या अभिमान होगा जो अहितकर और अवांछनीय है तथा उसे त्याग देना चाहिए। उपनिषदों का ज्ञान उपलब्ध किये बिना अनुभवी पुरुषों से मार्ग-दर्शन प्राप्त किये बिना तथा अपने जीवन में उनके उपदेशकों को व्यावहारिक रूप में अपनाये बिना आपके लिए यह सम्भव नहीं कि आप अपने आपको जान सकें। यदि आपके पास दीप-पात्र है उसमें तेल है और रुई की बाती है तो आप दीपक से प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं केवल किसी को बत्ती जलानी होगी। आपके पास पुष्प है, धागा है और सुई भी है। क्या उनकी अपने आप माला बन जायेगी? किसी न किसी को माला गूँथनी होगी। आपके पास सोना है, आपके पास हीरे हैं। क्या उनके अपने

आप आभूषण बन जायेंगे ? नहीं, किसी जानकार को आभूषण बनाने होंगे। आपके पास बुद्धि है, आपके पास शिक्षा है किन्तु क्या आप आत्म-ज्ञान और आत्म-साक्षात्कार पा सकते हैं ? एक छोटा सा उदाहरण लीजिए। बोर्ड पर A B C D लिख देते हैं। हमें यह ज्ञात नहीं कि इन अक्षरों का उच्चारण कैसे होता है, प्रत्येक की क्या ध्वनि है। आप चाहे जितने बुद्धिवान हो जब तक आपको अध्यापक इन अक्षरों की ध्वनि नहीं बताएगा केवल बोर्ड पर लिख देने मात्र से आप इसका सही उच्चारण नहीं कर पायेंगे। अक्षर ज्ञान तो बिना अक्षर गुरु से प्राप्त किये बिना होगा नहीं। हम इस संसार में पंच भूत देखते हैं, उनकी पंच-तन्मात्रायें देखते हैं, शरीर में पांच कर्मेन्द्रियां हैं, पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, मन, बुद्धि और अहंकार है और फिर आत्मा है जिसका हमें साक्षात्कार करना है। ये सब क्या हैं, क्या मार्ग अपनाया जाये कि सबको जाना जा सके तथा इन सबको परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सके, इन सब समस्याओं का समाधान हमारे शास्त्रों में दिया गया है इसीलिए हमारे शास्त्र अति प्राचीन ज्ञान के भंडार हैं तथा सभी समयों में पूर्ण सम्मान पाते रहे हैं। परमात्मा अनादि और अनंत है, न उसका कभी प्रारम्भ होता है और न ही कभी अन्त ही। यदि कोई नया व्यक्ति यह जानना चाहे कि वह क्या है जिसका न आदि है और न अन्त ही तो शास्त्र वह मार्ग बता सकते हैं जिससे इस जिज्ञासा की पूर्ति की जा सकती है। जब आप किसी स्थान पर जाते हैं तो वहां गाइड से मिलते हैं जिसे उस स्थान की सारी जानकारी होती है तथा जो आपका मार्ग-दर्शन कर सकता है और उस स्थान की सभी मुख्य बातें बता सकता है। आप वहां नये जाते हैं लेकिन वह स्थान पुराना होता है, वह मार्ग-दर्शक भी पुराना होता है, इसलिए वह आपको नगर की सारी जानकारी दे सकता है। जो चिरकाल से ऐसा मार्ग-दर्शन करता चला आता है वह पुरातन कहलाता है। वह नया व्यक्ति कब तक नया रहता है ? तभी तक न, जब तक वह उस स्थान से पूर्ण परिचित नहीं हो जाता, वहां के लोगों को नहीं जानने लगता और कुछ समय वहां नहीं रहता। फिर कुछ समय के बाद वह भी वहां का पुराना आदमी बन जाता है तथा वहां के पुराने रहने वालों के साथ मिल जाता है। इसी प्रकार आप भी मार्ग-दर्शक की सहायता से पुरातन का परिचय पाकर उनके साथ अपनी घनिष्टता बढ़ाते हैं। इस प्रकार आप सनातन के स्वभाव, प्रकृति और लक्षणों को समझने लगते हैं। सत्य सनातन की इस प्रकार पूर्ण पराकाष्ठा तक पहुंचाना ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति है क्योंकि ब्रह्म ही सनातन है। जो ब्रह्म को सही रूप में जाना जाता है उसका अलग अस्तित्व नहीं रहता वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है (ब्रह्मविद्, ब्रह्मैव भवति, ब्रह्मविद्परमं आप्नोति) इसलिए यदि आप 'सनातन' को जानना चाहते हैं तो आपको 'पुरातन' को जानना चाहिए। पुरा-

तन हमारे शास्त्र हैं जो चिरकाल से चले आ रहे हैं और जिनकी सहायता से आप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और इस प्रकार ब्रह्मविद् होकर ब्रह्म के साथ एक-रूप हो सकते हैं। जबकि उसी स्थान पर जो घूम रहा है साक्षी बने यह देखते हैं कि वह घूम रहा है और उसे कौन घुमा रहा है तो आप स्थिर हो जाते हैं और आपकी गति नहीं रहती है। सत्य ज्ञान की प्राप्ति की तीव्र जिज्ञासा या तड़प प्रारम्भ में सत्संग से ही प्राप्त होती है। यदि आपके पास लकड़ी के तिनके या टुकड़े हैं और आप उनको एकसाथ रखकर आग लगा देते हैं तो वे टुकड़े तो जलकर समाप्त हो ही जाते हैं इसके साथ ही उनके आसपास का जो कुछ भी सम्पर्क में आता है वह भी जल जाता है। उनसे धुआं भी उठता है तो आखों को लगता है और उस समय दृष्टि को भी प्रभावित करता है तथा तबियत घबराने लगती है। इस प्रकार लकड़ी के टुकड़ों में आग लगाकर आप कुछ कठिनाइयों और मुसीबतों में पड़ते हैं। इसके विपरीत यदि आप दो चार अगरबत्तियां जलाते हैं, जिनमें भी लकड़ी के टुकड़े होते हैं, तो वे स्वयं तो जलती रहती हैं किन्तु उनकी सुगन्ध से आस पास बैठे लोगों का चित्त प्रसन्न हो जाता है। अच्छे आदमी, सज्जन पुरुष इसी प्रकार अच्छी अगर-बत्तियों के समान अपना त्याग और बलिदान करते हैं तथा लोक हितार्थ अपनी आहुति देते रहते हैं, दूसरों को अपने सद्गुणों की सुगन्धि से प्रभावित करते हुए उन्हें सुख और शांति प्रदान करते हैं।

८

भगवद् गीता से कुछ उपदेश

भगवान तक पहुंचने का मार्ग केवल भक्ति है। भक्ति ही संसार के समस्त भव रोगों से छुटकारे के लिए एकमात्र रामबाण औषधि है। सत्य की अनुभूति का एकमात्र उपाय भक्ति ही है। प्रेमस्वरूप विद्यार्थियों ! मेरा विश्वास है कि भारत में कम ही लोग ऐसे होंगे जिन्होंने गीता नहीं पढ़ी हो और ऐसे नगण्य ही होंगे जिन्होंने गीता के बारे में कम से कम थोड़ा बहुत भी नहीं सुना हो या कुछ भी नहीं जानते हों। भगवद् गीता का अर्थ है दैविक गीत, वे शब्द जो भगवत् कृपा से उनके प्रसाद के पुष्प स्वरूप हमें प्राप्त हुए हैं। व्यास ने उन पुष्पों की एक सुन्दर माला गूंथ कर हमारे सामने प्रस्तुत की है। गीता के तीन मुख्य भाग हैं कर्म काण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञान काण्ड। प्रत्येक के छ:-छ: अध्याय हैं और इस प्रकार गीता में कुल अट्ठारह अध्याय हैं। गीता हमें भक्ति, ज्ञान, योग, आदि की शिक्षा देती है। इनके अतिरिक्त भगवद् गीता ने हमें एक बहुत ही महान् शिक्षा दी है, "तत्त्वमसि अर्थात् 'वह तुम हो' यही गीता का सारांश है। प्रथम छ: अध्यायों में हमें इस देह के अन्दर निवास करने वाली देही अर्थात् आत्मा के सम्बन्ध में बताया गया है तथा उसके लक्षण, स्वभाव और विशेषतायें बताई हैं। इसके बाद के छ: अध्यायों में जहां भक्ति का उपदेश है वहां 'तत्' या 'वह' के सम्बन्ध में भी बताया गया है। अंतिम छ: अध्यायों में तीसरे शब्द 'असि' का अर्थ बताया गया है तथा यह भी समझाया गया है कि 'तत्' अर्थात् परमात्मा के साथ जीवात्मा की एकता को कैसे जाना और अनुभव किया जा सकता है, तथा त्याग और सन्यास का कैसे पालन किया जाना चाहिए तथा मोक्ष की प्राप्ति कैसे की जा सकती है। यदि भगवद् गीता का उपयुक्त रूप से अध्ययन किया जाये तो हम 'तत् त्वम् असि' का सही अर्थ समझ सकते हैं।

आज प्रात: आप को शरणागति के सम्बन्ध में बताया गया। गीता में इसके विषय में क्या कहा गया है यह भी समझाया गया। किन्तु मुझे लगता है कि शरणागति

का सही अर्थ आपकी अभी समझ में आया नहीं है। विद्वानों ने अनेकों शास्त्रों और ग्रन्थों का गहन अध्ययन करके हमें इसके अर्थ को समझाया है किन्तु फिर भी शरणागति का अर्थ हम इतना ही समझते हैं कि अपने शरीर, मन और सारी शक्तियों को भगवान की इच्छा पर छोड़ दें, सब उन्हें समर्पित कर दें। भगवान के समक्ष पूर्ण समर्पण को ही हम शरणागति समझते हैं। किन्तु यह इसका सही और उपयुक्त अर्थ नहीं है। हमारा यह शरीर हमारे नियंत्रण में बिल्कुल नहीं है। कई परिस्थितियों में हमारा शरीर अनेकों समस्यायें उपस्थित कर देता है और हमारा उस पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता। ऐसी दशा में कैसे कह सकते हैं कि हम अपने शरीर को भगवान को समर्पित कर देंगे। मन की ओर देखते हैं तो उसकी दशा तो और भी अधिक जटिल है। वह तो हमें कहीं का कहीं ले जाता है क्योंकि उस पर नियंत्रण होना तो दूर की बात है, हम उसके नियंत्रण में उसके दास बने रहते हैं तथा मन की स्वेच्छाचारिता के अनुसार मूर्ख बने भटकते रहते हैं। ऐसी दशा में यदि आप कहें कि आप अपना मन परमात्मा को समर्पित करते हैं तो यह भी बात बिल्कुल समझ में नहीं आती। मैं तो इसे हास्यास्पद समझता हूं जब आप यह कहते हैं "हे भगवान मैं अपना मन आपको समर्पित करता हूं", क्योंकि आप प्रयत्न करके भी मन को कुछ क्षण तो अपने नियंत्रण में रोक नहीं सकते हैं तो फिर किसी को उसका समर्पण कैसे कर सकते हैं। शरीर के विभिन्न अंगों या इन्द्रियों की बात लें तो उनका समर्पण कैसे सम्भव हो सकता है जबकि उनका अधिपति मन ही आप के काबू के बाहर है। जब आप यह कहते हैं कि आप अपना तन, मन, कर्म और वचन सब कुछ परमात्मा को समर्पित करते हैं तो यह केवल आपके अपने सन्तोष भर के लिए कथन मात्र होता है। यह शरणागति नहीं कही जा सकती। भगवान यह कभी नहीं चाहते कि आप अपना सब कुछ जो भी आपके अधिकार में हैं, भगवान को समर्पित कर दो। वास्तव में भगवान ने ऐसा कभी कहा भी नहीं है। यदि आप शरणागति का सही अर्थ समझने का प्रयत्न करें तो आप पायेंगे कि वास्तव में शरणागति का समर्पण का अर्थ भिन्न है और उसका अर्थ परमात्मा-तत्व के संदर्भ और पृष्ठभूमि में समझा जाना चाहिए। जब आप यह समझ जायेंगे तथा पूर्ण रूप से स्वीकार और विश्वास करेंगे कि परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है तब ही आप मन, कर्म और वचन से समर्पण के भाव को समझ सकेंगे और आप परमात्मा के साथ एकाकार हो जायेंगे। शरणागति के सम्बन्ध में बात करने का तभी औचित्य हो सकता है जब आपका अपने तन पर, मन पर, वाणी और कर्म पर पूर्ण अधिकार हो। जैसे ही आप परमात्मा की सर्व-व्यापकता सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता की अनुभूति कर लेंगे, आपकी अलग सत्ता रह ही नहीं जायेगी, अहं की भावना कि 'मैं हूं' मिट जायेगी। दूसरे शब्दों में जब आप गीता के

इस उपदेश को समझने का प्रयत्न करते हैं, शरणागति के अर्थ को समझने का प्रयत्न करते हैं तो आप देखेंगे कि अर्जुन ने पहले तो भगवान श्रीकृष्ण से इस प्रकार प्रश्न करना शुरू किया जैसे उसे अपनी बुद्धि और शक्ति पर पूरा भरोसा है और उसने जो कुछ निर्णय लिया है, वह सही है क्योंकि उसने उचित व अनुचित का निर्णय कर सकने में अपने को पूर्ण समर्थ समझा। अर्जुन को अपने शक्ति सामार्थ्य पर बड़ा अभिमान रहा और वह अपने आप को भगवान से भी अधिक योग्य समझ बैठा किन्तु जब ऐसी स्थिति में आ फंसा कि वह यह भी नहीं सोच पा रहा था कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए तथा उसे तनिक भी आगे बढ़ सकना या पीछे हट सकना सम्भव नहीं रहा और वह एक ही स्थान पर खड़ा रह गया, उसकी सारी गतिविधियां रुक गयीं तो वह भगवान श्रीकृष्ण से बोला, "मैं आपके आदेशों का पालन करूंगा, मैं स्वयं यह निर्णय कर सकने में असमर्थ हूं कि मुझे क्या करना चाहिए। मैं आपके आदेशों का हृदय से पालन करने के लिए तैयार हूं और आप मुझे जो भी कुछ करने के लिए कहेंगे मैं वही करूंगा।" इस प्रकार अर्जुन ने मन, वचन और कर्म से अपने आप को पूर्ण रूप से भगवान को समर्पित कर दिया। गीता का उपदेश ऐसे ही समर्पण या शरणागति के लिये है।

यह कहना भी सही नहीं है कि यह पूर्ण समर्पण है। यह तो ऐसी परिस्थिति पैदा हो गयी जब अर्जुन भगवान के आदेशों का पालन करने के लिए इस प्रकार तैयार हो गया। इस दशा में भगवान आदेश देते हैं और दूसरे उन आदेशों का सहर्ष पालन करने के लिये तैयार हैं। दूसरे शब्दों में वहां द्वैत है क्योंकि एक तो भगवान आदेश देने वाले हैं और दूसरा कोई उनका पालन करने के लिए तैयार है। जब तक व्यक्ति के मन में एक ओर परमात्मा और दूसरी ओर 'मैं' का भेद मौजूद है, पूर्ण समर्पण नहीं हो सकता। जहां द्वैत है वहां सुख और आनन्द नहीं है, जहां अद्वैत है वहीं सच्चा सुख और आनन्द है। इसलिये जब आप सामान्य बोलचाल में शरणागति शब्द का उपयोग करते हैं और यह कहते हैं कि भगवान ने आपको यह करने के आदेश दिये हैं और आप उनको स्वीकार कर उनका पालन करते हैं, तो वहां शरणागति का यह अर्थ सीमित रूप में ठीक रहेगा।

वास्तव में एक और बात है जिसे हमें जानना चाहिए और उसका ध्यान रखना चाहिए। हम यह जानते हैं कि श्रीकृष्ण और अर्जुन अस्सी वर्षों से अधिक समय तक एक दूसरे के साथ रहे, आपस में एक दूसरे से अक्सर मिलते रहते थे और मित्रों के समान रहते थे। किन्तु उन अस्सी वर्षों तक साथ रहने के बाद और वह

भी रणक्षेत्र में और इसके भी ऊपर कुछ विशेष परिस्थितियों में भगवान ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया जिससे कि वह अपनी उस स्थिति में उभर कर आत्मविश्वास के साथ खड़ा हो और साधिकारिक और सक्षम स्थिति में पहुंच कर कुछ कर सके। हमें इन सब बातों को गहराई से समझना चाहिए। भगवद् गीता में भगवान ने यह भी उपदेश दिया है कि हमें यह जानना चाहिये कि 'अधिकारी' कौन है। जब तक कोई 'अधिकारी' न हो अर्थात् किसी में उपयुक्त योग्तता पुण्य और पात्रता नहीं हो उसे भगवद् गीता का उपदेश देना व्यर्थ है। यदि किसी में गीता का उपदेश सुनने की योग्यता और पात्रता नहीं अर्जित की तो उसे गीता सुनाने का कोई लाभ नहीं है। हम यह जानते हैं कि केवल भूखे को ही भोजन मांगने का अधिकार है। जिसके पास धन हो वही उसको खर्च करने का अधिकारी है। भिक्षा ग्रहण करने का वही उपयुक्त पात्र है जो भूखा और गरीब है तथा हर दृष्टि से सहायता दिये जाने के योग्य है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति उसके गुण-दोष, विशेषता और योग्यता के अनुसार किसी कार्य को करने का अधिकारी होता है। किसी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व पात्र को इस योग्यता और अधिकार को जानना चाहिए—यह गीता कहती है। जो व्यक्ति किसी अच्छी बात को ग्रहण करने की अपेक्षित पात्रता आवश्यक योग्यता नहीं रखता उसे उसका उपदेश देना व्यर्थ है(१)।

भगवान ने कहा है 'मद् भक्तः भव—अर्थात् मेरे में अतिशय श्रद्धा सहित भक्ति रख'। भगवान ने गीता में आश्वासन दिया है कि 'जो मेरे भक्तजन आनन्द भाव से मेरे में स्थित हुये मुक्त परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करते हुये निष्काम भाव से भजते हैं, उस नित्य एकी भाव से मेरे में स्थिति वाले पुरुषों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूं" (अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥) भगवान ने यहां 'नित्य एकीभाव' या 'अनन्य भाव' से भक्ति

---

(१) गीता में कहा है :—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मांयोऽभ्यसूयति ॥ १८।६७

—तेरे हित के लिये कहे हुए इस गीता रूप परम रहस्य को किसी काल में भी न (तो) तपरहित मनुष्य के प्रति कहना चाहिए और न भक्ति रहित के प्रति तथा न बिना सुनने की इच्छा वालों के प्रति कहना चाहिए (एवं) जो मेरी निन्दा करता है उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिए परन्तु जो जिनमें यह सब दोष नहीं हों ऐसे भक्तों के प्रति प्रेमपूर्वक उत्साह के सहित कहना चाहिए।

करने वालों के ही योगक्षेम वहन की बात कही है न कि उनके लिए जो केवल कुछ समय के लिए ही भगवान के ध्यान और चिन्तन में अपना समय देते हैं और अपना सारा दिन पाप पूर्ण कृत्यों में बिताते हैं, अहितकर कर्म करते हैं और नाम लेते हैं भगवान का। तीन बातें सदा ध्यान में रखी जानी चाहिए; मैं भगवान के अतिरिक्त किसी अन्य बात की नहीं सोचूंगा; मैं भगवान की आज्ञा के बिना कोई कार्य नहीं करूंगा; मैं अपना ध्यान सदा भगवान में ही स्थिर बनाए रखूंगा। जब व्यक्ति इन तीनों बातों का दृढ़ता के साथ, श्रद्धा और भक्ति के साथ सतत रूप में पालन करता है तभी भगवान उसके योगक्षेम का पूर्ण दायित्व अपने ऊपर लेते हैं। भगवान ने जो यह शर्त लगाई है उसका पालन किया जाना अनिवार्य है और जो उनका पालन करता है इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि उसका सम्पूर्ण भार भगवान अपने ऊपर ले लेते हैं। किन्तु आजकल भगवान के आदेशों का हम पालन कहां करते हैं? हमें तो न भगवान की परवाह है न उनके आदेशों की, बल्कि उल्टे यही प्रश्न करते हैं कि यदि भगवान हैं तो फिर उन्हें हमारी परवाह करनी चाहिए, हमारा हित और कल्याण करना चाहिए, हमारी रक्षा करनी चाहिए वह क्यों नहीं ऐसा करते और संसार में लोग कष्ट भुगत रहे हैं। किन्तु हम सोचें कि भगवान ने यह कहा है, "यदि तुम मेरा प्रेम पाना चाहते हो मेरे प्रिय बनना चाहते हो तो तुम्हें अनन्य प्रेम से नित्य निरन्तर मेरे में अचल मन वाला विनयभाव के साथ प्रणाम करने वाला, मेरे प्रति पूर्ण श्रद्धा, विश्वास और भक्तिवाला होना चाहिए। तभी तुम्हें निश्चित रूप में मेरा पूर्ण प्रेम और संरक्षण प्राप्त होगा, तुम मुझे प्राप्त कर सकोगे मेरा प्रेम पा सकोगे"(१)। केवल गीता का पाठ करते रहने से, श्लोक कंठ कर लेने से, गीता में क्या लिखा है यह सोचते रहने या व्याख्यान देते रहने से कोई लाभ नहीं है। गीता का सही लाभ और उपयोग तो आप तब ही उठा सकते हैं जब आप गीता पढ़ें, उसके अर्थ को समझें उस पर पूर्ण चिन्तन मनन करें, अपने संदेहों का निवारण करें और फिर उसे अपने जीवन में व्यावहारिक रूप देवें। आपको मर्कट और माजीरा विधियों या मार्गों अर्थात् बन्दरी और बिल्ली के बच्चों को उनकी मां किस प्रकार रखती हैं यह बताया गया था। मर्कट मार्ग में बन्दरी का बच्चा अपनी मां के पेट से चिपट जाता है और फिर मां कहीं भी जाये, एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर छलांग लगाये, दौड़े या कूदे वह अपनी मां को ऐसी दृढ़ता के साथ पकड़े रहता है कि सदा सुरक्षित बना रहता है। बच्चे का अपनी मां पर पूरा विश्वास और भरोसा

---

(१) मन्मना भव मदभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामे वैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे। भ० गी० १८।६५

बना रहता है और मां उसको पूर्ण संरक्षण देती है। बन्दर के बच्चे के समान जो हर दशा और परिस्थिति में अपनी मां से चिपटा रहता है, उसे छोड़ता नहीं; हमें भी परमात्मा के साथ अपने आपको उसी प्रकार दृढ़ता के साथ पकड़े रहना चाहिए। इस मार्ग में बन्दरी पर कोई उत्तरदायित्व नहीं होता तथा सारा उत्तरदायित्व उस बच्चे पर ही रहता है कि वह कितनी दृढ़ता से मां को पकड़ता है और उससे चिपटे रहता है। दूसरी ओर जब हम बिल्ली और उसके बच्चे की ओर देखते हैं तो पाते हैं कि मां ही अपने बच्चे का सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेती है। वह बच्चे को अपने मुंह में दबाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है, बच्चा कुछ नहीं करता। ये उदाहरण आपको शरणागति का भाव समझाने के लिए दिये गये थे। यदि बिल्ली के बच्चे की तरह आप अपने स्थान पर बने रहें और सब कुछ उसकी तरह मां पर छोड़ कर उसके लिये पुकारते रहें तो जैसे बिल्ली अपने बच्चे का पूर्ण दायित्व संभालती है, भगवान अपने शरणागत की संभाल करते हैं।

आपको जो बन्दर के बच्चे सम्बन्धी (मर्कट मार्ग) तथा बिल्ली के बच्चे सम्बन्धी 'मार्जरा मार्ग' बताया गया वे दोनों सामान्य लोगों के लिये सामान्य जीवन में तो ठीक है किन्तु जो आगे बढ़ता है और आत्म तत्व को प्राप्त करना चाहता है उसके लिये यह पर्याप्त नहीं है। उस व्यक्ति को तो इन दोनों मार्गों से भिन्न और श्रेष्ठ मार्ग ढूंढना और अपनाना होगा। इस प्रकार की भक्ति के लिए विवेकानन्द ने अच्छा उदाहरण दिया है। प्रत्येक व्यक्ति अपना मोक्ष चाहता है। मोक्ष को मुक्ति भी कहते हैं। जब हम मुक्ति चाहते हैं तो इसका अर्थ होता है कि इस समय हम किसी बन्धन में हैं। यह बन्धन क्या है? यह बन्धन तो परिवार में, घर में है। जिनमें हम लोग बुरी तरह उलझे और बंधे हुये हैं। घर और परिवार और उनके प्रति मोह ही वह जंजीर है जिसने आपको कस कर बांध रखा है। आप इसे स्नेह कहते हैं किन्तु है यह मोह का बन्धन। परिवार और संसार के इस मोह बन्धन से मुक्ति पाने के दो मार्ग हैं। एक तो यह कि आप इतने शक्तिशाली बन जायें कि मोह की जंजीर को तोड़ फेंके। दूसरा यह कि आप इतने अकिंचन, अन्धकार, शून्य और लघु (छोटे) बनते जायें कि जंजीर स्वयं ही खिसक कर गिर जाये और आप मुक्त हो जायें। इन दोनों मार्गों को छोड़कर और तीसरा मार्ग नहीं है जिसके द्वारा आप इस बन्धन से छुटकारा पा सकें। मुक्ति के इन दोनों मार्गों को आप भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग कह सकते हैं। भक्ति में आप भगवान को अपने स्वामी के रूप में स्वीकार करते हैं अपने आपको उनके विनम्र और आज्ञाकारी दास के रूप में सदा उनके आदेशों का पालन करने के लिए तैयार रहते हैं जिससे स्वामी प्रसन्न रहें और आप

उनके कृपा पात्र बन सकें तथा उनका अनुग्रह पा सकें। इसे कहते हैं 'दासोऽहम्' भाव। भक्ति का मार्ग अपना कर जब आप दास बन जाते हैं और कहते हैं 'दासोऽहम्' 'दासोऽहम्' "मैं दास हूं—तो आपके अहं का नाश होता है आपमें विनम्रता बढ़ती है, दीनता आती है, लघुता आती है और आप इस प्रकार ऐसे लघुरूप में आ जाते हैं कि जंजीर के बन्धनों से छुटकारा पाकर बाहर निकल सकते हैं। जंजीर के बंधन से छुटकारा पाने का दूसरा मार्ग अपनी शक्ति को बढ़ाकर उसे तोड़ने के द्वारा है। जिसे ज्ञान मार्ग कह सकते हैं। इसमें आप कहते हैं 'शिवोऽहम्-शिवोऽहम्' मैं शिव हूं, मैं शिव हूं। अर्थात् आप अपना विकास करते हुए बढ़ते जाते हैं और परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर इतने विशाल और सशक्त हो जाते हैं कि सांसारिक बन्धन की शृंखलायें टूट कर गिर पड़ती हैं। इस प्रकार बन्धन से मुक्त होने के दो ही मार्ग हैं ज्ञान और भक्ति।

भक्ति को कभी-कभी प्रेम से भी जाना जाता है। प्रेम को हम अनेकों अर्थों में लेते हैं। कभी-कभी प्रेम को काम का पर्यायवाची मान लेते हैं। इससे कभी-कभी आपके मन में यह विचार पैदा होता है कि प्रेम और काम का किसी सीमा तक एक ही अर्थ होता है। यद्यपि प्रेम और काम आपस में पर्यायवाची अर्थात समान अर्थ वाले लगें किन्तु यह समझ लेना चाहिये कि प्रेम मार्ग का अनुभव और तरीके तथा काम मार्ग का अनुभव और तरीके बिलकुल भिन्न होते हैं। काम बन्धन कारक हैं, प्रेम आनन्द प्रदायक है। प्रेम शुद्ध और निर्मल होता है, काम अशुद्ध और अपावन। यह जानने के प्रयत्न किये जाने चाहिये कि काम अपवित्र और दूषित क्यों होता है तथा प्रेम क्यों पवित्र और निर्मल रहता है आप यह जानते हैं कि जो पानी बहता रहता है वह साफ रहता है किन्तु जो एक स्थान पर रुक जाता है और बहता नहीं है वह खराब होने और सड़ने लगता है अन्ततः उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। इसी प्रकार प्रेम हृदयों में प्रवाहमान है, गति के साथ बहता रहता है, उसमें एकदेशीयता नहीं रहती, व्यापकता और गतिशीलता रहती है, वह असीमित होता है, वह एक हृदय से दूसरे हृदय में पहुंचता रहता है, अपनी पवित्रता से सबको निर्मल और शुद्ध बनाता हुआ सबके कलुष मिटाता हुआ और अन्त में अपने चरम लक्ष्य प्रेम-सागर अर्थात परमात्मा में मिल जाता है। किन्तु जो प्रेम एक देशीय हो जाता है, जिसमें प्रवाह और गति नहीं होती, एक व्यक्ति विशेष पर आकर रुक जाता है और कहने लगता है, "यह मेरा है, वह सीमित और स्वार्थ पूर्ण प्रेम काम बन जाता है। सीमित और स्वार्थ पूर्ण होने के कारण वह सही अर्थों में प्रेम नहीं रहता क्योंकि प्रेम तो निर्मल और निष्काम होता है। जो प्रेम सीमित है एक

या कुछ व्यक्तियों तक ही जिसका दायरा है आपको किसी न किसी समय संकट में डाल सकता है। उदाहरण के लिये हम एक गुलाब के पौधे को देखें। उसमें सुन्दर और सुगन्धित पुष्प होते हैं साथ में कांटे भी। क्योंकि उस पौधे में कांटे भी होते हैं आप गुलाब को कभी नापसन्द नहीं करते हैं न ही उसे त्यागते हैं। मनुष्य का जीवन भी गुलाब के पौधे के समान है जिसमें सुगन्धि और सौन्दर्य से भरपूर मनमोहक और प्रसन्नतादायक पुष्प लगे हैं तो ठीक उनके नीचे कठिनाइयों के कांटों की भी भरमार है। जो सम्बन्ध गुलाब के पौधे में कांटों और फूलों का है वही सम्बन्ध जीवन में प्रेम और काम का है। प्रेम पुण्य है, वासना कांटे हैं। प्रेम तभी सही अर्थों में सच्चा प्रेम कहलाता है जब वह परमात्मा के प्रति होता है! परमात्मा की सर्वव्यापकता और निर्लिप्ता को पहचान कर सर्वव्यापक और निर्लिप्त होता है।

अर्जुन में वह कौन सी ऐसी विशेषता, या योग्यता, अथवा पात्रता थी कि वह भगवान से गीता का उपदेश सुनने का सुयोग्य पात्र समझा गया? युधिष्ठिर अर्जुन से बड़े थे तथा इतने गुण सम्पन्न और योग्य थे कि धर्मराज कहलाते थे। फिर अर्जुन को ही भगवान ने गीता का उपदेश देने के लिए क्यों अधिकारी समझा धर्मराज को क्यों नहीं? यदि शारीरिक बल और सामर्थ्य की बात सोचें तो पांडवों में भीम के बराबर शारीरिक शक्ति रखने वाला अन्य नहीं था। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धिक दृष्टि से धर्मराज कहीं उत्तम थे और शारीरिक दृष्टि से भीमसेन। तो फिर उस अर्जुन को जो संशय में पड़ा मूढ़ सा बना प्रश्न कर रहा था उसे भगवान ने गीता का उपदेश क्यों दिया? फिर भी यदि हम धर्मराज और भीम को अनाधिकारी समझ कर छोड़ भी दें तो भीष्म तो निश्चय ही आध्यात्मिक, बौद्धिक और शारीरिक सभी दृष्टियों से सम्पन्न योग्य, वरिष्ठ और श्रेष्ठ थे। भीष्म कौरव और पांडवों के पितामह थे, ज्ञान और अनुभव में पूर्ण परिपक्व व्यक्ति थे। क्या कारण है कि भीष्म को भी भगवान के द्वारा उपदेश प्राप्त करने का अधिकार नहीं मिला? अर्जुन को स्वयं भी इस सम्बन्ध में ज्ञान नहीं था और वह जानने का इच्छुक था तथा उसने जब एक बार श्रीकृष्ण से यह प्रश्न किया भी तो उन्होंने उसको बहुत ही साधारण रूप में लिया और सरलता के साथ कहा, "देखो अपने बड़े भाई धर्मराज को ही! बहुत अच्छे व्यक्ति हैं उनमें बहुत से गुण और विशेषतायें हैं किन्तु उनमें दूरदर्शिता नहीं थी, उन्होंने कभी आगे की नहीं सोची, क्या हो सकता है इसका कभी विचार नहीं किया। जब सब कुछ हो गया तब विचार करते और सोचते हैं।" धर्मराज ने सब कुछ हो गया है तब यह सोचा कि हम इस रणभूमि में लड़ने के लिए आये ही क्यों? वह अपने आप से प्रश्न करने लगे कि हमने इतने लोगों को

क्यों मारा। ये सब विचार उनमें कार्य के हो जाने के बाद आये जो सभी मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से आते हैं तथा वे जब कुछ कर डालते हैं तो पछताते हैं। यह मानवीय दुर्बलता धर्मराज में भी थी। इसलिये वे उस समय गीता का उपदेश पाने के अधिकारी नहीं समझे गये। जब हम भीष्म के सम्बन्ध में सोचते हैं तो पाते हैं कि वह महान् अनुभवी विद्वान् और गंगा के पराक्रमी पुत्र हैं। किन्तु हैं बड़ी ही भिन्न स्थिति में। जहां एक ओर वह कहते हैं कि पांडवों का पक्ष धर्म का पक्ष है वहां दूसरी ओर वह अधर्म के पक्ष पर कौरवों की सेना के मुख्य सेनापति हैं। यह उनके जीवन का बड़ा भारी विरोधाभास है। वह कहते कुछ हैं किन्तु करते कुछ हैं। भीष्म एक ऐसे रथ में सवार लगते हैं जिसके घोड़े अलग-अलग दिशाओं में दौड़ रहे हैं। इस कारण वह गीता का उपदेश पाने के अधिकारी नहीं थे। अब हम अर्जुन को देखें। अर्जुन में दूरदर्शिता थी, उसने युद्ध से पहले ही यह सोच लिया था कि यदि युद्ध होगा तो उसके कारण कितने कष्ट और संकट उठाने पड़ेंगे और विपदायें झेलनी पड़ेंगी। अर्जुन ने प्रश्न किया था कि मैं अपने भाई-बन्धुओं, रिश्तेदारों और आदर और सम्मान के योग्य वरिष्ठ सम्बन्धियों को क्यों मारूं। उसने कहा था कि अपने स्वजनों को मारकर राज्य पाने की अपेक्षा तो भिक्षा मांगकर जीवन निर्वाह कर लेना अच्छा होगा। उसने यह भी कहा कि इस पृथ्वी का राज्य तो क्या, यदि उसे अपने स्वजनों की हत्या करके स्वर्ग का साम्राज्य भी मिले तो वह स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था अर्जुन इसलिए युद्ध के लिए तैयार न था और श्रीकृष्ण से उसने उस स्थिति से उबारने के लिए प्रार्थना की। इस प्रकार अर्जुन ने अपनी समस्त इच्छाओं का त्याग कर दिया था। वह संसार के ही क्या स्वर्ग के भी सब सुख, वैभव, नाम और यश को त्यागने के लिये तैयार था और उसने अपने आपको भगवान के चरणों में पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया था। इस प्रकार हम अर्जुन को गीता का उपदेश प्राप्त करने के योग्य अधिकारी के रूप में देखते हैं। हमें यहां यह भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि अर्जुन को भगवान से गीता का उपदेश प्राप्त करने का अधिकार तब ही प्राप्त हुआ जब वह भगवान के पूर्ण शरणागत हो गये, उनकी आज्ञा और उपदेश के अनुसार सब कुछ करने के लिये अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर दिया। ऐसे व्यक्ति को और ऐसी परिस्थितियों में ही कोई शास्त्रों के पावन अर्थ को, परमात्म तत्व के पावन महत्व को समझा सकता है, उसका बोध करा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को इस योग्य बनना होगा, सदाचरण और सद्व्यवहार और सत् कर्मों के द्वारा यह योग्यता अर्जित करनी होगी। चाहे आप कठिनाइयों में हों या आराम में, संकटों में पड़े हों अथवा आनन्द मना रहे हों आपको सच्चा सुख, शान्ति और आनन्द तो तब ही प्राप्त हो

सकता है जब आपकी भगवान में पूर्ण श्रद्धा हो, उनमें पूर्ण विश्वास हो और उनको ही अपनी जीवनी शक्ति और प्राण समझे। हमारे स्वयं के कर्म और आचरण ही हमारे सुख या दुखों के लिये, हर्ष और शोक के लिए उत्तरदायी होते हैं। यह कहना गलत है कि सुख-दुख भगवान की देन है क्योंकि भगवान तो केवल साक्षी मात्र हैं। यदि हमारे विचार, व्यवहार, आचरण और कर्म सब अच्छे हैं, हम स्वार्थ रहित, अभिमान रहित, काम रहित और क्रोधरहित हैं, विनम्र और सहिष्णु हैं, दैविक सम्पदा से सम्पन्न हैं तो फिर हमें किसी से भी यहां तक भगवान से भी सुख या अन्य ऐसा कुछ माँगने की आवश्यकता नहीं रहती है।

मैं आपको एक और उदाहरण देता हूं जो पांडवों के सद्गुणों और सद्विचारों का परिचायक है। कौरव और पांडवों की सेनायें युद्ध के लिए तैयार रणक्षेत्र में आमने-सामने खड़ी थीं। उन दोनों सेनाओं के बीच में अर्जुन खड़ा था। किसी भी क्षण युद्ध शुरू होने वाला था। ऐसी भयंकर स्थिति में धर्मराज युधिष्ठिर अपने रथ से उतरे, अपने अस्त्र-शस्त्र उतार कर एक ओर रखे, अपना कवच भी उतार दिया, अपने जूते भी उतार दिये, अपने नंगे पैर और नंगे हाथ शत्रु सेना के बीच में अकेले ही घुसते चले गये। सब देखकर दंग थे। शत्रु पक्ष ने समझा कि धर्मराज भयभीत हो गये हैं और युद्ध से डरकर आत्मसमर्पण के लिए इस प्रकार आ रहे हैं इसलिये वे हर्ष ध्वनि करने लगे। किन्तु धर्मराज के इस व्यवहार को कोई सही रूप में समझ नहीं पाया कि वह क्यों इस प्रकार नंगे पैर अरक्षित शत्रु सेना के बीच में चले जा रहे हैं। यदि कोई इसके रहस्य को समझ सका था तो वे थे श्रीकृष्ण! दूसरी ओर भीम बड़ा व्याकुल और क्रोधित हो रहा था कि धर्मराज को यह क्या सूझी है, अर्जुन को बुरा लग रहा था। वह रथ में बैठा श्रीकृष्ण की ओर देख रहा था और उसके नेत्र अंगारों से लाल हो रहे थे। श्रीकृष्ण ने भीम और अर्जुन दोनों की ओर देखते हुए कहा, "देखते क्या हैं आप लोग! जब जीवन भर आपने अपने ज्येष्ठ भ्राता का अनुसरण किया है और जो कुछ उन्होंने किया है वही आपने किया अपने निज के सभी विचारों और भावनाओं को त्यागते हुये, तो इस समय भी उनका अनुसरण क्यों नहीं करते। जैसा वह कर रहे हैं वैसा ही करो। अन्य पांडव बन्धुओं को यद्यपि कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि धर्मराज ऐसा क्यों कर रहे हैं किन्तु श्रीकृष्ण का संकेत पा अन्य चारों भाई भी अपने अस्त्र-शस्त्र एक ओर रख नंगे पैरों धर्मराज के पीछे हो लिये। यह दृश्य देखकर पांडव सेना में बड़ी निराशा फैली किन्तु साथ ही पूर्ण सेना में यह भी पक्की धारणा थी कि धर्मराज कुछ भी अनुचित नहीं करेंगे, जो कुछ भी करेंगे वह उचित होगा। दोनों ओर की सेनायें यह दृश्य देख रही थीं। धर्मराज

सीधे कौरवों के महासेनापति भीष्म के सामने जा पहुंचे और उनके चरण स्पर्श किये, दंडवत् प्रणाम किया और हाथ जोड़कर विनम्रता के साथ कहने लगे, "हे पितामह ! हमारे पिता नहीं रहे थे, आपने हमें अपने पुत्र के समान रखा। आपने हमें पूर्ण प्रेम के साथ पाला-पोसा, बड़ा किया और सब प्रकार से योग्य बनाया आप हमारे पिता समान रहे और हमारे सर्वेसर्वा रहे। आज युद्ध में प्रवेश के लिये हमें आज्ञा दीजिये। आप हमारे पिता के स्थान पर हैं इसलिये आपकी आज्ञा पाये बिना हम युद्ध नहीं कर सकेंगे, जब युद्ध आपसे ही करना है।" धर्मराज के शब्दों को सुनकर भीष्म विस्मित और आनन्दित हो गये कि ऐसी भयंकर और नाजुक परिस्थिति में भी धर्मराज अपने धर्म-पथ पर अडिग हैं उससे तनिक भी विचलित नहीं हुये हैं। भीष्म इतना प्रभावित हुये कि उन्होंने धर्मराज की प्रेम के साथ पीठ थपथपायी और उनके इस आचरण से प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया, "हां ! जाओ युद्ध करो ! तुम्हारी विजय निश्चित है।" उसके बाद धर्मराज अपने गुरु द्रोणाचार्य के पास गये और उनके भी चरण स्पर्श कर बोले, "अपने स्वयं के गुरु के साथ युद्ध करना सबसे बड़ा पाप है। किन्तु युद्ध करना ही है तो फिर वह आपकी अनुमति प्राप्त करने के बाद ही किया जा सकेगा। कृपया युद्ध में प्रवेश के लिये अपनी आज्ञा और आशीर्वाद दीजिये।" धर्मराज के व्यवहार को देखकर द्रोणाचार्य का हृदय भी द्रवित हुआ। द्रोणाचार्य इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने जीवन का गुप्त रहस्य ही प्रकट कर दिया कि उनकी मृत्यु कैसे हो सकती है।

इस उदाहरण से हमें यही शिक्षा मिलती है कि यदि हम अपने आचरण को सही रूप दें, सत्य और नैतिकता के मार्ग को अपनायें, धर्म का आचरण करें तो वही हमारी रक्षा करेगा और विजय प्राप्ति का मार्ग बनायेगा। केवल इसीलिये कि आप किसी संकट में पड़ गये हैं, समय और परिस्थितियां आपके अनुकूल नहीं हैं, आपको नैतिकता का त्याग नहीं करना चाहिए, सत्पथ से कभी विचलित नहीं होना चाहिए। चाहे आपकी हार ही क्यों न हो जाये, आपको सत्य के मार्ग पर दृढ़ता के साथ चलते रहना चाहिये, विजय प्राप्त करने की इच्छा से सत्य का मार्ग छोड़कर कुपथ-गामी नहीं बनना चाहिए, गलत रास्ते और तरीके कभी नहीं अपनाने चाहिये। चाहे कितना भी छोटा कार्य हो, कितनी ही छोटी बात हो हमें उसे सत्य की तुला पर तौल कर देख लेना चाहिए कि वह सही है या गलत, उचित है या अनुचित। यदि आप अनुचित मार्ग अपनायेंगे तो यह निश्चित है कि आप कठिनाइयों और मुसीबतों में फंस जायेंगे। जैसे गलत और अनुचित खेल खेलने पर खिलाड़ी को खेल के मैदान से बाहर निकाल दिया जाता है और फिर खेलने का अवसर नहीं दिया जाता। यही दशा आपकी हो

सकती है। यदि खिलाड़ी हार रहा हो किन्तु खेल के नियमानुसार खेलता रहता है तो अन्तिम समय तक उसे अपनी जीत के प्रयत्न करते रहने का अवसर रहता है। यदि हार भी जाता है एक बार तो फिर से खेलने का अवसर आने पर वह अपने प्रयत्न कर सकता है। यदि खिलाड़ी का आचरण अनैतिकता पूर्ण रहता है तो उसके खेलने पर सदा के लिये प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। आपसे जाने अनजाने में कोई गलती हो जाती है किन्तु आप उसको स्वीकार नहीं करेंगे और झूठ बोलेंगे तो यह आपके लिये उचित नहीं होगा, आप सबकी नजरों में गिर जायेंगे और सभी आपको बुरा कहेंगे। इसके विपरीत जाने-अनजाने यदि आपसे कोई भूल-चूक हो गयी है, कोई अनुचित कार्य हो गया है और आप उसे स्वीकार करते हुये सत्य बोलते हैं तो आपके माता-पिता, गुरु अथवा अन्य वरिष्ठजन आपसे चाहे थोड़ा बहुत नाराज भले ही होलें किन्तु आप पर उनका अनुग्रह बना रहेगा और वे आपको क्षमा कर देंगे। इस प्रकार आपका हित-अहित आपके स्वयं के सत्य-आचरण पर है।

इसलिये आप लोगों के लिये तो सर्वप्रथम आवश्यकता है अपने भीतर आत्म-विश्वास पैदा करने की। आजकल ऐसी स्थिति आ गयी है कि विद्यार्थियों में आत्म-विश्वास बिलकुल रह ही नहीं गया है। जिस व्यक्ति में आत्म-विश्वास नहीं वह किसी भी क्षेत्र में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। जब व्यक्ति में आत्म-विश्वास होता है तभी उसमें आत्म-संतोष होता है। इसलिये आजकल लोगों में आत्म-संतोष नहीं रहा। वे असंतोष, निराशा और कुंठा में घुले जा रहे हैं। एक चिड़िया किसी भी वृक्ष की फुनगी, नाजुक टहनी पर जा बैठती है और वह जोर से ऊपर-नीचे हिलने लगती है किन्तु चिड़िया इस भय से वहां से नहीं उड़ जाती कि कहीं गिर न जाये, उसे तनिक भी भय नहीं रहता। क्या कारण है इसका ? बात यह है कि चिड़िया को अपनी सुरक्षा का भरोसा अपने पंखों पर है, अपने स्वयं पर है न कि उस टहनी पर, टहनी चाहे जितनी हिले और चाहे टूट ही क्यों न जाये उसे इसकी लेशमात्र चिन्ता नहीं क्योंकि उसे अपने पंखों पर पूरा विश्वास है और भी किसी भी क्षण कैसी भी स्थिति में वहां से उड़ सकती है और अपनी रक्षा कर सकती है। देखिये कितना आत्म-विश्वास होता है एक छोटे से पक्षी में भी। और दूसरी ओर आजकल के विद्यार्थी को देखें जो यह कहता है कि वह अच्छी प्रकार शिक्षित है, अपने आपको बहुत ही चतुर और होशियार बताता है, अपने सर्वगुण सम्पन्न होने का दावा करता है, किन्तु वास्तव में यदि आप देखें तो पायेंगे कि उसे अपने आप पर आत्म-विश्वास बिलकुल नहीं है। जब वह किसी काम को करने के लिये तैयार होता है तो वह यह

सोचने लगता है कि मैं इसे इस प्रकार करूं या उस प्रकार करूं और अनेकों संदेहों के जाल में फँसकर भ्रमित हो जाता है और कुछ नहीं कर पाता। जिसे अपने स्वयं पर भरोसा नहीं वह किसी दूसरे पर कैसे विश्वास करेगा ? उसका जीवन संदेहों से बोझिल हो जायेगा। उसका एक पूर्ण, सुसम्बद्ध, एकीकृत और स्वस्थ व्यक्तित्व के रूप में विकास नहीं हो पायेगा। इसलिये ऐसा मार्ग अपनाया जाना चाहिए जिसमें संदेह न रहे। संदेहों से मुक्त रहने के लिये दिल और दिमाग, मन और मस्तिष्क को साफ और पवित्र रखना आवश्यक है। इस शुद्धता और पवित्रता को प्राप्त करने के लिये आपको अपनी दृष्टि को, वाणी को, अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने नियंत्रण में रखना होगा, संयम बरतना होगा। जब आप कोई अनुचित या बुरा कार्य कर डालते हैं, तो उसके पूर्व कुछ न कुछ ऐसा कृत्य अवश्य होता है जिसमें आपकी आंखों ने कुछ बुरा देखा हो या आपने कुछ बुरे शब्द सुने हों जिनको सुनकर आप उत्तेजित हो उठे हों या आपने कुछ ऐसा अनुभव किया हो जिसके कारण आप मन का संतुलन खो बैठे हों। इस प्रकार आदमी अपने जीवन भर पागल बना रहता है यदि आप युवक-गण इस बात की पूरी सावधानी रखें सजग रहें कि आप बुरा न देखें, बुरा न सुनें और बुरा न बोलें तो आप अपने मन और विचारों को, दिल और दिमाग को शुद्ध और पवित्र बना सकते हैं। यह हम अच्छी तरह से जानते हैं आज के इस भौतिकता-वादी युग में कितने अधिक भौतिक आकर्षण हैं। हम यह सोचने लगते हैं कि संसार की इस भौतिक प्रगति और उपलब्धियों के आधार पर हमें बड़ी सुख-सुविधायें प्राप्त हैं। किन्तु ऐसा है नहीं। जब तक ये भौतिक आकर्षण, भौतिक इच्छायें आपकी आँखों और कानों तक पहुंचते नहीं हैं, आप उनको भोगते नहीं हैं, आप उनके प्रभाव से बिलकुल बचे रहते हैं। मैं आपको एक उदाहरण देकर आज का भाषण समाप्त करूंगा। आज आप इस समय यहां खड़े हैं। द्वार के पीछे खड़ा कोई आपकी प्रशंसा कर रहा है। कुछ अच्छी बात दरवाजे के उस पार हो रही हैं और आपके कान दरवाजे के इस ओर लगे हैं, जब तक आपके कान उस ओर नहीं जाते आप उस बात को नहीं सुनते आपको कोई प्रसन्नता नहीं होती। इसी प्रकार दरवाजे के उस पार यदि आपकी कोई बुराई कर रहा है और इस ओर खड़े हुये आप उसको नहीं सुन रहे हैं तो आपको न तो कोई उत्तेजना होगी, न ही कोई खेद या निराशा। किसी प्रकार की उत्तेजना, खेद या निराशा तो तभी होगी जब या तो आप स्वयं सुन लें या कोई आकर आपसे कहे कि अमुक आपकी बुराई कर रहा था। हमारे मन की क्रिया-प्रतिक्रिया तो उपयुक्त इन्द्रियों के किसी घटना कार्य या विचार से हुये सम्पर्क पर निर्भर करती है।

इसके फलस्वरूप हमारे विचारों में दूषण पैदा होता है, खराबी आती है वह और भी भयंकर और खतरनाक होती है। शायद बहुत से लोगों के मनों में सन्देह उठते हों और वे कहते हों कि स्वामी तो यहां बहुत ही बड़े-बड़े विद्वानों और अनुभवी व्यक्तियों को बुलाकर इकट्ठा कर देते हैं। अब इन लोगों के द्वारा विद्यार्थियों के सामने भाषण करवा देने से क्या विद्यार्थियों में कोई सुधार या परिवर्तन आ सकता है ? ऐसी बातें होती रहती हैं लोग संदेह करते रहते हैं। ९९ प्रतिशत लोगों के मनों में संदेह रहते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि सुनने वालों में जिज्ञासा है और सुनाने वाला अपने अनुभव से बात कहता है तो उसका प्रभाव निश्चित रूप से होता है मन परिवर्तित हो जाता है। एक छोटे से उदाहरण से इसे समझें। एक अध्यापक अपने शिष्यों को अच्छी-अच्छी बातें सिखाता है। उस स्कूल में एक ऐसा व्यक्ति आता है जिसके पास कुछ अधिकार और सत्ता है। अध्यापक विद्यार्थियों को पढ़ाता रहता है और आने वाले व्यक्ति की ओर इसका ध्यान नहीं जाता। वह व्यक्ति क्योंक अधिकारी और सत्ता सम्पन्न था, अपने आपको उपेक्षित और अपमानित सा अनुभव करता है तथा कक्षा में जाकर अध्यापक से कहता है, "क्या कारण है कि तुमने मेरी बिलकुल परवाह नहीं की ? बाहर आकर मेरी अगवानी भी नहीं की, पूछा तक नहीं। तुम कर क्या रहे थे ?" अध्यापक ने उत्तर दिया, "मैं इन विद्यार्थियों को कुछ अच्छी बातें समझाने में व्यस्त था।" वह व्यक्ति उत्तर से संतुष्ट नहीं हुआ और बोला, "तुम इन विद्यार्थियों को अच्छी बातें बता रहे थे, क्या इससे इनमें कोई परिवर्तन होगा, क्या ये पवित्र बन जायेंगे।" 'हां' क्यों नहीं। मैं जो कुछ इन विद्यार्थियों को सिखा रहा हूं उससे इनके हृदयों में अवश्य परिवर्तन आयेगा। अध्यापक का उत्तर था। किन्तु वह व्यक्ति मानने को तैयार नहीं था और बोला, "नहीं मैं तुम्हारी बात का विश्वास नहीं कर सकता।" अध्यापक ने कहा, "जब आप मानने को तैयार नहीं, इसका अर्थ है आपको विश्वास नहीं है। किन्तु आपके विश्वास न करने के कारण मैं इन विद्यार्थियों को अच्छी बातें पढ़ाना नहीं त्याग सकता।" किन्तु वह व्यक्ति अपने आपको बड़ा आदमी समझता था इसलिये अध्यापक की बात को अस्वीकार करते हुए तर्क देने लगा कि केवल बातों से किसी के मन में परिवर्तन नहीं होते, दिल-दिमाग नहीं बदला करते हैं, उस व्यक्ति की बातों को सुनकर अध्यापक ने अपने एक विद्यार्थी से कहा, "देखो, उन आगन्तुक महोदय को जरा गले से पकड़ कर बाहर करो ताकि इन्हें बाहर की हवा लगे।" इतना सुनना था कि वह व्यक्ति क्रोध से आग-बबूला हो गया, चेहरा तमतमा उठा, आंखें लाल हो गयीं, वह तन कर खड़ा हो गया तथा अध्यापक को मारने के लिये आगे बढ़ा। अध्यापक ने विनम्रता से हाथ जोड़कर कहा, "महोदय आप इतने क्रोधित क्यों हो गये ? हमने आपको मारा तो नहीं आपको

बाहर तो नहीं किया, मैंने तो अपने मुंह से कुछ शब्द ही तो इस बालक से कहे हैं और आप इस हद तक नाराज़ हो गये हैं। आपके अनुसार तो कुछ कह देने मात्र से दिल-दिमाग नहीं बदलते हैं किन्तु मेरे द्वारा इस बालक को कहे कुछ शब्दों को सुन कर ही आपके दिमाग का पारा तो आसमान पर चढ़ गया, दिल में उफान आ गया और आप इतने उत्तेजित हैं कि कुछ भी करने को तैयार हैं। अतएव आपका यह कहना बिलकुल गलत है कि बातों से मन नहीं बदलते। केवल कुछ शब्दों के द्वारा आप कितनी भी उत्तेजना पैदा कर सकते हैं, लोगों को भड़का सकते हैं और कुछ ही शब्दों द्वारा भड़कती आग को शान्त कर सकते हैं, क्रोध को प्रेम में परिवर्तित कर सकते हैं। शब्दों के द्वारा जहां आप किसी के कोप भाजन बन सकते हैं वहाँ शब्दों के द्वारा आप किसी का परम अनुग्रह पा सकते हैं।" इसलिये इस संसार में यदि आप प्रेम और मित्रता बढ़ाना चाहते हैं तो आपको बहुत ही मधुर भाषी होना चाहिए, आपके शब्द विनम्रता और प्रेम से पगे हों, शान्ति और पवित्रता के वाहक हों। इसके विपरीत यदि आपकी वाणी कर्कश है, आपके शब्द कठोर हैं, सुनने में दूसरों को अखरते हैं और बुरे लगते हैं, उत्तेजना पैदा करते हैं तो आप संसार में कभी मैत्री भाव नहीं फैला सकते, उलटे शत्रुता ही बढ़ायेंगे। मैं आशा करता हूं कि दूसरों के साथ वार्तालाप में आप अपनी वाणी में सदा विनम्रता और मधुरता ही अपनायेंगे। आप जानते हैं कि आंखें केवल देख सकती हैं, कान केवल सुन सकते हैं नाक केवल सूंघ सकती है, त्वचा केवल स्पर्श अनुभव कर सकती है। किन्तु जिह्वा एक ऐसी इन्द्रिय है जो रस या स्वाद भी लेती है और शब्दों का उच्चारण भी करती है। जिह्वा में दोहरी शक्ति है इसलिये इस पर नियन्त्रण भी दोहरा रखना चाहिए। आप जिह्वा की सहायता से मधुर और विनम्र शब्दों में भगवान से प्रार्थना करके अपने हृदय की बात कहकर उनका अनुग्रह प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये आपके जीवन में घृणा का भाव नहीं आना चाहिए, आपको कभी कोई बुराई नहीं ग्रहण करनी चाहिए उनसे बचकर रहना चाहिये। इस प्रकार जीवन में सत्य, सहिष्णुता, प्रेम और विनम्रता का मार्ग अपना कर आप भगवान का अनुग्रह प्राप्त कर सकते हैं, आप अपना ऐसे आदर्श रूप में विकास कर सकते हैं कि सफलता के चरम लक्ष्य तक पहुचें और देश के सुयोग्य नागरिक सिद्ध हों। मुझे आशा है कि आप लोग ऐसा ही जीवन मार्ग अपनायेंगे। मैं आप सबको आशीर्वाद देता हूं।

———

६

ध्यान के विषय में

मुसलमान अल्लाह का नाम लेकर प्रार्थना करते हैं तो यहूदी जेहोवा का नाम लेकर, वैष्णव विष्णु के नाम से तो शैव शम्भु के नाम से। लेकिन इन विभिन्न नामों से जो प्रार्थना की जाती है वह पहुंचती एक के पास ही है ग्रौर वह है परमात्मा जो सब को सुख ग्रौर समृद्धि प्रदान करता है। परमात्मा के अनन्त नाम हैं ग्रौर विभिन्न लोग उन्हें विभिन्न नामों से पुकारते हैं ग्रौर प्रार्थना करते हैं। लोग शिक्षा ग्रहण करते हैं किन्तु उसका उपयोग केवल जीवन यापन के लिए धन कमाने के लिए करते हैं जिससे उनकी इच्छाओं की पूर्ति हो सके। ऐसी शिक्षा का क्या उपयोग जो मनुष्य को पूर्ण ग्रौर स्थायी सुख ग्रौर ग्रानन्द प्रदान नहीं कर सके। यदि मनुष्य ग्रपने साथी मनुष्यों को परमात्मा तक पहुंचने का मार्ग नहीं बता सकता तो फिर उसके जीवन की क्या सार्थकता रही। प्रत्येक चढ़ाव के बाद उतराव ग्राता है, प्रत्येक उत्थान के बाद पतन निश्चित होता है। जीवन में इस विपरीतता से कोई बच नहीं सकता। ग्रनुराग से ग्रासक्ति बढ़ती है और मनुष्य मोह ग्रस्त हो जाता है ग्रौर ग्रन्त में वही विद्रोह के परिणाम स्वरूप जो ग्रनिवार्य होता है, कष्ट का कारण बनता है। मनुष्य राग-विराग, सुख-दुख के द्वन्दों के बीच उछलता ग्रौर थपेड़े खाता रहता है। इस स्थिति से बचने का केवल एक ही उपाय है ग्रौर वह है परमात्मा की शरण प्राप्त करना, पूर्ण श्रद्धा ग्रौर विश्वास के साथ अपने ग्रापको परमात्मा के प्रति समर्पित कर देना। प्रातः काल जब मनुष्य उदय होते हुए सूर्य को देखता है तो वह बड़ी प्रसन्नता का ग्रनुभव करता है। जब वह ग्रस्त होते हुए सूर्य को देखता है तो वह आने वाले कल के संबंध में सोचकर प्रसन्न हो जाता है। किन्तु सूर्योदय ग्रौर सूर्यास्त के इस क्रम में मनुष्य के जीवन का एक बहुमूल्य दिन समाप्त हो जाता है यह मनुष्य नहीं सोचता। प्रत्येक मनुष्य सब कुछ अच्छा ही ग्रच्छा प्राप्त करने की इच्छा रखता है, किन्तु वह यह नहीं सोचता कि ग्रपने हृदयों को कैसे परिवर्तित करें, ग्रपना कैसे सुधार ग्रौर विकास करें

कि वह सदा अच्छाई का, शुभ का ही अनुभव करता रहे। जन्म से लेकर मरण तक मनुष्य केवल इन्हीं प्रश्नों पर विचार करता रहता है कि मैं जीवन में क्या लाभ प्राप्त कर सकता हूं ? मैं जीवन में क्या सुख प्राप्त कर सकता हूं ? कौन मुझे सहयोग दे सकता है और मेरे लिये क्या हितकर हो सकता है ? किन्तु वह दूसरे पक्ष की ओर ध्यान नहीं देता कि मैं किस रूप में संसार के लिए लाभकारी बन सकता हूं। मैं किस प्रकार समाज के लिये उपयोगी हो सकता हूं ? मैं अपने सम्पर्क में आने वाले अन्य लोगों का क्या हित कर सकता हूं ? वह ऐसे प्रश्नों पर कहां विचार करता है। वह तो केवल अपने स्वार्थ-लाभ और सुख-सुविधाओं की प्राप्ति की चिन्ता करता रहता है, लेने ही लेने की सोचता है, देने की नहीं, यद्यपि परमात्मा ने उसे इसके लिये बहुत कुछ दिया हुआ है। मनुष्य की यह स्वार्थ और लोभपूर्ण प्रवृति उसके लिए ही बहुत घातक सिद्ध होती है। मनुष्य को यह भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि जीवन एकपक्षीय नहीं है केवल लेने ही लेने के लिए, बल्कि उसमें लेने से अधिक देने की आवश्यकता होती है। इसलिए मनुष्य को लेने के साथ-साथ देने के लिए भी सदा तैयार रहना चाहिए।

मनुष्य जीवन के पावन कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को दृष्टि में रखते हुए हमारे शास्त्रों ने मनुष्य के लिए चार पुरुषार्थ बताये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रत्येक अनुभवी विद्वान और ज्ञानी पुरुष हमें यही बतायेगा कि इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष ही हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति के लिये हमें सदा प्रयत्न-शील रहना चाहिए। जब मोक्ष ही परम लक्ष्य है तो फिर अर्थ और काम भी बीच में क्यों ? अर्थ और काम अनिवार्य हैं और इसका भी गूढ़ आन्तरिक अर्थ है, ये यों ही व्यर्थ नहीं हैं। मोक्ष अन्तिम और सर्वोच्च स्थिति है, परम-पद है। इस स्थिति तक पहुंचने के लिये, उस ऊँचाई तक चढ़ने के लिए हमें सीढ़ी की आवश्यकता होगी। इस सीढ़ी में अनेकों सोपान (डंडे) होने चाहियें और उसे खड़ी रखने के लिए टेक होनी चाहिए। यह टेक धरती की होती है। इसे प्रकृति भी कहते हैं। सीढ़ी के दो पार्श्व (बाजू) होते हैं जिनके बीच में सोपान (डंडे) लगे होते हैं ये दोनों पार्श्व हैं अर्थ और काम जो धरती अर्थात् प्रकृति पर टिके रहते हैं। सीढ़ी को आधार याने टेक देने वाली प्रकृति ही धर्म हैं इस सीढ़ी की सहायता से हम सर्वोच्च स्थिति या परम पद तक पहुंचने के प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म के आधार पर काम और अर्थ की सहायता से निर्मित सोपानों के सहारे परम लक्ष्य मोक्ष-धाम तक पहुंचा जा सकता है। यदि हम मुख्य आधार धर्म और चरम लक्ष्य मोक्ष को भुला देंगे तो केवल अर्थ और काम व्यर्थ हो जायेंगे, वे किसी रूप में सार्थक नहीं होंगे।

प्रत्येक व्यक्ति जो इस पृथ्वी पर जन्म लेता है उसे इस संसार को उसकी प्रकृति को, इसके रहस्य को समझना चाहिए। धर्म ही सारे संसार को धारण करने वाला है, धर्म पर ही धरती टिकी है, समस्त सृष्टि स्थित है इसलिए मनुष्य मात्र को धर्म का पालन करना चाहिए। आप लोगों को राम कथा बहुत ही सुन्दर सरस ढंग से बतायी गयी थी। जीवन क्या है ? हम इससे क्या समझते हैं ? हम यह मानते हैं कि मनुष्य का श्वास जो वह भीतर लेता है और बाहर निकालता है, वह ही उसका जीवन प्राण हैं और उसे ही हम जीवन समझते हैं। यह श्वास जो हम लेते हैं और बाहर निकालते हैं कैसी ध्वनि करता हैं ? जो सूक्ष्म ध्वनि हम सुनते हैं उसका आन्तरिक अर्थ क्या है ? यद्यपि कि हम दिन भर सदा सततरूप से साँस लेते रहते हैं किन्तु कभी रुक कर यह नहीं सोचते कि इस श्वास-उच्छवास का अर्थ और महत्व क्या है। 'सोऽहम्' के साथ हम सांस भीतर लेते और बाहर निकालते हैं। 'सो' का अर्थ होता है 'वह' या 'ब्रह्म'। 'अहम्' का अर्थ होता है 'मैं'। इस प्रकार जब हम सांस भीतर लेते हैं और बाहर निकालते हैं तो उसके साथ जो सूक्ष्म ध्वनि होती है 'सोऽहम्' उसका अर्थ होता है 'मैं ब्रह्म हूं' मैं ब्रह्म हूं। इस ध्वनि में जो मुख्य और महत्वपूर्ण है वह है प्रणव। इस प्रणव से ही अन्य सब ध्वनियां उत्पन्न और विकसित होती हैं, प्रणव ही सबका आदि और मूल है इसलिए कहा गया है 'एकोऽहम् बहुस्यामः' एक से अनेक होते हैं। भजन में हम हारमोनियम बजाते हैं—कुछ लोग पियानो का भी उपयोग करते हैं। अब हम सोचें कि हारमोनियम में हम करते क्या हैं ? उसमें हवा ही तो भरते हैं बस। किन्तु जब एक रीड को दबाते हैं तो हमें एक प्रकार की ध्वनि सुनाई पड़ती है, दूसरी रीड के दबाने पर दूसरी तरह की। इस प्रकार एक ही मूल तत्व वायु से हमें विभिन्न रीडों के दबाने पर विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई पड़ती है। किन्तु ये विभिन्न ध्वनियां-अलग-अलग तरह की आवाजें आती कहां से हैं ? वे आती हैं उस एक ही वायु से जो हारमोनियम में भरी जाती हैं। जिस प्रकार हारमोनियम से निकलने वाली अनेकों प्रकार की ध्वनियों का मूल आधार केवल एक ही वायु होती है, इसी प्रकार ओंकार की ध्वनि है। इस मूल ध्वनि से ही हमें अनेकों ध्वनियां प्राप्त होती हैं जो केवल ओंकार की ध्वनि का ही रूपान्तरण हैं। इसी सन्दर्भ में महर्षि ने राम के लिए कहा है, "रामो विग्रहवान् धर्मः" अर्थात राम धर्म की मूर्ति हैं। जिस प्रकार ओंकार में तीन ध्वनियां हैं अ, उ, म्, इसी प्रकार राम जो धर्म रूप हैं उनके भी तीन सहायक है लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न। लक्ष्मण 'अ' के समान है, भरत 'उ' के समान और शत्रुघ्न 'म्' के समान है, और जिस प्रकार अ, उ म् से 'ओ३म्' बनता है इसी प्रकार धर्म रूप राम लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न सम्मिलित रूप हैं। राम ही ओंकार हैं। इस

लिए हमें राम के आन्तरिक अर्थ को समझना होगा। राम ओंकार ही है और उन्होंने इस धरती पर धर्म की स्थापना के लिए ही अवतार धारण किया। जब हम उपनिषदों की शिक्षा के अर्थ को समझने का प्रयत्न करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि ओ३म् ही 'एकाक्षर ब्रह्म' है 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' अर्थात् केवल एक ब्रह्म ही है, दूसरा कुछ नहीं। जब हम अपने महान ऋषियों और महावाक्यों(१) या उनके द्वारा दी गई शिक्षाओं के सम्बन्ध में सोचते विचारते हैं तो हमें ज्ञात होता है सम्पूर्ण जगत मिथ्या है, केवल ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नही, कोई द्वैत नहीं केवल अद्वैत है।(२) द्वैत दर्शन के मानने वाले अद्वैत दर्शन के मत को स्वीकार नहीं करते हैं किन्तु इससे अद्वैत दर्शन किसी प्रकार कहीं कमजोर नहीं होता है। कोई भी क्यों न हो चाहे वह द्वैतवादी हो या अन्य किसी वाद का मानने वाला, आस्तिक हो या नास्तिक, योगी हो या सांसारिक सुख-भोगों में लिप्त भोगी, एक न एक दिन वह परम सत्य को अवश्य समझगा और उसे अद्वैत दर्शन के सत्य को स्वीकारना पड़ेगा। जब हम गहराई से चिन्तन मनन करते है संसार के सत्य को जानने के लिए सद् प्रयत्न करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि नाना रूपों में दिखायी देने वाला यह संसार मूल रूप में एक है कोई द्वैत हैं ही नहीं केवल एक ही है, वह अद्वैत तत्स्वरूप याने एक ब्रह्म का ही रूप है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। जो भी कुछ अनेकता हमें दिखाई देती है वह केवल हमारे अज्ञान या अविद्या के कारण है, माया का चमत्कार है। इस जगत में हमें जो भिन्नता, विविधता और अनेकता है, उसका आधार एक ही है, मूल एक ही है अनेक नहीं। यदि आप १, २, ३ संख्यां लिखते हैं तो यह केवल आपकी अपनी सुविधा और समझ के लिए है। ऊपर से देखने में तो ये तीनों अंक भिन्न लगते हैं किन्तु इन तीनों में १ का अंक अभिन्न रूप से विद्यमान है और उस एक का विस्तार ही ये विविध रूप धारण किए हुए हैं जो हमने अपनी सुविधा समझ के लिए बना लिए हैं। यदि आपके पास केवल १ का ही अंक हो तो यह पर्याप्त होगा। इससे आप २ भी प्राप्त कर सकते हैं १ में १ जोड़कर और इसी प्रकार आप तीन प्राप्त कर सकते हैं १ में १ और उसमें फिर १ जोड़कर और इस प्रकार आप कुछ भी संख्या प्राप्त कर सकते हैं ४ या ४००० या ४०००० एक-एक को जोड़कर। कोई

---

१. चार महा वाक्य—

१. प्रज्ञानं ब्रह्म, २. तत्वमसि, ३. अहं ब्रह्मास्मि ४. अयमात्मा ब्रह्म।

२. सर्वं खल्विदं ब्रह्मनेह नानऽस्ति किंचनं—
बेदान्त दर्शन का मूल वाक्य है।

भी अंक ऐसा नहीं है जो इस १ के अंक से प्राप्त नहीं किया जा सकता है, जटिल गणित विज्ञान की समस्त संख्याओं और अंकों का विस्तार केवल एक से ही है। इसी प्रकार समस्त जगत का सम्पूर्ण नाना रूपों में विस्तार एक से ही है। मनुष्य अकेला जन्म लेता है और अकेला जाता है। जन्म और मृत्यु के बीच जीवन में वह अविद्या, अज्ञान माया के कारण अनेकता, विभिन्नता देखता है किन्तु वास्तविकता को जानने के लिए खोज करते रहने पर जब सत्य-ज्ञान का उदय होता है तो हम अनेकता, विविधता और भिन्नता में भी एकता देखते हैं, यह जान जाते हैं कि विविधता केवल अज्ञान और अविद्या के कारण है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति अद्वैत के दर्शन प्राप्त करना चाहता है तो उसे प्रारम्भ विविधता या अनेकता से ही करना पड़ेगा।

हमारे उपनिषदों में(१) उद्दालक और श्वेतकेतु की कथा है। उद्दालक(२) गुरुपद प्राप्त एक ब्रह्मवेत्ता ऋषि थे। उनके एक पुत्र था श्वेतकेतु। श्वेतकेतु ने बहुत प्रयत्न किया कि उसके पिता उद्दालक उसे अपने शिष्य के रूप में शिक्षा प्रदान करें किन्तु इसके लिए उद्दालक तैयार नहीं हुए क्योंकि पिता पुत्र के सम्बन्ध की भावना सदा बने रहने के कारण गुरु-शिष्य का अपेक्षित अनुशासन पूर्ण आदर्श सम्बन्ध नहीं रह पाता। पुत्र सदा यही समझेगा शिक्षक उसका पिता है। पुत्र की उत्पत्ति पिता की कामना से होती है अतएव वह 'काम पुत्र' कहलाता है और इसीलिए पिता का पुत्र के प्रति स्नेह सदा बना रहता है। सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए शिक्षा दिये जाने के मार्ग में ऐसी स्थिति अनुकूल नहीं होती जहां लगाव और मोह के कारण अनुशासन में ढील और पक्षपात आवे। उद्दालक इन सब बातों को भली प्रकार समझते थे इस लिए उन्होंने सुयोग्य गुरु की खोज कर श्वेतकेतु को उनके सुपुर्द कर दिया। श्वेतकेतु में समझ की कमी थी, उसे कोई अनुभव नहीं था। वह यह सोचने लगा कि पिताजी को इतनी विद्या नहीं आती कि वह मुझे शिक्षा दे सकें इसलिए दूसरे के पास पढ़ने के लिए मुझे भेज रहे हैं। कुछ वर्षों तक श्वेतकेतु ने अपने गुरु के पास शिक्षा ग्रहण की और विद्याध्ययन समाप्त कर वह उच्चज्ञान का अहंकार लेकर घर लौटा। यह देखकर उसके पिता ने पूछा, "तुमने क्या विद्या प्राप्त की है? किन-किन दर्शन पद्धतियों का तुमने अध्ययन किया है? क्या ब्रह्म के सम्बन्ध में भी कुछ जाना?

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् में।

२. उद्दालक अरुणि नाम से विशेष विख्यात हैं। ये धौम्य ऋषि के शिष्य थे। इतिहास में ये याज्ञवल्क्य के समकक्ष माने जाते हैं।

क्या तुमने वह ज्ञान प्राप्त किया जिसके सुनने से जो कुछ सुनने योग्य है वह सब कुछ सुना हुआ हो जाता, जिसके जानने से जो कुछ जानने योग्य है वह जान लिया जाता है ?" ऐसे प्रश्न पिता ने अपने पुत्र से किए ! पिता जब ये प्रश्न पूछ रहा था तो श्वेतकेतु बड़े उपेक्षा भाव से सुन रहा था और ऐसे गर्व और श्रेष्ठता का प्रदर्शन कर रहा था मानो उसके समान ज्ञानी कोई है ही नहीं । उद्दालक सदृश ब्रह्मवेत्ता से भला उसका मिथ्याभिमान कहां छिपा रह सकता था क्योंकि श्वेतकेतु ने जो उत्तर दिए उससे उसके ज्ञान की अपरिपक्वता और अनुभवहीनता ही प्रकट हुई । उद्दालक ने सोचा कि उसके पुत्र को शब्दों द्वारा ब्रह्मज्ञान नहीं समझाया जा सकता । वह अपने हाथ में कुछ शक्कर (चीनी) लाया और उसे अपने पुत्र को दिखायी । फिर उसने वह शक्कर पानी से भरे बर्तन में डाल दी और एक डंडी की सहायता से खूब हिला दिया जिससे कि वह पानी में पूरी तरह घुल गयी । फिर उसने अपने पुत्र की ओर देखते हुए कहा, "मैं अपने हाथ में कुछ शक्कर लाया था जिसे तुमने स्वयं देखा था क्या तुम बता सकते हो वह शक्कर इस समय इस पात्र में किस स्थान पर है ?" पुत्र ने बर्तन में झांक कर देखा किन्तु वह किसी स्थान पर दिखायी नहीं दी । पिता ने बर्तन से कुछ पानी की बूंदें पुत्र की जीभ पर डालीं और पूछा, "कहो कैसा स्वाद लगता है ? इस पात्र में से किसी भी स्थान से कोई भी बूंद लेकर उसको चख सकते हो ।" पुत्र ने स्वीकार किया कि शक्कर पानी की हर बूंद में है और इस प्रकार बर्तन में हर स्थान में है जहां पानी है । तब पिता ने समझाया, "जैसे कि तुमने अभी देखा शक्कर पानी की हर बूंद में और पात्र में हर स्थान पर जहाँ पानी है शक्कर है इसी प्रकार ब्रह्म सगुण रूप धारण करता है और समस्त जगत में सर्वत्र व्याप्त रहता है, हर पदार्थ और प्राणी में जो तुम्हें दिखायी देते हैं । ब्रह्म को आप अलग से अपनी आंखों से नहीं देख सकते । न अपने हाथों से उसे पकड़ ही सकते हैं, आप तो उसका केवल अनुभव मात्र कर सकते हैं । आप अपने भौतिक शरीर से सर्वत्र विद्यमान और सर्वव्यापी ब्रह्म की केवल सूक्ष्म अनुभूति ही कर सकते हैं ।

जब ब्रह्म की सर्व व्यापकता की, अद्वैत की, अनुभूति हो जाये तब ही आप अद्वैत की बात कर सकते हैं ब्रह्म के सम्बन्ध में यह कह सकने के अधिकारी होते हैं कि वह सर्वव्यापक है, सर्वशक्तिमान है आदि-आदि । अन्यथा केवल किताबी ज्ञान और तोता रटन्त के द्वारा ब्रह्म का तथा उस सर्वव्यापकता का निरूपण करना जैसे तुम वास्तव में सब कुछ जानते हो, केवल ढोंग है मिथ्याचरण है । सामान्य बोल-चाल में या भौतिक संसार के कार्यों में अद्वैत की शिक्षा देना या व्याख्या करना सम्भव नहीं है । यदि आप अपनी उंगली मुंह में डाल लेते हैं तो उसे मुंह से बाहर निकालने

पर पानी से धोते हैं। यदि एक व्यक्ति के स्वयं के अपने ही अंगों और इन्द्रियों के बीच इतना अन्तर और भेद रहता है तो फिर हम सम्पूर्ण संसार की एकता की, अद्वैत की बात कैसे करते हैं ? किन्तु इस परम सत्य को कि परमात्मा एक ही है और वह सम्पूर्ण जड़ और चेतन जगत् में समान रूप से व्याप्त है, समझने के लिए, उस पर विश्वास लाने के लिए, और सारे सन्देहों का निवारण कर अनुभव के आधार पर उसे दृढ़ बनाने के लिए आपको इस क्षेत्र में अनुभव-प्राप्त लोगों के सत्संग का लाभ उठाना होगा, उन्हें सुनना होगा, या शास्त्रों को पढ़ना होगा अथवा उनके सम्बन्ध में उनके विषय में ज्ञान रखने वालों से सुनना होगा। किन्तु सुनकर और पढ़कर ही सब कुछ नहीं हो जाता जब तक आप स्वयं उसका व्यावहारिक रूप में अनुभव नहीं कर लेते हैं और ऐसा अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद ही आप लोगों को इस विषय को बता और समझा सकते हैं। जब हम इस सत्य को लेते हैं कि संसार के सब प्राणियों में एक ही ब्रह्म समान रूप से व्याप्त है, तो हम इसकी परीक्षा करने पर अनुभव से पाते हैं कि एक जीव दूसरे से कितना भिन्न है, उनमें आपस में महासागरों के समान गहरा अन्तर और भेद है। एक चींटी को ले, जब वह आपके पास आती है तो आप उसे हटा देते हैं। अब सर्प के विषय में देखें। जैसे ही कोई सर्प आपकी ओर आता दिखायी देता है तो आप भयभीत हो जाते हैं और भाग खड़े होते हैं। इस प्रकार का भिन्न व्यवहार जो आप दो भिन्न जीवों को देखकर करते हैं यह प्रकट करता है कि उन दोनों जीवों में और आपमें तथा सभी प्राणियों में समान रूप से उपस्थित परमात्मतत्व का आप सही अर्थों में अनुभव नहीं कर सके हैं। जिसको हम अपने दैनिक जीवन में व्यावहारिक रूप में अपना नहीं सकते उसके सम्बन्ध में दूसरों को क्या उपदेश दे सकते हैं ? इसलिए अद्वैत के सम्बन्ध में कुछ समझने या समझाने के लिए कुछ शब्दावली, वाक्यांश या उद्धरण याद करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। आपको प्रयत्न करना चाहिए कि आप उसका अपने जीवन में वास्तविक रूप में अनुभव करें। अन्यथा किसी समय कोई भयंकर खतरा भी आ सकता है और आप ऐसी स्थिति में पहुंच सकते हैं जो अद्वैत की स्थिति के बिलकुल विपरीत हो।

एक बार एक भिक्षु जो अद्वैतवाद पर बातें बनाने में पटु था, एक द्वार पर पहुंचा और भिक्षा की याचना की। गृह स्वामिनी ने कहा, "महाराज आपको केवल कच्चे चावल देने का क्या लाभ आप उन्हें खा नहीं सकेंगे। आप कृपा करके पास के तालाब में स्नान कर आवें तब तक मैं भोजन तैयार कर लेती हूं आप आ कर भोजन कर लेना।" वह बातूनी वेदान्ती कहने लगा, "गोविन्देति सदा स्नानम्"

अर्थात् गोविन्द का नाम लेते रहना ही स्नान के तुल्य है इसलिए स्नान करने की क्या आवश्यकता। वह गृहणी विदुषी थी, इसलिये उसकी इस वाचालता को पहचान गयी और बोली, "रामानामृतम् सदा भोजनम्" अर्थात् राम नाम रूपी अमृत ही सदा भोजन है—इसलिए फिर भोजन करने की क्या आवश्यकता और इतना कह कर उस वाचाल को भगा दिया। तो केवल शाब्दिक अर्थ निकालने का यह फल हुआ कि वह ब्राह्मण भूखा रह गया क्योंकि जब उसने तर्क किया कि गोविन्द का नाम लेना ही स्नान करना है तो गृहणी का उत्तर उस सन्दर्भ में सही था कि फिर राम-नाम ही भोजन है; इसलिए जब स्नान की आवश्यकता नहीं तो भोजन की भी क्या आवश्यकता है ? केवल शाब्दिक जंजाल और कुतर्क में नहीं पड़ना चाहिए।

सर्वप्रथम तो यह उपयुक्त होगा कि आप सगुण ब्रह्म को स्वीकार करें परमात्मा के किसी सगुण रूप को और फिर अभ्यास और साधना के द्वारा धीरे-धीरे आगे बढ़ते और ऊँचे उठते हुए निर्गुण निराकार अद्वैत की अनुभूति प्राप्त करें। सगुण और साकार के लिए तो पूर्व निर्धारित स्थान होता है। इसलिए सर्वप्रथम एक निर्धारित स्थान और निर्धारित समय पर आपको सगुण रूप की उपासना के लिए जाना होगा। आपको सन्देह हो सकता है कि निर्धारित स्थान और समय पर ही क्यों जब परमात्मा सर्वव्यापी है और देश काल की सीमाओं से परे है। मन्दिरों और तीर्थस्थलों पर ही क्यों ? किन्तु इस प्रश्न की सार्थकता तभी है जब अद्वैत के सर्वव्यापकता के सिद्धान्त का आप जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव कर लें आप में स्वयं में कोई द्वन्द्व न रह जाये। जब आपको सतत् साधना और अभ्यास के द्वारा यह अनूभूति हो जायेगी तो वास्तव में ही आपको किसी भी तीर्थ स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं रह जायेगी। किन्तु जब तक आपका अद्वैत का ज्ञान मात्र शाब्दिक और अनुभव से हीन है तब तक आपको किसी सगुण साकार का सहारा लेना होगा, निश्चित स्थान और समय पर वहां जाना ही होगा उस अनुभव की प्राप्ति के लिए तीर्थ-यात्रा करनी होगी, देव दर्शन करने ही होंगे। किन्तु एक बार जब इस स्थिति को पार कर लेंगे तो फिर निर्गुण और निराकार तक भी पहुंच जायेंगे जिसके लिए देश और काल की कोई सीमा नहीं, जो अनादि और अनन्त है।

यहां एक उदाहरण देता हूं जिसे सभी विद्यार्थी अच्छी तरह समझते हैं। हम गाय को लें। उसके सारे शरीर में रक्त का संचार होता है। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि दूध अपने सत्व रूप में गाय के सारे शरीर में व्याप्त रहता है। किन्तु यदि आप गाय का कान ऐंठ कर दूध निकालना चाहें तो क्या कान से दूध

निकलेगा ? यदि आप गाय की पूंछ मरोड़ कर उससे दूध प्राप्त करना चाहें तो आपको दूध मिलेगा क्या ? नहीं। यदि आपको दूध चाहिए तो गाय के निश्चित अंगों (थनों) से ही प्राप्त कर सकते हैं। फिर गाय हर समय दिन भर या रात भर भी दूध नहीं देती। दूध निकालने का समय भी और स्थान भी निश्चित करना पड़ता है और गाय की देखभाल करनी होती है। इसी प्रकार यद्यपि कि ब्रह्म सर्वव्यापी है सर्वदा और सर्वत्र समवस्थित है किन्तु यदि आप उसको पाना चाहते हैं, परमात्मा के दर्शन करना चाहते हैं तो आप को समय और स्थान निश्चित करना होगा। आपने उद्दालक की कथा में देखा कि उसने पहले शक्कर उसके प्रत्यक्ष रूप में लाकर श्वेतकेतु को बतायी थी। उस शक्कर का गुण और रूप दोनों थे। जब श्वेतकेतु उसके सगुण आकार रूप से परिचित हो गया तो उद्दालक ने उसे पानी में घोल दिया, उसका रूप जाता रहा, कुछ सीमा तक स्वाद भी बदल गया। फिर उद्दालक अपने पुत्र को निर्गुण निराकार ब्रह्म की सर्वव्यापकता और एकमेवता को समझा सका और श्वेतकेतु उसे समझ सका। इसी प्रकार आप नवयुवक-गण यदि सगुण-साकार की निर्धारित स्थान और समय पर सतत रूप से भजन, पूजन और साधना करते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ते रहें तो आप एक-एक बूंद प्राप्त करते रहेंगे जिसका रूप और स्वाद होगा और जब आप उसे महासागर में मिला देंगे तो वह बूंद अपना रूप और गुण खो देगी और उसका अनन्त महासागर के साथ एकाकार हो जाएगा।

इस विषय में मैं आपको एक और उदाहरण देता हूं कि जिसे आप एक समय नाम, रूप देश और काल की सीमाओं में बंधा देखते हैं उसको ही बाद में आप निर्गुण निराकार देश और काल की सीमाओं से मुक्त सर्वव्यापक रूप में देखते हैं। आज इस समय यहाँ एकत्रित इस सभा को लें। मैं इस समय यहां खड़ा हूं और लोगों से बातें कर रहा हूं और आप सब मेरी बातों को सुन रहे हैं। मैं और आप सब इस पांडाल में हैं और जो वार्ता मैं प्रस्तुत कर रहा हूं वह आप लगभग एक घन्टे तक सुनेंगे। समय एक घन्टे का है, इस स्थान की ओर ध्यान दें जो केवल एक छोटा सा पाँडाल है जो एक विस्तृत क्षेत्र के बीच स्थित है और आप सब एक सभा के रूप में एक इकाई बने बैठे हैं और सुन रहे हैं। आप सब में मैं भी एक हूं और आप सब में से प्रत्येक में हूं। इसके पश्चात् आप सब अपने-अपने स्थान पर, अपने नगर या ग्राम में चले जायेंगे। उसके बाद आप कभी विचार करेंगे और जो कुछ आज हुआ है इसके सम्बन्ध में सोचेंगे तथा कहेंगे कि उस दिन अमुक समय पर स्वामी संभाषण कर रहे थे अमुक-अमुक विषय पर बोल रहे थे और हम सब बैठे सुन रहे थे। उस समय जब आप याद करेंगे तो मैं

और आप सब लोग जो इस समय यहां उपस्थित है आप में आ जायेंगे। इस प्रकार आज का यह दृश्य जो आज आपके मानस-पटल पर अंकित हो गया है आपके जीवन में सदा के लिए अंकित रहेगा। किन्तु यह आज का संभाषण इस रूप और विशेषताओं के साथ आपको इस समय केवल एक घन्टे के लिए ही आनन्द दे रहा है किन्तु इतने समय में ही जो कुछ आनन्द और अनुभूति आप ग्रहण कर रहे हैं वह आपके मन और हृदय पर जीवन भर बनी रहेगी। यदि यह एक घन्टे का दृश्य, इस रूप में आपके सामने होता ही नहीं तो फिर भला यह आपके स्मृति पटल पर कैसे अंकित होता। इसलिए आपको सगुण और साकार के सम्बन्ध में उपेक्षा और हेय भावना के साथ न तो सोचना चाहिए और न ही कुछ कहना चाहिए। आपको उसे स्वीकार और ग्रहण करना चाहिए तथा उसकी सहायता से ही निर्गुण निराकार तक पहुंचना चाहिए। इसी प्रक्रिया को ध्यान कहते हैं। आज संसार में अनेकों लोग अनेकों प्रकार से ध्यान के अर्थ समझाते और शिक्षा देते हैं। ध्यान के अर्थ क्या हैं ? हम किसका ध्यान करते हैं और कौन ध्यान करता हैं ? यदि इस प्रकार हम पूर्ण जिज्ञासा के साथ सारे प्रश्नों के उत्तर खोजें तो पायेंगे कि जब तक आपके सामने कुछ नहीं होगा आप ध्यान किसका करेंगे और ध्यान कर सकना सम्भव नहीं होगा। इस लिए वह कुछ जिसका आप ध्यान करते हैं 'ध्येय' कहलाता है। बिना ध्येय को सामने रखे आप एकाग्रता नहीं प्राप्त कर सकते हैं। जो ध्यान करता है वह 'ध्याता' कहलाता है और इस प्रकार जब आप ध्यान करते हैं तो 'ध्याता' बन जाते हैं। इस प्रकार 'ध्याता' को ध्यान की प्रक्रिया से 'ध्येय' तक पहुंचना और उसकी अनुभूति प्राप्त करना है। इस प्रकार इसके तीन घटक हुए। जब ध्याता ध्यान की प्रक्रिया के साथ ध्येय तक पहुंचकर उसके साथ एकाकार हो जाता है तो ध्याता ध्यान और ध्येय तीनों एक हो जाते हैं। प्रेम के तीन घटक होते हैं प्रिय (माशूक), प्रेमी (आशिक) और प्रेम (इश्क)। प्रेमी (आशिक) अपने प्रिय (माशूक) को प्रेम (इश्क) करता है और इसके साथ एकाकार होना चाहता है। इन तीनों के सही अर्थों में एक हो जाने पर ही वह प्रेमत्व प्राप्त होता है जो सब में समान रूप से व्याप्त है। यदि तीनों अनिवार्य घटकों में से एक भी नहीं हो तो पूर्णता की अनुभूति असम्भव है। यदि प्रेमी है, प्रेम है किन्तु प्रिय नहीं तो किससे प्रेम होगा और वह सब व्यर्थ हो जाएगा। यदि प्रेम और प्रिय दोनों हैं किन्तु प्रेम नहीं तो वह भी व्यर्थ है क्योंकि बिना प्रेम के दोनों का मिलन और प्रेमत्व की अनुभूति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार यदि प्रिय है और प्रेम है किन्तु प्रेमी नहीं तो भी सब कुछ अधूरा रह जाता है। इस प्रकार तीनों का होना अनिवार्य है, प्रेमी प्रेम और प्रिय का, ध्याता, ध्यान और ध्येय का और इन तीनों के एकाकार होने पर ही प्रेमत्व की परमात्म

तत्व की अनुभूति होती है। इसीलिए कहा गया है 'प्रेम ही भगवान है' (Love is God), सदा प्रेम में रहो (Live in Love)। हमें ध्यान के इस मार्ग की पूरी जानकारी प्राप्त करने की नितान्त आवश्यकता है। यह परम ब्रह्म परमात्मा तक पहुंचने का बहुत अच्छा मार्ग है। कई दिनों से आप वेदों, उपनिषदों, दर्शनों, शास्त्रों आदि के सम्बन्ध में बहुत जानते और समझते रहे हैं किन्तु यदि आपने ध्यान के अर्थ और महत्व को नहीं समझा और व्यावहारिक रूप से यह नहीं जाना कि इस मार्ग पर कैसे आगे बढ़ना चाहिए तो आपका ज्ञानर्जन केवल पुस्तकीय ज्ञान रह जायेगा और उसका कोई वास्तविक उपयोग नहीं रह जाएगा।

ध्यान के लिए समय बड़ा महत्वपूर्ण होता है। ध्यान के लिए उपयुक्त समय है ब्रह्म मुहुर्त अर्थात् प्रातः ३ बजे से ६ बजे तक। इस अवधि में आपको कोई भी एक समय निश्चित कर लेना चाहिए। ध्यान करने की कुछ निर्धारित विधियां और अनुशासन हैं। इसे एक छोटे से उदाहरण से समझो। जब किसी वृक्ष का एक छोटा सा पौधा लगाते हैं तो उसके चारों ओर बाड़ भी लगा देते हैं जिसे आजकल फेंसिग कहते हैं। ऐसा किस लिए करते हैं? इसलिये न कि उस पौधे को कोई भेड़, बकरी या कोई अन्य पशु न चर जाये और उसको समाप्त न कर दे। हम यह चाहते हैं कि वह पौधा सुरक्षित रूप से बढ़ता रहे, हम उसकी रक्षा के लिए आड़ लगाते हैं और पानी देते हैं। किन्तु जब वह पौधा बढ़ कर एक वृक्ष का रूप धारण कर लेता है तो हम उसकी आड़ हटा देते हैं। वह आड़ हम क्यों हटाते हैं? इसलिए कि वे भेड़, बकरी तथा अन्य पशु जिनसे उस पौधे को सुरक्षित रखने के लिए बाड़ लगाई गयी थी वे ही उस वृक्ष के नीचे संरक्षण पा सकें। वह साधना जो आपको अन्त में मोक्ष दिलाती है उसे प्राथमिक स्थिति में उस पौधे के समान मानना चाहिए और उसकी सावधानी के साथ सुरक्षा की जानी चाहिए। संयम और अनुशासनों का पालन ही सुरक्षा प्रदान करने वाली आड़ है तथा उसका होना अत्यन्त अनिवार्य है क्योंकि बुरे लोगों की संगत तथा अन्य ऐसी बातें हैं जिसके कारण साधना का सुकोमल पौधा क्षतिग्रस्त हो सकता है। जब ध्यान का पौधा मोक्ष प्राप्ति के मार्ग पर बढ़ता हुआ पूर्ण वृक्ष का रूप धारण कर लेता है तो फिर जिस प्रकार वृक्ष के बड़े हो जाने पर उसे पौधे की अवस्था में जिन भेड़ बकरी और पशुओं से नष्ट हो जाने का भय था उसके नीचे संरक्षण पाते हैं इसी प्रकार ध्यान के वृक्ष की स्थिति में आ जाने पर उसके पास आने वाले बुरे विचार, बुरे लोग तथा अन्य बुरी बातें जिनसे किसी समय उसे क्षति होने का भय रहता था, उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते बल्कि वह स्वयं उन्हें प्रभावित करने की स्थिति में हो जाता है।

जब हम ध्यान करने बैठें तो सर्वप्रथम आवश्यकता है उचित आसन पर बैठने की। जिस ढंग से हम ध्यान करने बैठते हैं वह आसन कहलाता है और ध्यान के लिए पद्मासन श्रेष्ठ समझा जाता है जिसमें कोई कठिनाई नहीं होती केवल आजकल के फैशन के अनुसार चुस्त (ड्रेन पाइप) पैंट पहनने वालों को इस आसन में बैठने में अवश्य कठिनाई होती है। पद्मासन क्या है और उस आसन से कैसे बैठा जाता है यह आपके अध्यापक शायद कल आपको बतायेंगे और इस आसन में बैठने के लिए आपको ये चुस्त पैंट, पजामे छोड़कर धोती पहननी होगी। इसके अतिरिक्त आप सीधे नंगे फर्श या भूमि पर न बैठे। आपको सबसे पहले स्वच्छ-शुद्ध स्थान पर एक लकड़ी की चौकी या तख्ता रखकर उस पर कपड़ा बिछाकर बैठना चाहिए। सर्वप्रथम तख्ते पर बैठना ठीक रहता है। तख्ता कम से कम जमीन से आधे इन्च ऊंचा होना चाहिए। पृथ्वी में संचालन प्रवाह और प्रसार करने की शक्ति होती है। जब हम ध्यान करते हैं तो ध्यान के कारण हमारे अन्दर दैविक विद्युत-धारा (करैंट) का संचार होता है। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति उस धारा को अपनी ओर खींचती है और हमारे ध्यान में विघ्न पड़ता और कभी-कभी हमें उसके कारण क्षति भी हो सकती है। इस विघ्न और क्षति से हमें बचना चाहिए। आप यह भली प्रकार जानते हैं कि जब घर में बिजली के तार लगाते हैं तो एक भू-तार (अर्थ-वायर) भी लगाते हैं, वह तार भूमि में गाड़ दिया जाता है। उस अर्थ-वायर से करैंट में गड़बड़ होने पर बड़ी सुरक्षा मिलती है क्योंकि करैंट उस तार के जरिए भूमि में संचारित होकर समाप्त हो जाता है। हमें अपने शरीर को घर के समान समझना चाहिए। जब हम इस घर अर्थात शरीर में ध्यान के द्वारा दैविक शक्ति का करैंट लाते हैं तो हमें वे सब साधन अपनाने होंगे जिनके द्वारा हमारा भूमि से सीधा सम्पर्क टूट जाये और उस करैंट के 'अर्थ' होने की कोई सम्भावना न रहे, जो दैविक करैंट हममें आवे वह हमारे भूमि के साथ सीधे सम्पर्क के कारण हमसे निकलकर भूमि में ही न मिल जाये। इस लिए हमारे पूर्वजों ने ध्यान के समय इस प्रकार के आसन का निर्देश किया है।

प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में ४-३० बजे उठकर आप साधना तो करते ही हैं किन्तु इसके अतिरिक्त यह जल्दी उठना स्वयं में एक अच्छी आदत है और हर दृष्टि से हितकर है। आप नवयुवक हैं और अपनी इस युवावस्था में जबकि आपके मन और मस्तिष्क अभी स्वस्थ और सबल हैं यदि आप ये अच्छी आदतें नहीं अपनायेंगे, अच्छे अभ्यास और साधना नहीं करेंगे और अभी से इनके पूर्ण अभ्यस्त नहीं हो जायेंगे तो जब आपकी अवस्था बढ़ जायेगी, शरीर का लचीलापन कम हो जायेगा और वह कठोर हो जायेगा तो फिर इच्छा करते हुए भी आप अपने आपको असमर्थ पायेंगे

इसे असम्भव समझेंगे। वास्तव में इस उमर में आप अनेकों पवित्र बातों को अच्छी प्रकार समझ सकते हैं और अपने शेष जीवन में उनको व्यावहारिक आधार पर परख सकते हैं, उनका लाभ स्वयं उठा सकते हैं और अपने अनुभव से दूसरों को भी लाभान्वित कर सकते हैं। दैविक तत्व को, आत्म तत्व को समझना सदा सम्भव है, वह असम्भव कभी नहीं। इसी सन्दर्भ में हम कहते हैं, "शीघ्र ही चल दो, धीरे चलो और सुरक्षित पहुंचो।" किन्तु यदि बूढ़े होकर आपने साधन और अभ्यास करना आरम्भ किया तो आप पूर्ण लाभ और आनन्द नहीं प्राप्त कर सकेंगे। बहुत से लोग सोचते हैं कि नौकरी से रिटायर्ड होने के बाद भक्ति करेंगे और कहते हैं कि सेवारत रहते तो 'कर्त्तव्य ही ईश्वर है, कर्म ही पूजा है', यह कहकर वे सभी प्रकार के व्यवसाय करते हैं, सरकारी सेवा में या गैर सरकारी निजी संस्थानों में। यह ठीक नहीं है। वास्तव में जो करने योग्य श्रेष्ठ कार्य हैं उसे अभी करना चाहिए कल पर भी नहीं छोड़ना चाहिए, तथा ढलते जीवन के अन्तिम चरण तक के लिए जीवन के लिए परमावश्यक कार्य को टाले रखना तो किसी भी दृष्टि से हितकर नहीं है। यही बात भागवत में कही गयी है। अन्तिम समय में जब यम के दूत आते हैं और आपको अपने पाशों में बांध कर खींचते हुए ले जाते हैं और जल्दी करते हुए धक्के भी देते हैं क्योंकि आपका समय समाप्त हो गया है, तो आपके कुटुम्ब परिवारी और सगे सम्बन्धी भी कहने लगते हैं कि "अब कोई आशा नहीं, इस शरीर को नीचे उतारो" और फिर थोड़ी देर बाद ही उस शरीर को बाहर निकालने और उसका दाह संस्कार करने की जल्दी करते हैं। स्त्री और बच्चे केवल रोते-चिल्लाते भर हैं। ऐसी स्थिति में क्या आप भगवान का नाम ले सकते हैं और परमात्मा की भक्ति कर सकते हैं? इसलिए मैं आशा करता हूं कि आप लोग अपनी इस युवावस्था में ही ध्यान के महत्व और आवश्यकता को समझोगे और ध्यान करना आरम्भ कर दोगे तथा देश के अन्य लोगों के समक्ष अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करोगे।

जैसा कि मैंने आपको अभी बताया था कि लकड़ी के तख्ते पर पद्मासन से बैठने से पूर्व आप एक दीपक या मोमबत्ती जला लें। आप इस ज्योति की ओर कुछ देर तक खुली आंखों से देखते रहें और फिर एक मिनट बाद आंखें धीरे-धीरे बन्द कर लें। आंखें बन्द करने के साथ यह अनुभव करें कि वह ज्योति आपके हृदय में है और वह हृदय कमल के मध्य में प्रज्ज्वलित और प्रकाशित है। यदि आप हृदय देश में ऐसा अनुभव नहीं कर पा रहे हैं तो अपनी आंखें धीरे से खोल दें और ज्योति को फिर से खुली आंखों से निहारते रहें तथा फिर धीरे से आंखें बन्द करें और फिर उस ज्योति को हृदय कमल के मध्य अनुभव करें। आप अपना ध्यान हृदय कमल के मध्य ज्योति

पर केन्द्रित कर दें। कुछ समय बाद आप उस ज्योति को अपने शरीर के प्रत्येक अंग पर ले जायें। पहले उसे अपनी गर्दन पर लायें, गर्दन से मुख पर, मुख से हाथों पर, हाथों से पैरों पर, पैरों से कानों पर, कानों से आंखों पर, आंखों से सिर पर लायें, फिर उसको अपने चारों ओर प्रकाशित अनुभव करें। आप यह भी अनुभव करें कि आप वह ज्योति उनको भी दे रहे हैं जो आपके परिवार के सदस्य हैं, प्रेमी और हितैषी हैं, मित्र हैं। इतना ही नहीं उस ज्योति को अपने शत्रुओं और विरोधियों तक पहुंचता हुआ अनुभव करें। उसके बाद आप उस ज्योति को समस्त पक्षियों, पशुओं और अन्य सभी प्राणियों में व्याप्त देखें। उसके पश्चात् सम्पूर्ण जड़ पदार्थों में भी उस ज्योति को समान रूप से व्याप्त होता हुआ अनुभव करें। जहाँ भी यह ज्योति पहुंचेगी वहां से अन्धकार भागता चला जायेगा। सर्व दूर प्रकाश ही प्रकाश होगा। इसी संदर्भ में हमारे उपनिषदों ने कहा है, "तमसो मा ज्योतिर्गमय।" चूंकि ज्योति आपके नेत्रों पर पहुंच गयी है आपको कोई बुरे स्वप्न या बुरे दृश्य नहीं दिखेंगे चूंकि यह ज्योति आपके कानों में भर गयी है आप बुरा नहीं सुनेंगे। चूंकि यह ज्योति आप की जीभ तक पहुंच चुकी है, आप से बुरे शब्द नहीं बोले जायेंगे। चूंकि ज्योति आप के सिर में प्रवेश कर गयी है आपके मन में न तो अशुद्ध भाव उठेंगे और न टिकेंगे चूंकि यही ज्योति आपके हृदय में पहुंची है हृदय में कोई मलिन भाव नहीं प्रविष्ट होना चाहिए। चूंकि ज्योति ने पैरों को छुआ है आपके पैर आपको किसी बुरे स्थान पर न ले जायें चूंकि ज्योति आपके हाथ में पहुंची है इसलिये हाथ कोई बुरा कार्य नहीं करें। बुराई अन्धकार का पर्याय है और यदि आपने वास्तव में इस ज्योति को चारों और फैलाया है तो फिर कहीं भी कोई अज्ञान या अंधकार नहीं रह सकता यदि आपके ध्यानावस्थित होने पर भी कुछ दुष्कृत्य होते हैं तो इसका मतलब है कि वह ज्योति उस अंग विशेष में नहीं पहुंची है जिससे बुरा कार्य हो रहा है। इस प्रकार ध्यान करने से आपकी बुराइयां, त्रुटियां और दोष ही समाप्त हो जायेंगे बल्कि उनके स्थान में आप में अच्छाइयां और सद्गुण आ जायेंगे, आप सदा शुभ सोचेंगे और शुभ करेंगे। इतना ही नहीं आप ईश्वर दर्शन करने में या अद्वैत का अनुभव करने में समर्थ हो सकेंगे क्योंकि जो ज्योति आप में है वह संसार के सभी प्राणियों में सभी जीवों में और सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है। इस अनुभूति के द्वारा आप इस कथन की सत्यता स्थापित कर सकेंगे कि, "गीतावाक्यं इदम् धर्मम्।"

आप में से कुछ संदेह कर सकते हैं और कह सकते हैं कि "हमारे ईष्टदेव तो भगवान राम हैं या श्रीकृष्ण हैं या स्वामी हैं तो हम उनका ही ध्यान क्यों न करें ? ध्यान के लिए एक दीपक हम अपने सामने क्यों रखें ?" बात यह है कि कोई भी आकार

या रूप विशेष स्थायी नहीं होता है, वह तो परिवर्तनशील होता है इसलिए किसी अस्थायी या परिवर्तित होने वाली वस्तु पर ध्यान करना ठीक नहीं रहेगा। आपको ध्यान ऐसी वस्तु पर लगाना चाहिए जो अपरिवर्तनीय हो। इसलिए आप ज्योति पर ही ध्यान लगायें। उस समय उस स्थिर ज्योति में ही अपने ईष्ट के रूप को जिसकी आप पूजा करते हैं जिनसे आप प्रार्थना करते हैं—स्थापित कर सकते हैं। इसमें किसी प्रकार की हानि नहीं है। रूप में सदा विकास और ह्रास होता है, इसलिये इसे परिवर्तनशील या विकारी कहते हैं। इसे छोटे उदाहरण से समझें। हम एक टंकी को पानी से भर देते हैं। यदि सब लोग उस टंकी से एक-एक गिलास पानी लें तो उसके पानी का स्तर कम हो जायेगा। दूसरी ओर यदि हम रेत का एक ऊँचा ढेर लगाये और उसमें से यदि हरेक थोड़ी-थोड़ी बालू निकालें तो बालू का ढेर कम हो जायेगा यह शरीर भी इसी प्रकार पंच-तत्वों-जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि और आकाश से निर्मित है। इसलिये ही शरीर को पार्थिव कहा जाता है, उसके विपरीत यदि हम एक स्थान पर ज्योति या प्रकाश रखते हैं और यदि अनेकों लोग आकर उसमें अपनी-अपनी ज्योति प्रज्ज्वलित करें तो भी वह ज्योति जो मूल स्रोत है दूसरी ज्योतियों को प्रज्ज्वलित करने पर भी किसी प्रकार कम या क्षीण नहीं होगी। यह प्रथम या मूल ज्योति ही अखंड ज्योति है। जो इससे अपनी-अपनी ज्योति जलाते हैं वे जीवन ज्योतियां कहलाते हैं। इतनी सब जीवन ज्योतियां केवल एक अखंड ज्योति से ही प्रकाशित है? इस ज्योति को अपने हृदय में स्थापित करके, प्रत्येक जीब के हृदय में प्रतिष्ठापित करके ध्यान के माध्यम से अखण्ड ज्योति के साथ हम एकाकार हो जायेंगे, और आप सम्पूर्ण सृष्टि में एकता का, अद्वैत का अनुभव कर सकेंगे।

ध्यान के लिए समय, क्रिया और स्थान अत्यन्त अनिवार्य हैं। स्थान तो बदल सकता है। आज आप वृन्दावन में है, कल बंगलौर में हो सकते हैं, परसों मद्रास में अथवा फिर और कहीं। यह शरीर तो चलता फिरता और यात्रायें करता रहता है, आज यहां है तो कल कहीं ओर इसीलिए किसी एक स्थान का निर्धारित किया जा सकना सम्भव नहीं है। यह स्थिति सबके साथ सब समय नहीं रहती किन्तु फिर भी जिनके लिए कोई एक स्थान विशेष निश्चित नहीं रहता वे कम से कम समय विशेष तो निश्चित कर ही सकते हैं फिर वे कहीं भी क्यों न हों। आज आप वृन्दावन में प्रातः ४-३० पर ध्यान करते हैं कल यदि आप उस समय पर गाड़ी में हों वहां भी उसी समय आपको ध्यान करना चाहिए। उस समय गाड़ी में बैठे हुए भी ध्यान करते हुए अपने आपको आप उसी स्थान पर अनुभव करें जहाँ आपने आज प्रातः वृन्दावन में ध्यान किया था तो आप इस प्रकार ध्यान के लिए निश्चित किए गए

स्थान पर पहुंच जाते हैं और गाड़ी में रहते हुए भी आप गाड़ी में नहीं रहते हैं। फिर आप गाड़ी में हों या मोटर में अथवा हवाई जहाज में सफर कर रहे हों, यदि आपका मन आपके निश्चित स्थान पर जहां आप निश्चित समय नियमित रूप से ध्यान करते हैं वहीं पहुंच जाता है तो निश्चित समय निश्चित स्थान और निश्चित ध्यान की प्रक्रिया तीनों के द्वारा आप वास्तविक समत्व और आनन्द की अनुभूति करते हैं क्योंकि इन तीनों बातों के निश्चित हो जाने पर ही सतत और नियमित अभ्यास के द्वारा वह स्थिति भी आती है जब ध्याता, ध्यान और ध्येय का एकाकार होता है और परम लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

समय नहीं बदलना चाहिये क्योंकि यह भी उतना ही उत्तरदायित्वपूर्ण होता है जितना कि एक वफादार नौकर। यदि किसी कुत्ते को जो आपके नौकर के समान है, यदि आप १२ बजे प्रतिदिन, भोजन देवें और रोज ३-४ दिन तक भोजन देते रहें तो वह ५वें दिन तो निश्चित रूप से बिना बुलाये ठीक १२-०० बजे आपके दरवाजे पर होगा। इसी प्रकार जब आप निश्चित निर्धारित समय पर ध्यान करते हैं और भगवान को प्रेम के साथ याद करते हैं, ध्यान के समय उन्हें अपना प्रेम समर्पित करते हैं, तो भगवान निश्चित रूप से उस समय आपके पास आते हैं और आपका प्रेमस्वीकार करते हैं। आपको पूर्ण आनन्द प्रदान करते हैं। आपको तो बस उन्हें अपना प्रेम देना होगा, वह प्रेम जो आपके हृदय के अन्तरतम् से प्रस्फुटित होकर आपसे निश्चित समय पर प्रवाहित होगा तो भगवान स्वयं आकर उसे ग्रहण करेंगे। इसलिए आज से आप निश्चित समय पर निश्चित रूप से निश्चित स्थान पर आप अपना प्रेम समर्पित करेंगे तो भगवान उसे अवश्य ग्रहण करेंगे और आप सुख और शान्ति की वर्षा करेंगे।

आपने सुना होगा भगवान को सच्चिदानन्द (सत् + चित् + आनन्द) कहते हैं अब आपको बाबा (BABA) के भी अर्थ समझाता हूं। BABA (बाबा) में प्रथम B का अर्थ है Being से याने सत या सत्य से A का अर्थ है Awareness याने चेतना से, B का अर्थ है Bliss याने आनन्द से, A का अर्थ है Atma आत्मा इस प्रकार BABA के अर्थ हैं सच्चिदानन्द ही आत्मा है। आप 'सत्य' के अर्थ समझते हैं। सत्य सदा एकरस रहता है, शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है। SAI (साई) में तीन अक्षर होते हैं, SAI में तीन ध्वनियां सम्मिलित हैं, SA (स) A A (आ) YE (ई)। स का अर्थ है पवित्र और दिव्य। आई (AAYE) का अभिप्राय है मां, क्योंकि मां के लिये अनेकों भाषणों में आई, माई, ताई कहते हैं। इस प्रकार आई का अर्थ मां से होता है। बाबा का अर्थ पिता है। इस प्रकार साई

बाबा का अर्थ सीधे सादे रूप में हुआ, दैविक माता और पिता। इसी प्रकार Sa (सा) का अर्थ जहां उस (भगवान) में है, AAYee का अर्थ हम मां या अम्बा (Amba) कहते हैं तथा BABA (बाबा) का अर्थ शिव से होता ही है इसे सब भली प्रकार जानते ही हैं। इस प्रकार Sai Baba (साई बाबा) का अर्थ हुआ Sa Amba Siva (सा अम्बा शिवा) अर्थात Sambsiva (साम्बशिव) और साई बाबा में इस प्रकार पूर्णसाम्य है उनमें कोई अन्तर नहीं है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि यह शिव शक्ति आत्मिक स्वरूपा है। यदि आप इसके देवत्व के अमृत का आसवादन करना चाहते हैं तो कल प्रातः से ही आप ध्यान करना प्रारम्भ कर दो। मैं आप सब को आशीर्वाद देता हूं और आशा करता हूं कि आप इस प्रकार की साधना और सतत अभ्यास के द्वारा दैविक सुख और आनन्द की अनुभूति प्राप्त करने के सर्वथा योग्य बनेंगे।

———

१०

भगवान की कृपा हमारे भाग्य पलट सकती है

महाभारत और रामायण भारत के सर्वोच्च मूल्यवान रत्न हैं। दोनों ही विशाल महासागर हैं। यदि इन महासागरों को किसी एक ओर से देखेंगे तो हमें बहुत ही सीमित दृश्य दिखायी देगा किन्तु यदि हम उनके निकट किसी पर्वत शिखर पर चढ़कर देखें तो हमारे सामने बहुत ही विस्तृत दृश्य दिखाई देगा और हम अधिक अच्छी तरह से समझ सकेंगे। किन्तु हमें केवल देखते न रहकर इन दोनों महासागरों में गहरे गोते लगाने होंगे और खोज करनी होगी तथा उनमें छिपे अपार खजाने को प्राप्त करना होगा। रामायण और महाभारत दोनों ही अतीव पवित्र ग्रन्थ हैं तथा हमें बहुत ही उपयोगी बातें बताते हैं, जिन पर चलकर हम जीवन को सफल और सार्थक बना सकते हैं। रामायण और महाभारत की हमारे दैनिक जीवन में उपयोगिता उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी हमारी आंखों की। हम इन रत्नों के मूल्य और महत्व को अभी तक अच्छी प्रकार नहीं समझ सके हैं कि यह तो दो भाइयों की संतानों के बीच राज्य प्राप्ति के लिए युद्ध की कथा है और रामायण के विषय में कहते हैं कि एक राक्षस राजा राम की पत्नी को उठाकर ले गया और राम ने उस राक्षस को मार कर अपनी स्त्री को प्राप्त कर लिया। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है; ये दोनों महाकाव्य इतने ही महत्वपूर्ण और मूल्यवान है जितने कि शरीर में हृदय और मस्तिष्क। ये दोनों ही भारत के हृदय और मस्तिष्क हैं।

आज प्रातः जो भाषण हुआ उसमें आपको बताया गया था, 'स्वधर्मे निधनम् श्रेयः परधर्मो भयावहः (१) अर्थात् स्वधर्म का पालन करते हुए मृत्यु को भी प्राप्त

---

(१) भगवद् गीता ३।३५

होना उत्तम और श्रेयस्कर होता है किन्तु दूसरे का धर्म अपनाना भयंकर है। हमें यह समझना चाहिये कि धर्म क्या है, तभी हम यह समझ पायेंगे कि हमारा अपना धर्म स्वधर्म क्या है। 'स्वधर्म' में दो शब्द हैं 'स्व' और 'धर्म'। स्व का अर्थ होता है 'मैं' अर्थात् 'ब्रह्म तत्व' और इस प्रकार 'स्व' से हमें समझना चाहिए ब्रह्म या ब्रह्म तत्व। धर्म का अर्थ होता है कर्त्तव्य का पालन, सत्य का आचरण, सदाचार का पालन। इसलिए स्वधर्म का अर्थ हुआ ब्रह्म का मार्ग या परमात्मा का मार्ग। जो बात हमारे हृदय के अन्तरतम् से आती है वही धर्म समझी जानी चाहिए। धर्म और सत्य के बीच में भी एक और चीज होती है। जो प्रेरणा और भावना हृदय से बाहर आती है 'ऋतु' कहलाती है। ऋतु के अर्थ होते हैं प्रेरणा और भावना और दोनों का ही परम महत्व होता है। वे ही मनुष्य के समस्त क्रिया कलापों और गतिविधियों का मार्ग-निर्देशन करते हैं और उनका निश्चयात्मक प्रभाव होता है। जो भावना मूल रूप में हृदय में उत्पन्न होती है और जब वह वाणी के रूप में प्रकट होती है 'सत्य' कहलाती है तथा जब उसे कार्यरूप में परिणित किया जाता है वह धर्म हो जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धर्म वह है जो हमारे हृदय के अन्तरतम् से मूलरूप से उत्पन्न होता है, वाणी के रूप में प्रकट होता है और कर्म के रूप में व्यवहार में आता है। धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका कोई भी व्यक्ति अपनी सनक के अनुसार निर्धारण कर दे। कोई कह सकता है कि उसके हृदय की प्रेरणा ही उसका धर्म है, यह ईश्वरीय धर्म कैसे हो सकता है? हृदय का अर्थ शारीरिक हृदय से नहीं है बल्कि उसका अभिप्राय आत्मिक हृदय से है। इसलिए आपको आत्म तत्व को खोजना और पहचानना चाहिये, आत्मसाक्षात्कार करना चाहिये। 'मैं' आत्मा से सम्बन्धित है न कि शरीर से। इसलिये धर्म वह है जो हमारे आत्मिक हृदय से आता है और हमें उसका पालन करना चाहिये। उसका हम अपने साँस्कृतिक आदर्शों के अनुसार पालन करते हैं और उन आदर्शों के अनुसार रहने का प्रयत्न करते हैं। 'व्यावहारिक धर्म' अर्थात् दैनिक कार्य व्यवहार में आने वाला नैमित्रिक धर्म तो दिन-प्रतिदिन बदलता रहता है किन्तु जो दिन-प्रतिदिन बदले वह वास्तव में धर्म नहीं क्योंकि धर्म तो कभी न बदलने वाला अपरिवर्तनीय और शाश्वत होता है, स्थायी और सत्य होता है। यदि धर्म परिवर्तनशील है तो फिर उसके स्थापित करने की क्या आवश्यकता? क्या हमें उसके अनुसार कार्य करना चाहिए? रामायण में राम के सम्बन्ध में कहा गया है, "रामो विग्रहवान् धर्मः" अर्थात् राम धर्म के स्वरूप हैं। यद्यपि कि राम ने शरीर धारण किया था किन्तु जिस धर्म का उन्होंने निर्वहण किया और जो आदर्श उपस्थित कर संसार के समक्ष सदा-सदा के लिये स्थापित कर दिये, वह वास्तव में, शाश्वत धर्म और अपरिवर्तनीय सत्य है। जो भी बात या वस्तु 'स्व'

से प्रारम्भ होती है वे सब हमारे हृदय के अन्तरतम् पावन स्थल से स्फुरित होती है और वे भौतिक जगत से सम्बन्धित नहीं होती हैं। 'स्वधर्म', 'स्वभाव', 'स्वेच्छा' ऐसे शब्द हैं जो स्व से प्रारम्भ होते हैं। जब हम इन शब्दों के सम्बन्ध में सोचते हैं तो ये हमें निश्चित रूप से हमारे स्वभाव हमारी आत्मा के सम्बन्ध में बताते हैं जो हमारे अन्दर हैं। स्वधर्म आत्मा का धर्म है, स्वभाव आत्मा का स्वभाव है, स्वेच्छा आत्मा की इच्छा है। सामान्य बोलचाल में स्वेच्छा से हम स्वतन्त्रता का अर्थ लेते हैं, मन-मानी से लेते हैं किन्तु हमें इस अर्थ में इसे न समझ कर इसके वास्तविक अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। स्वेच्छा का वास्तविक अर्थ है आत्मा की इच्छा और यदि हम इसे इस वास्तविक अर्थ में ग्रहण करें और पालन करें और हमें अपने कार्यों से बहुत लाभ प्राप्त होगा। ब्रह्म को प्रज्ञान कहा गया है 'प्रज्ञानं ब्रह्म'। इसी-लिये ज्ञान की पूर्णता मुक्ति में है। अतएव स्वतन्त्रता का अर्थ होता ज्ञान तत्व या प्रज्ञान का प्रकाश न कि वह अनियन्त्रित ढंग जिसमें हम इस संसार में रहते हैं। अनेकों ऐसी बातें हैं जिन्हें हमें अपने पुराणों, इतिहासों, वेदों और उपनिषदों तथा आप्त पुरुषों के वचनों से ग्रहण करनी चाहिये। शब्द को हम प्रमाण मानते हैं क्योंकि सभी शब्दों का वास्तविक मूल आधार सत्य ही है।

आपने सुना होगा कि सभी मंडलों में ध्रुव मंडल का स्थान सर्वोच्च है। हम सामान्य रूप से यह सोचते हैं कि ध्रुव मंडल वह स्थान है जहां राजा उत्तानपाद का पुत्र ध्रुव रहता है किन्तु यह सही नहीं है। ध्रुव का अर्थ होता है सत्य (स्थिर, दृढ़, अचल, अटल, अपरिवर्तनीय, शाश्वत, नित्य) और मंडल का अभिप्राय होता है वह क्षेत्र जो सभी क्षेत्रों, मंडलों से सर्वोपरि, सर्वोच्च है। इसलिये कहा जाता है कि 'सत्य ही परमेश्वर है' सत्य को या सत्य के स्वरूप को जिसे हम परब्रह्म कहते हैं, प्राप्त करने के लिये हमें सत्य का मार्ग, सत्य भाव से अपनाना होगा। जो जिस स्थान पर पहुंचना चाहता है, जो कुछ प्राप्त करना चाहता है उसे उसी के लिए निर्धारित मार्ग को अपनाना होगा। यदि आप सत्य की स्थिति तक पहुंचना चाहते हैं और चलते असत्य के मार्ग पर हैं तो सत्य तक कैसे पहुंच सकते हैं? मैं एक छोटा सा उदाहरण देता हूं। यदि आप पानी को पानी में मिलायेंगे तो सरलता से मिल जायेगा और कोई कठिनाई नहीं होगी। किन्तु जब पानी में तेल डाला जाता है तो वे ठीक प्रकार नहीं मिलते हैं और पानी व तेल अलग-अलग रहते हैं। इसी प्रकार यदि सत्य को सत्य के साथ मिलायेंगे तो वह वास्तविक मिलन होगा और सरलता से पूर्ण होगा, स्वाभाविक होगा किन्तु यदि सत्य को असत्य के साथ मिलायेंगे तो वह तेल पानी के मिलन के समान होगा, दोनों मिल नहीं पायेंगे सहज स्वाभाविक रूप

में । स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था कि यदि कोई यह जानना चाहता है कि विवेकानन्द कौन है तो दूसरा विवेकानन्द होना चाहिए । यदि किसी डाक्टर द्वारा दी गई दवाई का कोई परीक्षण करना चाहता है तो उसे भी डाक्टर होना चाहिए, सामान्य व्यक्ति औषधि का परीक्षण नहीं कर सकता । इसलिए यदि हम यह जानना चाहते हैं कि सत्य क्या है यदि हम सत्य की स्थिति तक पहुंचना चाहते हैं तो हमें स्वयं को सत्य स्वरूप बनना होगा । इसी आधार पर हमारे यहां वेदों में कहा गया है, 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है । जो परम सत्य को जानता है वह स्वयं सत्य स्वरूप हो जाता है, ब्रह्म तत्व को जानकर वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है ।

हमारे प्राचीन भारतीय ग्रंथों की अनेकों लोगों ने टीकायें करने के प्रयत्न किये हैं और उन्होंने आपस में बड़े विरोधी और संघर्ष पूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं । मैं आपको यहां एक उदाहरण देता हूं । दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की और उस समाज के माध्यम से अपने कुछ विचार दिये । यद्यपि दयानन्द सरस्वती ने हमें वास्तव में अच्छे विचार और दृष्टिकोण दिये किन्तु कुछ मामलों में उनके बड़े जटिल अर्थ हो जाते हैं । इस कारण दयानन्द सरस्वती ने जो कहा उसके विरुद्ध लोग बहस करने लगते हैं किन्तु उन्होंने दयानन्द सरस्वती को सही अर्थों में समझने और जानने का प्रयत्न नहीं किया । यह बात तो निश्चित है कि विरोध करने वाले और आलोचकों की हमारे देश में कभी कमी नहीं रही है । क्योंकि सक्षम और पूर्ण अधिकारी व्यक्ति नहीं होने पर आलोचकों और उनके विरोध करने वालों का विरोध करे और उनके विरोध और मिथ्यालोचना को सत्य कौन सिद्ध करे, उनकी सदा ठानी रहती है तथा उसी कारण आज हमारा देश इस स्थिति में आ पहुंचा है । भारतवासी ऐसे नहीं हैं जिन्हें यह ज्ञान न रहा हो कि हमारे वेद, उपनिषद्, पुराण और इतिहास क्या हैं और उनमें कितनी अमूल्य निधि है अपार खजाना है किन्तु उन्होंने ऐसे विरोधियों का जो वास्तव में विद्वान नहीं कहे जा सकते, कभी विरोध करने की चिन्ता नहीं की और सदा उपेक्षा रखी । किन्तु हमें उसी प्रकार की उपेक्षा नहीं बरतनी चाहिए । यदि हमने किसी जंगली पौधे को यों ही छोड़ दिया और उसकी उपेक्षा की तो वह कंटीला पेड़ बन जायेगा और सारे उद्यान की शोभा बिगाड़ देगा और अपने कांटे चारों ओर फैला देगा इसलिये उसे काट कर अलग कर देना होगा ।

एक बार दक्षिणा मूर्ति लोगों को ब्रह्म तत्व की वास्तविकता समझाना चाहते थे और स्वयं भी उसका आनन्द प्राप्त करना चाहते थे । उन्होंने वृक्ष को

अपना गुरु बनाया, नदी को अपना गुरु बनाया और यहां तक कि पत्थर को भी अपना गुरु बनाया। इस प्रकार उन्होंने प्रकृति को अपना गुरु मानकर आनन्द के साथ व्यापक रूप से अपना भ्रमण प्रारम्भ कर दिया। कुछ समय बाद वे एक सागर के तट पर पहुंचे और वहां बैठकर चिन्तन में लीन हो गये। उसी समय सागर में कुछ कूड़ा आ गिरा, सागर क्रोधित हो उठा और एक के बाद एक ऐसी लहरें उठीं कि वह कूड़ा किनारे पर पहुंच कर सागर के बाहर आ गिरा। दक्षिणमूर्ति सागर से नाराज हो गए और सोचने लगे, "यह क्या बात है ? कितना तनिक सा यह कूड़ा था और यह सागर कितना विशाल है किन्तु यह इसे सहन नहीं कर सका और बाहर फेंक दिया। सागर कितना स्वार्थी है ?" बड़े लोग कोई बात ऐसी ही, बिना किसी संगति के नहीं कह देते। इसलिए दक्षिणमूर्ति ने यह सोचकर कि सागर तो बहुत ही आदरणीय है और शायद उसका यह कार्य उन्हें कुछ शिक्षा या संदेश देने के लिए ही हो, विनम्रता के साथ सागर निवेदन किया कि वह उसका कारण स्पष्ट कर मन के संदेह का निवारण करें ताकि उनके मन व हृदय को शान्ति प्राप्त हो। सागर ने उत्तर दिया, "मेरा विस्तार बहुत बड़ा है और मुझ में बहुत से जीव जन्म लेते और पलते हैं। इसलिये मैं चाहता हूं कि मेरा स्वरूप स्वच्छ रहे। यदि मैं कूड़े-कर्कट और गंदगी को अपने अन्दर स्थान देता रहा तो आज जो इतनी थोड़ी सी है वही कल बहुत हो जायेगी और मेरा स्वरूप गन्दा हो जायेगा, मुझ में बहुत गंदगी फैल जायेगी इसलिये वह कूड़ा चाहे कितना भी कम था मैंने इसलिये बाहर फेंक दिया।" दक्षिण-मूर्ति ने इसकी तुलना संसार से या परिवार से की। यदि हम परिवार में किसी खराब विचार, गन्दी बात को चाहे वह थोड़ी सी मात्रा में ही क्यों न हो, टिके रहने देते हैं या सहन करते हैं तो वह निश्चित रूप से बढ़ती जायेगी और परिवार के स्वरूप को मलिन कर देगी, उसे बिगाड़ देगी। इसलिये जो लोग पारिवारिक जीवन बिताते हैं उन्हें इस बात से सदा सजग और सतर्क रहना चाहिये कि उनके परिवार में कोई बुराई न कर ले, कोई दूषित विचार जड़ न जमा पाये, कोई दुराचरण प्रवेश न पा ले। संसार का अर्थ केवल पारिवारिक जीवन तक ही सीमित नहीं है बल्कि हमारा सम्पूर्ण जीवन ही संसार है। इसलिये हमें अपने सम्पूर्ण जीवन में, उसके सभी क्षेत्रों में, उसके सम्पूर्ण व्यापक विस्तार में उन बातों को, विचारों और कार्यों को, जो जीवन को किसी भी रूप में दूषित या मलिन बना सकें, तनिक भी नहीं पनपने देना चाहिये।

मैं आपको एक उदाहरण देता हूं। आर्य समाज के अतिरिक्त एक और समाज की भी स्थापना हुई थी जिसे ब्रह्म समाज कहते हैं। वे एक दूसरे की आलोचना

करने लगे और पारस्परिक अनुरूपता, एक रसता और शान्ति के स्थान पर पारस्परिक विरोध की अवाँछनीय भद्दी स्थिति आ गयी। ब्रह्म समाज का मूल उद्देश्य है कि सदा ब्रह्म का विचार करो, संसार मिथ्या है। आर्य समाज का सिद्धान्त है कि ब्रह्म है और जीव है तथा दोनों को पहचानना चाहिये। इसको मैं एक उदाहरण से समझाता हूं। संगीत में भारत में ही नहीं बल्कि संसार के अन्य देशों में भी श्रुति और स्वर होते हैं। यदि संगीत में ये दोनों नहीं हों या साथ में साज नहीं हो तो संगीत का आनन्द नहीं ले सकते हैं। यदि साज हो और श्रुति नहीं हो तो भी वह आनन्द नहीं आता। जब दोनों का सही रूप में योग होता है तभी आनन्द ले सकते हैं। आर्य समाज तो इस संसार में स्वर उत्पन्न करने वाली संस्था है और ब्रह्म समाज भी संगीत के दूसरे अंग की पूर्ति कर रही है जिससे पूर्ण संगीत का आनन्द आ सके। किन्तु जब हम दोनों के सम्बन्ध में अलग-अलग सोचते हैं तो ऐसा लगता है कि दोनों एक दूसरे का विरोध करने वाली संस्थायें हैं। भारतीयों को तो कभी भी किसी भी धर्म या विचार या किन्हीं भी भावनाओं के विरुद्ध नहीं जाना चाहिये। संसार के कुछ धर्म और कुछ लोग कहते हैं कि हम सब परमात्मा की संतानें हैं इसलिये हमें एक ही पिता की सन्तान के समान आपस में एक ही परिवार के भाई बहिनों की तरह प्रेम के साथ मिलजुल कर रहना चाहिये। भारत और हमारे सभी धर्मों की हमें यह शिक्षा रही है, "ईश्वरः सर्वभूतानाम्" अर्थात् ईश्वर सब प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है। हमारी संस्कृति हमें यही शिक्षा देती है कि न केवल मनुष्यों में बल्कि पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, और अन्य सभी जीवों और प्राणियों के साथ समान रूप से व्यवहार किया जाना चाहिए और सबको एक समान आधार पर रहना चाहिये। भारतीय बोधि वृक्ष की पूजा करते हैं। इस पूजा का अर्थ है कि वृक्षों में भी कुछ शुभ होता है, मंगलकारक होता है। हमारे यहां पशुओं की भी पूजा होती है। कुछ सिंह की पूजा करते हैं क्योंकि यह देवी या ललितम्बा का वाहन समझा जाता है। हम गाय की पूजा करते हैं। हम इस प्रकार जो पूजा करते हैं उसका अर्थ है कि सभी जीवों में, जड़ चेतन में, देवत्व समान रूप से समाया है और वह केवल मनुष्य तक ही सीमित नहीं है। भारत में तो नागों की भी पूजा होती है जो अधिक विषधर और हानिकर होते हैं। अन्य लोग शायद हम पर हंसे कि हम पेड़, पशु और विषैले नागों तक की पूजा करते हैं। किन्तु इसका बहुत ही गहन अर्थ है जो यह स्पष्ट करता है कि भारतीय संस्कृति जड़-चेतन में एक ही ईश्वर-तत्व के दर्शन करते हैं और उस एकत्व को जीवन में व्यवहारिक रूप में अनुभव कर लेने के लिए प्रेरित करती है। इसलिये हमारा धर्म हमें विविधता में एकता की शिक्षा देता है, भारतीय शास्त्र और पुराण आदि हमें इसी सर्वोच्च सत्य की शिक्षा देते हैं।

अब मैं उन संदेहों का निवारण करता हूं जो कुछ विद्यार्थियों के मनों में पैदा हो गये हैं क्योंकि यदि संदेहों का समय पर निराकरण नहीं किया गया तो वे एकत्रित होकर बहुत सबल हो जाते हैं तथा उनका बुरा परिणाम होता है। इसलिये मैं आप सब के सन्देहों का निवारण करना चाहता हूं। एक विद्यार्थी ने 'प्रारब्ध कर्म' और 'संचित कर्म' के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए यह जानना चाहा कि भगवान की कृपा से क्या इन कर्मों के फलों से मुक्त हुआ जा सकता है, विशेषकर बुरे कार्यों के प्रभाव से हमें परमात्मा की पूजा केवल पाप कर्मों के फलों से मुक्ति पाने के लिये ही नहीं करनी चाहिए। यदि आप भगवान का भजन-पूजन केवल उनका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए करेंगे तो प्रारब्ध कर्म, संचित कर्म' तथा अन्य सभी कर्म उनकी कृपा से प्रभाव-हीन हो जायेंगे। किन्तु इन कर्मों के प्रभाव से छुटकारा पाने के उपाय जानने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म और आगामी कर्म क्या हैं। प्रारब्ध कर्म तो वे हैं जो हम वर्तमान समय में कर रहे हैं और उनका अनुभव करते हैं। संचित कर्म वे हैं जो हमने भूतकाल में किये हैं तथा आगामी कर्म का अर्थ है वे कर्म जो हम भविष्य में करेंगे। प्रारब्ध संचित और आगामी के बीच में है। प्रारब्ध का अनुभव हम संचित कर्मों के आधार पर करते हैं। हम वर्तमान में जो कार्य करते हैं उनका फल हमें भविष्य में प्राप्त होगा। इस सम्बन्ध में दैनिक जीवन से आपको एक उदाहरण देता हूं। घर में एक भण्डार होता है जिसमें चावल इकट्ठे रखे रहते हैं। जो कुछ इकट्ठा रखा है वह संचित है। जब हम चावल बनाना चाहते हैं तो उस संचित भण्डार में से आवश्यकतानुसार निकाल लेते हैं। आज बनाने के लिए जो चावल निकाला जाता है वह प्रारब्ध है। आज जो कुछ बनाकर खायेंगे वह हमारे शरीर में होकर बाहर निकल जायेगा। कभी-कभी जो कुछ हम अभी खाते हैं उसका डकार के साथ अनुभव करते हैं। अतएव प्रारब्ध से बच नहीं सकते, उसका अनुभव हमें इसी जीवन में करना होता है। भंडार में केवल चावल हैं किन्तु इनको निकाल कर हम तरह-तरह की खाने की चीजें बनाते हैं। इनसे हम इडली, डोसा, पुलीहोरा, चक्रपोंगल आदि अनेकों प्रकार के पदार्थ तैयार कर लेते हैं। इन पदार्थों के नाम भिन्न-भिन्न हैं किन्तु बनते सब चावल से ही हैं। उनको बनाने में मूल आधार, चावल को नहीं बदला जाता, हम अपने कौशल से उसके अनेकों स्वादिष्ट पदार्थ बना लेते हैं। यद्यपि ये संचित कर्म हैं किन्तु यदि आप सात्विक रूप से अपने कर्म करें, पवित्रता के साथ कर्म करें तो संचित भी बदल सकते हैं। भंडार में रखे चावलों में कंकड़-कूड़ा हो सकता है। वे सब संचित में बुरे कर्मों के समान हैं। किन्तु संचित भण्डार में से चावल निकाल कर बनाते समय क्या आप चावलों को साफ नहीं करेंगे, वे कंकड़-पत्थर और कूड़ा-कर्कट जो कुछ भी अवांछित चावल में मिला हुआ है उसे नहीं निकालेंगे और बनाने

के लिये चावलों की सफाई और धुलाई करके उन्हें तैयार नहीं करेंगे ? इसी प्रकार संचित कर्मों के फलों का अनुभव हम करते हैं तो क्या हम उनके कुप्रभावों का चावलों की सफाई-धुलाई करके शुद्धिकरण के समान उनका भी अपनी सात्विकता के साथ किसी सीमा तक पर्याप्त रूप में परिमार्जन कर सकते हैं। इसे एक और उदाहरण से समझें। प्रारब्ध उस धूल के समान है जो किसी बस के चलने पर उसके पीछे-पीछे और आस-पास उड़ती है। जैसे-जैसे बस तेजी के साथ चलती जाती है धूल उसके पीछे-पीछे उड़ती जाती है। कर्म को बस समझें। इस प्रकार जब कर्म रूपी बस चलती है तो प्रारब्ध रूपी धूल अनिवार्य रूप से उसके पीछे-पीछे उड़ती चली जाती है। जब बस रुक जाती है और खड़ी हो जाती है तो धूल उस बस पर जमा हो जाती है। जब बस चलती रहती है तो धूल उससे कुछ दूर रहती है इसी प्रकार जब हम अपने कर्म सन्तोषप्रद रूप से करते रहते हैं और उसमें किसी प्रकार का व्यवधान या रुकावट नहीं आने देते तो धूल रूपी प्रारब्ध हम पर इतना नहीं जमता और पीछे ही रहता है। किन्तु आप कहेंगे कि आखिर रुकना तो पड़ेगा ही बस सदा तो नहीं चलती रह सकती। किन्तु ऐसा नहीं है। यह सड़क तीन प्रकार की है-कर्म उपासना और ज्ञान। जहां कर्म का कच्चा मार्ग होगा वहां प्रारब्ध की धूल अनिवार्य है किन्तु उसी मार्ग पर आप आगे बढ़ते जायें तो जैसे गांव से निकल कर कुछ दूर आगे बढ़ने पर आपको शहर को जाने वाली तार कोल की पक्की सड़क मिल जाती है तो धूल नहीं रहती। उससे भी आगे बढ़ने पर आपको और भी अच्छा-चौड़ा सीमेंट का पक्का दोनों ओर वृक्ष वीथियों से आच्छादित राज मार्ग मिल जायेगा जहां धूल का निशान नहीं होगा। गांव का कच्चा मार्ग कर्म मार्ग है नगर की पक्की सड़क उपासना का, भक्ति का मार्ग है तथा वृहद्प्रशस्त राज मार्ग-ज्ञान मार्ग है। जब तक हम केवल कर्म के ही पथ पर चलते रहेंगे तब तक प्रारब्ध की धूल का अन्त नहीं होगा। किन्तु जब हम सभी कर्मों को भक्ति के साथ अर्थात् भगवान को समर्पित करने, उनके निमित्त, उनके प्रेम, उनके सन्तोष के लिये करेंगे तो प्रारब्ध हमें दुःख नहीं देंगे। ध्रुव और मार्कण्डे के उदाहरणों से हम यह जान सकते हैं कि कर्मफलों पर कैसे विजय प्राप्त की जा सकती है। महर्षि मृकण्डु के पुत्र मार्कण्डेय की सोलह वर्ष की अल्प आयु में होने वाली मृत्यु टल गयी थी। जन्म से ही न केवल बालक मार्कण्डेय बल्कि उसके माता-पिता भी भगवान की अनन्य भक्ति में लीन रहे जिसके फलस्वरूप मार्कण्डेय चिरजीवी हो गये। भक्त की त्याग, विवेक और वैराग्य पूर्ण तपस्या से भगवान को भी अपने संकल्प बदलने पड़ जाते हैं। इसलिये हमें संचित कर्मों या प्रारब्ध से भयभीत नहीं होना चाहिये। यदि हम यह सोचते हैं कि प्रारब्ध का प्रभाव अमिट है तो फिर भगवान की पूजा-भक्ति का क्या उपयोग ? प्रारब्ध होते हुए भी

भगवान के अनुग्रह से उसका कुप्रभाव बहुत अधिक सीमा तक समाप्त हो जाता है, यह निश्चित है। इसे आप एक और छोटे से उदाहरण से समझें। इन्जेक्शन की एक शीशी है जिस पर लिखा है कि इस औषधि का उपयोग १९७० तक कर लिया जाना चाहिये। यदि उसका उपयोग नहीं किया जाता है, तो शीशी और उसमें रखी औषधि ज्यों की त्यों १९७२ तक रखी रहती है तो १९७२ में उस औषधि का कोई उपयोग नहीं रहेगा, उसकी शक्ति क्षीण पड़ जायेगी और उसका प्रभाव मिट जायेगा। इसी प्रकार हमारे प्रारब्ध में कुछ भी हो, हमारे संचित कर्म कुछ भी हों, परमात्मा के अनुग्रह से वे ज्यों के त्यों धरे रह जाते हैं और प्रभावहीन और क्षीण हो जाते हैं। वे रहते हुए भी हमारे लिए इतने कष्टप्रद नहीं रहते जितने कि हो सकते थे। भगवान का अनुग्रह प्राप्त हो जाने पर, संचित, प्रारब्ध और आगामी कर्मों से भयभीत नहीं होना चाहिये। यदि परमात्मा प्रसन्न है, भगवान आपकी भक्ति से मुग्ध है तो यह निश्चित है कि संचित कर्मों और प्रारब्ध के बुरे प्रभाव का उनकी कृपा से स्वतः ही निराकरण हो जायेगा। इसलिये यह परम आवश्यक है कि अपने कर्म, भक्ति और ज्ञान से भगवत् कृपा अर्जित करने का प्रयत्न करें जिससे कि सारे ही बुरे प्रभाव, दुःख संकट और कठिनाइयां दूर होती चली जायें।

दूसरा प्रश्न है कलियुग के सम्बन्ध में। हमें इस वर्तमान समय का श्रेष्ठतम् रूप में उपयोग करना चाहिए, उसके लिये शुभ कर्म करने चाहियें और आनन्द के साथ रहना चाहिए। जो कुछ बीत चुका वह तो बीत चुका वह फिर नहीं आयेगा। भविष्य के सम्बन्ध में हम निश्चिन्त नहीं हैं। वर्तमान भी स्थायी नहीं है, यह भी गतिशील और परिवर्तनीय है। इसलिये हम कहते हैं, भले बनो, भला करो, भला देखो यही परमात्मा तक पहुंचने का मार्ग है। अच्छे बनने का प्रयत्न करो। हृदय में सद्विचार भरो सदाचरण करो। यदि कोई बीमार हो जाये तो उसे दुखित और लज्जित नहीं होना चाहिये बल्कि बींमारी से छुटकारा पाने का उपाय किया जाना चाहिये, औषधि लेनी चाहिये जिससे पीड़ा न हो और रोग से मुक्ति मिल जाये और वे उपाय अपनाने चाहिये जिससे फिर बीमार न हों। इसी प्रकार इस कलियुग में जो कुछ भी बुरा हो रहा है उस पर विलाप करते रहने और उसे बुरा बताते रहने और पछताने का क्या लाभ ? आवश्यकता है संसार से बुराई को दूर करने की, और स्वयं अच्छे बनने की। आप सब विद्यार्थी हैं इसलिये आप पर बुराई हटाने और व्यर्थ की बातों में न पड़ने का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। आपको अच्छा और उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति बनना है जिससे कि आप आनन्द प्राप्त कर सकें, शान्ति के साथ रह सकें तथा दूसरों के लिये भी सुख, शान्ति प्राप्त करवाने में सहायक बन सकें। आजकल विद्यार्थियों में जो दोष और

उपद्रव दिखायी देते हैं वास्तव में वे सब उनके द्वारा ही उत्पन्न नहीं है। मूलरूप से सभी विद्यार्थी अच्छे होते हैं। किन्तु विद्यार्थियों के हृदयों में भी बुराइयां घुसने की सम्भावना तो बनी ही रहती है। सभी बुराइयाँ आती हैं कुसंगति से। इसलिये विद्यार्थियों को बुरी संगत से सदा बचने का प्रयतन करना चाहिए, बुरे विचारों और बुरी उत्तेजनाओं से बचना चाहिये। उन्हें सदा सत्-संगत में, सद्‌विचारों में, सद् प्रेरणाओं में रहना चाहिये और हाथ ही दूसरों को भी सद् प्रभावों से प्रभावित करना चाहिये जिसमें कि चारों ओर शुभ और मंगल वातावरण हो, आप लोग भी अच्छे और भले बनें, सुख-शान्ति के साथ रहें। अच्छे जीवन यापन के लिए इस संसार में तीन मार्ग हैं, आध्यात्मिक, नैतिक और धार्मिक और हमें इन तीनों ही मार्गों को अपनाना चाहिये।

आप सदा यह सोचते हैं कि जो कुछ भी 'प्रत्यक्ष' है वही सही है, वही प्रमाण है। किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण ही इस जीवन में एक मात्र प्रमाण नहीं होता है। अनेकों बातें ऐसी हैं जो मानव बुद्धि की समझ और पकड़ के बाहर हैं। हमें सबसे पहले अज्ञात को जानने का प्रयत्न करना चाहिये। मैं आपको मनुष्य की बुराइयों अर्थात् 'विकार' के सम्बन्ध में एक छोटा सा उदाहरण देता हूं। एक तैयार औषधि का मूल्य शायद थोड़ा सा हो किन्तु उस औषधि की खोज करने और उसकी उपयोगिता का पता लगाने और उस पर अन्वेषण और अनुसंधान करने में कितना समय लगा होगा? जैसे-जैसे औषधि विज्ञान तरक्की कर रहा है उसी गति से क्या उससे भी अधिक तेज रफ्तार के साथ बीमारियां भी बढ़ती और प्रगति करती जा रही हैं। यदि घर में एक डाक्टर हो जाये तो एक डाक्टर के लिए भी घर में चार रोगी होंगे और अनेकों रोग होंगे। यदि एक घर में एक वकील हो तो घर के चार भाइयों के अनेकों झगड़े और मुकदमें होंगे। इसलिये यह सोचना कि औषधि विज्ञान में बड़ी प्रगति हो रही है, कानून और व्यवस्था के मामले में बड़ी तरक्की हो रही है, बड़ी भूल होगी। नियम कानूनों (Law) के विकास की आवश्यकता नहीं है, बल्कि आवश्यकता है प्रेम (Love) के विकास की। आध्यात्मिकता का सिद्धान्त है कि प्रेम में नियम है। जहां प्रेम होता है वहां घृणा और रोग का कोई स्थान नहीं रहता। जहां प्रेम नहीं होगा वहीं अन्यों के प्रति घृणा होती है और वही घृणा भयंकर विकार बन जाती है, महारोग का रूप धारण कर लेती है। ईर्ष्या, क्रोध और अहंकार तीनों ही महारोग हैं। यदि इन तीनों ही रोगों से मुक्त रहना चाहते हो तो सबके प्रति प्रेम उत्पन्न करो।

एक विद्यार्थिनी ने अपना भाषण प्रारम्भ करने से पूर्व सबको सम्बोधित करते हुए कहा, "मित्रों"। यह मित्रता कुछ भी रूप धारण कर सकती है। इसलिये मैंने

उसे इस प्रकार के सम्बोधन का प्रयोग करने के लिए मना किया। आजकल विद्यार्थियों के जीवन में यह मित्रता अंधे-मार्ग पर बढ़ती चली जा रही है और उस पर कोई नियन्त्रण नहीं है। इसलिये दूसरों को मित्र के स्थान पर यदि उन्हे बहिन और भाई समझें तो अच्छा होगा क्योंकि बहिन के प्रति हमारे अन्दर कोई विकार भावना नहीं रहती। विद्यार्थियों को आपस में बहिन-भाइयों के समान रहना चाहिये, न कि मित्रों के समान क्योंकि मित्रता के आजकल कभी-कभी बड़े बुरे अर्थ भी लगा लिये जाते हैं, उसे बुरे अर्थों में समझा जाता है। स्वामी विवेकानन्द ने अंग्रेजी के परम्परागत सम्बोधन (लेडीज एण्ड जैण्टलमैन) महिलाओं और पुरुषों के स्थान पर अपने भाषणों के प्रारम्भ में जब "बहिनों और भाइयों" के सम्बोधन का सर्वप्रथम विदेशी भूमि पर उच्चारण किया तो अमेरिका के लोग उससे इतने प्रभावित हुए कि इस पर लगातार १५ मिनट तक तालियां बजाते हए अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। आजकल भी बहिनों और भाइयों के सम्बोधन से भाषण प्रारम्भ किये जाते हैं किन्तु मंच पर खड़े रहने तक के समय के लिये भी वह वास्तविक भावना की गहराई नहीं होती। जो हृदय में अनुभव नहीं करते उसे बाहर नहीं प्रकट करना चाहिए। हमें अपने हृदय की सच्ची भावनायें ही व्यक्त करनी चाहिये और हमें सदा ही अच्छे आचरण का पालन करना चाहिये।

———

११

इन्द्रियों पर नियन्त्रण से ही वैराग्य की प्राप्ति

सभी धर्मों की शिक्षा सदाचरण के लिये है। हमें उसे समझना और उसका पालन करना चाहिए। आज का कार्यक्रम भारत-नाट्य से प्रारम्भ हुआ। हमें यह समझना चाहिये कि हमारा जीवन ही भारत-नाट्य है। किन्तु इस कथन का क्या अभिप्राय कि हमारा जीवन भारत-नाट्य है ? नाट्य का मंच क्या है ? हमारे जीवन रूपी भारत-नाट्य के लिये यह संसार ही रंगमंच है। प्रत्येक व्यक्ति अभिनेता है और उसे अपना-अपना अभिनय पूरा करना है, अपना-अपना पार्ट अदा करना है। माया इसकी ताल है। माया ही प्रेरक है, माया की प्रेरणा से ही जीव इस रंग मंच पर जैसा वह नाच नचाती है नाचता रहता है। माया रूपी नर्तकी एक से एक सम्मोहक दृश्य उपस्थित करने में सिद्ध हस्त होती है। यदि माया ने अपना ऐसा जादुई सम्मोहन नहीं डाला होता तो मनुष्य की आज ऐसी दशा नहीं हुई होती। परमात्मा तो हमारे अन्तर में है किन्तु माया का ऐसा आकर्षण और सम्मोहन होता है कि परमात्मा का स्वरूप हमसे ओझल हो जाता है। माया के द्वारा हमारी दृष्टि पर डाले पर्दों को हटाने के लिये हमें प्रयास करने पड़ते हैं, साधना करनी पड़ती है, संयम और अनुशासन का पालन करना होता है तब कहीं अन्तरमुखी हो पाते हैं। माया नर्तकी है इसलिये इसको रिझाने के लिये उपयुक्त सुन्दर और चित्ताकर्षक संगीत होना चाहिये क्योंकि कोई भी नृत्य बिना उपयुक्त साज-संगीत के ताल-लय बद्धता के देखने और नाचने वाले दोनों के लिये ही प्रभावशाली और आनन्ददायक नहीं हो सकता। नर्तकी में तीन अक्षर हैं न-र्त-की ; यदि हम इसे उल्टा पढें तो होता है कीर्तन। इस लिए इस नर्तकी माया को बस में करने का एक उपाय कीर्तन है। अब प्रश्न उठता है कि किस प्रकार का कीर्तन ? यह नर्तकी किस की माया है ? यह नर्तकी भगवान

की ही माया है । इसलिये इसे भगवत् कीर्तन ही अधिक प्रिय होगा, उसे ही सुनकर वह प्रसन्न होगी ।

भगवान के नाम का कीर्तन सुनना ही एक सत्कृति है अर्थात् सुन्दर, मधुर तान । इसके अतिरिक्त सुकृति और कुछ भी नहीं है । इसलिये हमारे ऋषियों और मुनियों ने अपना जीवन और कर्म सत् कर्म पर आधारित रखा तथा उसके सहारे परमात्मा से मिलने के लिए, उसके साक्षात्कार और मिलने के लिए आगे बढें । इसके द्वारा जो स्थिति प्राप्त होती है वह ही 'निवृत्ति' है-(अर्थात् संसार से मुक्ति है, आनन्द है, केवल्य है) निवृत्ति की इस स्थिति तक पहुंचने के लिये हमें बहुत ही अथक परिश्रम करना पड़ता है । पानी को तो मछली की आवश्यकता नहीं होती किन्तु मछली पानी के बिना नहीं रह सकती । इसी प्रकार किसी गुरु को किसी शिष्य की आवश्यकता नहीं होती किन्तु जो सच्चा ज्ञान पिपासु है उसे गुरु की आवश्यकता होती है, आचार्य और मार्ग दर्शक की आवश्यकता होती है क्योंकि गुरु के बिना उसे सही मार्ग दर्शन प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है । यहां आप लोगों के लिए ऐसे ही आचार्यों और मार्ग-दर्शकों की व्यवस्था की गयी है जो आप लोगों को यह बता सकें, समझा सकें कि हमारे यहाँ उपनिषदों में क्या कहा गया है, रामायण और महाभारत सदृश महाकाव्यों की हमारे लिए क्या शिक्षा है जिससे कि आप वह सब कुछ जानकर और समझकर निवृत्ति तक की स्थिति तक पहुंच सकें, मन, मस्तिष्क और हृदय को ऐसी स्थायी शान्ति और समत्व प्राप्त हो सके कि वे किसी भी दशा में विचलित न हों । आप पर्याप्त 'श्रवण' कर रहे हैं, ध्यानपूर्वक सुनते हैं, आपको चाहिये कि जो कुछ श्रवण करें, उस पर भली भांति विचार करें, मन ही मन दोहरायें और फिर देखें कि आप उसमें से कितना व्यावहारिक रूप में अपनाते हैं । केवल सुनने मात्र से ही आपका हृदय पवित्र नहीं हो जायेगा । आपको 'मनन' करना अर्थात् जो कुछ सुना है उस पर चिन्तन और विचार करना आवश्यक है । मनन के पश्चात् आता है 'निदिध्यासं' अर्थात् बार-बार ध्यान करते रहना, एक ही बात पर सतत् चिन्तन और मनन करना । तभी श्रवण का पूर्ण लाभ प्राप्त हो सकता है किसी बात को सुनकर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री अर्थात् समाप्ति समझने वाले तो ९९ प्रतिशत श्रोता होते हैं और श्रवण के पश्चात् मनन और 'निदिध्यासनं' का तो उन्हें बोध ही नहीं होता । श्रवण को आप रसोई में भोजन पकाने के समान समझ सकते हैं, उस भोजन को भोजन कक्ष में लाकर खाने को मनन कह सकते हैं । उस खाये हुए भोजन को पचाकर आत्मसात करने को हम निदिध्यासन कह सकते हैं । यदि रसोई में भोजन बना तैयार रखा हो और उसे हम खाने की मेज पर लाकर खायेंगे नहीं और खाकर पचायेंगे नहीं तो

हमारा शरीर कैसे शक्ति अर्जित करेगा, हम कैसे स्वस्थ रह सकेंगे ? हर प्रकार का ज्ञान वेदों और पुराणों में, उपनिषदों में सदैव उपलब्ध है किन्तु उसे हम अपने जीवन के व्यावहारिक अनुभव में नहीं ला रहे हैं। ऐसा नहीं करने का मूल कारण है, हममें ऐसा करने की वास्तविक इच्छा का अभाव। इसलिये हमें अपनी मानसिक शक्ति बढ़ानी चाहिए। मन की शक्ति इतनी महान् है कि उसकी तुलना किसी अन्य शक्ति के साथ नहीं की जा सकती है यदि हम इसी मानसिक क्षमता को बढ़ायें, पुष्ट करें तो हम अतीव प्रतिभा सम्पन्न हो जायेंगे। मन ही हमारी हर स्थिति का मूल है—चाहे बन्धन हो या मोक्ष, सुख हो या दुख हो। इसको समझने के लिए एक छोटा सा उदाहरण प्रहलाद और हिरण्यकश्यप की कथा है। प्रहलाद पुत्र है और हिरण्यकश्यप पिता। हमें इन पिता-पुत्र के अन्तर को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। नारायण भगवान ने हिरण्यकश्यप के भाई को मार डाला था इसलिये वह उनसे बहुत क्रुद्ध था। उसने नारायण की बहुत तलाश की किन्तु जब वह उन्हें कहीं न पा सका तो उसने अपने पुत्र प्रहलाद से कहा कि नारायण या भगवान इस संसार में कहीं नहीं है किन्तु प्रहलाद ने कहा कि नारायण भगवान तो सर्वत्र विद्यमान हैं। "आप किसी संशय में न पड़ें। भगवान नारायण न केवल यहां हैं बल्कि सब जगह हैं। जहां कहीं भी आप उन्हें ढूंढेंगे, उन्हें पायेंगे।" हिरण्यकश्यप ने क्रोध भरे शब्दों में कहा, "पागल लड़के मैंने उसे सर्वत्र खोजा है, कोई स्थान नहीं छोड़ा यहां तक कि समुद्र का तल तक खोज मारा किन्तु वह कहीं नहीं मिला। वह कहीं है ही नहीं।" किन्तु प्रहलाद का विश्वास ईश्वर में दृढ़ था इसलिये वह अपने पिता से बोला, "यह तो आपकी दृष्टि का दोष है, मन का विकार है जिसके कारण आप भगवान को नहीं खोज सके। आप उनको श्रद्धा, विश्वास और निष्ठा के साथ ढूंढे तो निश्चित रूप में कहीं भी पा सकोगे।" हिरण्यकश्यप ने प्रश्न किया, "क्या भगवान इस खम्भे में भी मौजूद हैं ?" प्रहलाद ने उत्तर दिया, "अवश्य, निश्चित रूप से, भगवान इस खम्भे में भी हैं।" हिरण्यकश्यप ने उस खम्भे को जैसे ही तोड़ा नरहरि या नृसिंह रूप में भगवान नारायण उससे प्रकट हुए। हिरण्यकश्यप के ढूंढने पर भी भगवान प्रकट नहीं हुए थे क्योंकि उसका उनमें विश्वास नहीं था किन्तु प्रहलाद के विश्वास के साथ यह कहने पर कि 'भगवान सर्वत्र हैं' भगवान नारायण खम्भे से प्रकट हुए। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिरण्यकश्यप को अपनी भावना और विचार के कारण भगवान नहीं मिले और जब मिले तो प्रहलाद की इस भावना और विचार के अनुसार कि भगवान सर्वत्र हैं। दोनों को उनकी अपनी-अपनी भावना और विचार के अनुसार फल मिला। यदि हम अपने मन को पवित्र रखें तो हम प्रत्येक वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं।

साधना में हमें सबसे पहले अपने विश्वास को गहरा, स्थिर और अविचल बनाना होता है। परमात्मा सर्वत्र शक्तिमान, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है; इसलिये वह आत्म तत्व जो हमारे अन्तर में प्रवाहित है परमात्मतत्व का ही अंश हैं (ईश्वर अंश जीव अविनाशी)। वह ही हमारे अन्तर से वाणी के रूप में प्रकट होता हैं। इसलिये हमें अपनी वाणी को जितना अधिक सम्भव हो सके उतना पवित्र बनाना चाहिये। परमात्मा सत्य स्वरूप है। इसलिए जो भी कुछ हम अपनी वाणी से कहेंगे उसके लिये भगवान कहेंगे, "ऐसा ही हो।" इस सम्बन्ध में एक लघु कथा है। एक यात्री अपने मार्ग पर जा रहा था। कुछ मार्ग तय कर लेने के बाद गर्मी के कारण वह थकान अनुभव करने लगा, सड़क के किनारे एक बड़ा पेड़ था। वह उसके नीचे पहुंचा। वहाँ पेड़ की शीतल छाया में पहुंच कर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई और वह सोचने लगा, "इतनी ठंडी छाया पाकर कितना आराम मिला है यदि एक गिलास ठंडा पानी और मिल जाये तो कितना अच्छा हो।" उसका इतना सोचना था कि तुरन्त एक गिलास ठंडा पानी उसके सामने आ गया। पानी पीकर वह और भी अधिक प्रसन्न हुआ और सोचने लगा कि कितना अच्छा हो कि यहां ठंडी छाया में एक पलंग पड़ा हो और उस पर नरम बिछौने बिछे हों। उसका इतना सोचना था कि उसकी इच्छा की पूर्ति हो गयी और तुरन्त एक बिस्तर लगा पलंग वहां उस विशाल वृक्ष की छाया में उसके सामने था। उसने सोचा, "मेरे घर में भी इतना अच्छा पलंग, इतने अच्छे गद्दे, तकिये आदि नहीं हैं। काश ! यदि मेरी पत्नी भी इस समय यहां आकर देखे तो वह कितनी प्रसन्न हो।" इतना सोचते ही उसकी पत्नी उसके सामने आ गई। उसको देखकर उसे सन्देह हुआ, "यह मेरी पत्नी है या कोई राक्षसी ? कहीं यह मुझे खा तो नहीं जायेगी।" इतना सोचना था कि वह राक्षसी उसे सचमुच खा गयी। जिस वृक्ष के नीचे वह यात्री बैठा था वह 'कल्पवृक्ष' था जो कि मन वाँछित फल देता है। जब यात्री कल्पवृक्ष के नीचे बैठा था उसने जो-जो अच्छी वस्तुयें चाहीं उसे मिलती रहीं किन्तु साथ ही उसमें जब बुरे विचार आये तो उनके अनुसार बुरी वस्तुयें भी मिलती रहीं। यह संसार कल्पवृक्ष के समान है और हम सब इस कल्पतरु की छाया में बैठे हैं। यदि हम इसके नीचे बैठकर अच्छी बातें सोचते हैं तो हमारा भला होता है, और यदि हम बुरा सोचते हैं तो बुरा होता है। इसलिए जब हमारे विचार, आचार, व्यवहार और समस्त कर्म शुद्ध होंगे तो संसार रूपी कल्पवृक्ष हमको शुभ वस्तुयें ही प्रदान करेगा। भला और बुरा दोनों हमारे हृदय के विचारों के अनुसार ही होता है। यह कभी बाहर से नहीं आते। इसलिये अपने हृदय में शुद्धि वहुत आवश्यक है। इन सारी कथाओं और पुस्तकों के आन्तरिक भाव को हम समझें। जब हम प्रहलाद और हिरण्यकश्यप की कथा सुनते या सोचते हैं तो हम विचारें कि

प्रहलाद आस्थावान था, अच्छा था, हिरण्यकश्यप नास्तिक था। हमें यह भी सोचना चाहिये कि उन्हें आखिर में क्या हुआ। हम सोच विचार के बाद इसी निर्णय पर पहुंचते हैं कि यदि सोचने का ढंग अच्छा होता है अच्छी बातें होती हैं और यदि हम गलत ढंग से सोचते हैं तो बुराई ही हाथ आती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तु के लिए, शुभ-अशुभ संकल्प के लिये हमारी इच्छायें ही उत्तरदायी हैं। मैंने अपने सम्बन्ध में भी आप लोगों को बताया है। जो श्री सत्य साई (S S S) कह कर मुझे पुकारते हैं उन्हें मैं हाँ! हां! हां! (yes! yes! yes!) में उत्तर देता हूं। S. S. S. का अर्थ होता है श्री सत्य साई अथवा साँधिक या सामाजिक, सांस्कृतिक या शुद्ध, सनातन या प्राचीन। ये तीनों सत्य के ही रूप हैं वही महालक्ष्मी, महादुर्गा और महासरस्वती है। ये सारे ही रूप अपने हृदय में ही देखने की कोशिश करनी चाहिये। वह गायत्री भी है और हम कहते हैं "गायत्री छन्दसम् माता" गायत्री वेदों की माता है। वेदों से उपनिषद् आये और उपनिषदों से गीता। जिस प्रकार नदी को पार करने के लिए तैरना आना चाहिये इसी प्रकार जीवन की सरिता को पार करने के लिये गीता आवश्यक है। गीता को आप कंठस्थ कर लें, किन्तु यदि आप उसका अपने जीवन में पालन नहीं करेंगे तो उसका आप को कोई लाभ प्राप्त नहीं होगा।

आज प्रातःकाल मैंने आप लोगों को गजेन्द्र मोक्ष तथा कुछ अन्य कथायें बतायी थीं। यह गजेन्द्र कौन है? जैसी कि कथा है गजेन्द्र अपने पूर्व जन्म में एक राजा था। किसी ऋषि के शाप के कारण उसे हाथी का जन्म मिला। वन में अपनी हथनियों के साथ जाते हुए उसने एक झील देखी। जल लेने के लिए उसमें घुसा ही था कि एक ग्राह (मगरमच्छ) ने गजेन्द्र का पैर पकड़ लिया। गजेन्द्र पूर्व जन्म में एक बड़ा राजा था। राजा आत्मा का दूसरा रूप है आत्मा राजा है और परमात्मा राजा का निर्माता। वह व्यक्ति जो आत्म दृष्टि वाला था, एक ऋषि के शाप से पशु बन गया।

जब एक राजा हाथी में परिवर्तित हो गया तो इसका अर्थ क्या हुआ? इतना ही कि उसमें 'आत्म दृष्टि' नहीं रही और वह पशु योनि में बदल गया। आत्म दृष्टि सिंह की चाल के समान है। जब वह चलता है तो सीधा, चलते हुए पीछे नहीं देखता। जीव दृष्टि भेड़ की चाल के समान है जो सीधी नहीं चलती, उसके मन में सदा ही भय समाया रहता है। यदि हम आत्म-दृष्टि के साथ चलेंगे तो सीधे निर्भीकता और आनन्द के साथ चल सकेंगे। किन्तु यदि आत्म दृष्टि का लोप हो कर हमारी जीव

दृष्टि ही रह गयी तो हम भी जब तक पशु के समान बन जायेंगे। जैसे राजा जब हाथी बन गया उसने कठिनाइयाँ भोगी यही दशा सबकी हो जाती है। अपने दैनिक जीवन में यदि हम कोई गलत काम करते हैं तो घर के बड़े लोग कहते हैं, "तुमने ऐसा क्यों किया? क्या तुम पशु हो?" इसका यह अर्थ नहीं कि हम वास्तव में पशु हैं इसका अर्थ यह होता है कि जो कार्य किया वह पशु के समान है। वह हाथी अपने आत्म तत्व को भूल गया था और मोह, अज्ञान, मद से पूर्ण मिथ्या जीवन बिता रहा था। जीवन में यह स्थिति मदान्धता और माया से पूर्ण होती है और सत्य का ज्ञान नहीं रहता। हाथी जीवन बन में भ्रमण करता है तब वहाँ उसे प्यास लगती है। यह कैसी प्यास है? यह इन्द्रियों की विषयासक्ति है, उनको तृप्त करने की प्यास है। उसे वन में एक झील दिखायी देती है। यह झील क्या है? यह साँसारिक इच्छाओं और कल्पनाओं से पूर्ण है इसे ही संसार या परिवार कहते हैं। संसार के भोगों का सुख लेने के लिए ही उस सरोवर में घुस गया। वह अपनी कामनाओं, इच्छाओं और आसक्तियों से ऐसा जकड़ा हुआ है कि वह सोच भी नहीं सकता कि वह कर क्या रहा है, अतएव उसने सरोवर में पैर डाल दिये। तुरन्त ही एक ग्राह ने जिसकी तुलना 'ममकार' अर्थात मोह अथवा 'अहंकार' से की जा सकती है, उस गज के पैर पकड़ लिये। कोशिश करने पर भी गज अपने को उसकी पकड़ से नहीं छुड़ा पाया। पूर्ण प्रयत्न करने पर उसे पता चला कि उसकी सारी शारीरिक शक्ति क्षीण पड़ गयी है, वह थक गया और कमजोर पड़ गया है। उसने फिर अपनी मानसिक शक्ति का सहारा लेना चाहा किन्तु उसने पाया कि वह भी अपर्याप्त है जिससे उसका कोई काम नहीं बन पायेगा। तब कहीं उसे दैविक शक्ति का ध्यान आया। आजकल लोग उस गज के समान ही अपना जीवन बिता रहे हैं। मनुष्य केवल अपनी शारीरिक, बौद्धिक और भौतिक शक्तियों पर ही अवलम्बित रहता है और उस पर ही बड़ा भरोसा और गर्व करता है। किन्तु दैविक शक्ति पर ध्यान नहीं देता है और न उस पर भरोसा करता है। हाथी ने जब पाया कि उसकी अपनी शारीरिक और मानसिक शक्ति समाप्त है तब उसने भगवान की प्रार्थना करने का विचार किया। गजेन्द्र ने पहले ही प्रार्थना क्यों नहीं की? इतना कष्ट क्यों सहा? इतना विलम्ब क्यों किया? हमें इन सब का कारण खोजना चाहिए। हम लोग केवल शारीरिक और मानसिक शक्ति पर ही अपना जीवन यापन करते हैं। यदि कोई केवल इन्हीं दो शक्तियों पर पूर्णतया निर्भर रहता है तो उसे आनन्द नहीं मिल सकेगा। यद्यपि मनुष्य बाहर से सुखी दिखायी देता है किन्तु उसके हृदय में प्रफुल्लता और आनन्द नहीं होता क्योंकि ये दोनों शक्तियां मनुष्य को आनन्द या शान्ति देने में असमर्थ हैं किन्तु जब इन दोनों शक्तियों को परमात्मा को समर्पित कर देते हैं तो यह सोचा जाता है कि सब कुछ

ईश्वर की कृपा पर ही निर्भर है, उनके अनुग्रह के बिना कुछ भी सम्भव नहीं तभी सुख, शान्ति और सन्तोष प्राप्त हो सकते हैं। अन्यथा नहीं।(१) हम भागवत में पढ़ते हैं कि जब गजेन्द्र ने भगवान से प्रार्थना की तो उन्होंने अपना चक्र जिसे 'सुदर्शन चक्र' कहते हैं उसकी रक्षा के लिए भेजा। हमें 'सुदर्शन' के आन्तरिक अर्थ को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। सुदर्शन चक्र कोई अस्त्र या शस्त्र मात्र ही नहीं है। जब गज ने भगवान की ओर दीनतापूर्वक करुणाभरी दृष्टि से निहारा तो भगवान ने उसकी ओर देखा। सुदर्शन का अर्थ होता है अच्छे दर्शन, शुभ दृष्टि से देखना। जब गज ने भगवान की ओर अपनी आतुर दृष्टि डाली तो भगवान ने भी उस पर अपनी कृपा दृष्टि डाली। इसलिए इसे सुदर्शन कहते हैं। जब मैं शिरडी में था तो कहा करता था, "तुम मेरी ओर देखो मैं निश्चित रूप से तुम्हारी ओर देखूंगा।" जब आप की दृष्टि मुझ पर पड़ेगी तो मेरी दृष्टि भी आप पर पड़ेगी ही। जब हाथी ने अपनी शुभ दृष्टि भगवान की ओर फेरी तो भगवान की कृपा दृष्टि भी गजेन्द्र पर पड़ी जिससे उसके सब बन्धन छूट गये, ग्राह की जकड़ छूट गयी। हमें ग्राह के सम्बन्ध में सोचना चाहिये कि वह कौन है। यदि मगरमच्छ पृथ्वी पर होता है तो उसकी शक्ति क्षीण होती है किन्तु जब वह पानी में होता है जो कि उसका नैसर्गिक आवास है, उसकी शक्ति बहुत उग्र होती है। इसी प्रकार धर्म की धारणा शक्ति शब्दों में नहीं बल्कि उसके व्यवहार में है। जो धर्म का पालन करते हैं धर्म उनकी रक्षा करता है (जो दृढ़ राखे धर्म को, ताहि राखे करतार)। धर्मो रक्षति रक्षितः। भगवान ने गीता में कहा है, "धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे' अर्थात् धर्म स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूं। वास्तव में धर्म सनातन है, भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालों में है। तो धर्म की स्थापना की आवश्यकता क्यों ? इसका सीधा अर्थ है कि लोग धर्म का पालन नहीं करते हैं इसलिये श्रीकृष्ण ने धर्म की पुनर्स्थापना करने का संकल्प किया।

अनेकों ऐसी बातें हैं जिन्हें हम नहीं जानते और जिनके सम्बन्ध में हमारे अन्दर संदेह है। श्रद्धा और विश्वास तथा निष्ठापूर्ण चिन्तन द्वारा हमें उन संदेहों का

---

(१) 'नानक दुखिया सब संसार, जो सुखिया सो राम आधार'।
'सुने री मैंने निरबल के बलराम'।
'पिछली साख भरूं संतन की, अडे संवारे काम।'
'जब लगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्यो नहीं काम।
निरबल है बलराम पुकार्यो—आये आधे नाम।।'

निवारण कर प्रसन्न होना चाहिए। हमारे पुराण हमें केवल सत्य की ही शिक्षा देते हैं तथा उनमें सभी बातें इतनी स्पष्टता के साथ कही गयी हैं कि कोई संदेह रहना ही नहीं चाहिए। संदेह तभी उत्पन्न होते हैं जब हम पुराणों के शब्दों और सूक्तियों के गलत अर्थ लगाते हैं। मैं आपको एक छोटा सा उदाहरण देता हूं। हमारे मन में शुद्ध विचार ही उठने चाहिए और उनको हमें पवित्र वाणी द्वारा व्यक्त करना चाहिये। हमें जीव के संसार के अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। एक दिन एक राजकुमार अपनी राजसी पोशाक में एक जंगल में पहुंचा। वहां एक मुनि अपनी कुटिया में रहते थे। उन्होंने राजकुमार को देखकर कहा, "आप राजकुमार लगते हैं आप किसके पुत्र हैं?" राजकुमार ने उत्तर दिया, "हमारा राज्य जितेन्द्रिय राज्य कहलाता है और मैं राजा जितेन्द्रिय का पुत्र हूं।" मुनि आश्चर्य-चकित हुए और सोचने लगे कि क्या जितेन्द्रिय नाम का कोई राज्य है? शायद वह इस प्रकार का शाब्दिक प्रयोग कर रहा है। मैं नहीं समझता कि इस प्रकार का कोई राजा भी इस संसार में होगा। राजकुमार ने कहा, "हां मुनिवर! हमारा राज्य जितेन्द्रिय है तथा उसमें सभी प्रजाजन अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखते हैं। न केवल प्रजा बल्कि हर प्राणी वहां जितेन्द्रिय है। राजा भी जितेन्द्रिय है और उनका पुत्र मैं भी जितेन्द्रिय हूं।" मुनि वास्तव में बहुत ही आश्चर्य करने लगे कि हम मुनिगण कठोर तपस्या करते हैं संयम और अनुशासनबद्ध प्रयत्न करते हैं ताकि अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण हो सके किन्तु हमें पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होती। यह कैसे हो सकता है कि राजा, उसकी सम्पूर्ण प्रजा और राजकुमार सभी अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण पाकर जितेन्द्रिय बन जायें। मुनि ने इसकी परीक्षा करनी चाही। उन्होंने राजकुमार से कहा, "हे राजकुमार कुछ समय के लिए अपने ये राजसी वस्त्र मुझे दे दो और मेरा तपस्वी वेश तुम धारण कर लो।" राजकुमार तो जितेन्द्रिय था तत्काल राजी हो गया और तुरन्त अपने वस्त्र तपस्वी को दे दिये। मुनि ने एक पशु का रक्त लाकर उन राजसी वस्त्रों पर डाल दिया और उन रक्त रंजित वस्त्रों को ले मुनि जितेन्द्रिय राज्य में पहुंचा। मुख्य द्वार में प्रवेश करते ही उसने द्वारपालों से कहा, "तुम्हारा राजकुमार हमारे वन में आया था, शिकार खेलते समय वह स्वयं ही एक हिंसक पशु का शिकार बन गया। इसलिए मैं उसके ये वस्त्र लेकर यह बताने आया हूं कि राजकुमार मर गया है।" द्वारपाल हंसे और कहने लगे, "अच्छा तो आप इसलिए पधारे हैं?" राजकुमार की मृत्यु के समाचार को सुनकर भी अपने मुखों पर चिन्ता या शोक का तनिक भी भाव न लाते हुए उन्होंने मुनि को राजा के सम्मुख अन्दर भेज दिया। राजा के सम्मुख पहुंच कर मुनि ने कहा, "हे राजन् आपका पुत्र वन में आखेट खेलते हुये स्वयं हिंसक पशु का आखेट बन गया और उसकी

मृत्यु हो गयी। उसके ये वस्त्र लेकर मैं आया हू।" राजा मुस्कुराते हुए बोला "ओह न मैं उसका पिता न वह मेरा पुत्र। हम सब तो उन पक्षियों के समान हैं। जो संध्या के समय एक वृक्ष पर आकर बसेरा करते हैं और प्रातः होते ही उड़ जाते हैं। इसी प्रकार इस संसार रूपी वृक्ष के ऊपर हम पक्षियों के रूप में आ बैठे हैं और यहां थोड़े समय रहने के बाद उसी प्रकार उड़ जायेंगे जैसे प्रभात होते ही पक्षी अपने बसेरे से उड़ जाते हैं।" बस इतना सा ही सब कुछ है।" मुनि ने सोचा शायद किसी कारणवश सम्राट का अपने पुत्र के प्रति कोई प्रेम नहीं रहा इस लिए उन वस्त्रों को ले जाकर मुनि ने रानी को दिखाने का विचार किया और सोचा कि माता होने के नाते उसकी प्रतिक्रिया, शोक और वेदना से पूर्ण होगी, वह निश्चित रूप में इस पर अपना दुःख व्यक्त करेगी। रानी के सामने पहुंच जब उसने राजकुमार के वस्त्र दिखाते हुए राजकुमार की मृत्यु की बात कही तो रानी भी केवल मुस्कुरा कर रह गयी। मुनि को विस्मित देखकर वह बोली, सारे ही जीव, संसार के समस्त प्राणी इस कर्म क्षेत्र में तीर्थ यात्रियों के समान हैं। तीर्थयात्री एक तीर्थ से दूसरे तीर्थस्थान पर जाता है और मार्ग में किसी धर्मशाला में विश्राम के लिए ठहरता है और आगे चल देता है। हम सब इस संसार रूपी धर्मशाला में कुछ समय के लिए ठहरने वाले यात्रियों के समान हैं और सबको इसे अपने-अपने समय पर छोड़ कर चल देना है। वास्तव में पिता-माता और पुत्र का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता है। तब मुनि ने सोचा कि यदि राजकुमार की पत्नी को यह समाचार सुनाया जाये तो वह सुनकर अवश्य ही बहुत दुखी होगी क्योंकि पत्नी को पति की मृत्यु पर सबसे अधिक शोक होता है। मुनि उसके सामने उन वस्त्रों को लेकर पहुंचे और ऐसी शोकपूर्ण मुद्रा बनाई कि मुनि की आंखों से आंसू ढुलक पड़े। किन्तु राजकुमार की पत्नी केवल खड़ी देखती रही और फिर बोली, "स्वामी जी! आप एक सन्यासी का वेष धारण किए हैं किन्तु एक साधारण व्यक्ति के समान शोक कर रहे हैं और आंसू बहा रहे हैं। क्या आप बतायेंगे कि आपके रुदन का क्या कारण है?" मुनि ने राजकुमार की मृत्यु का शोकपूर्ण समाचार सुनाया और राजकुमार के वस्त्र दिखाये। वह अविचलित बनी रही और अपनी स्वाभाविक मुस्कान के साथ बोली, "वन में एक पेड़ है, उसकी एक शाखा टूट जाती है एक नाले के प्रवाह में बह जाती है। बन में एक दूसरा वृक्ष है उसकी डाल भी टूटती है और इसी प्रकार किसी दूसरे नाले के जल प्रवाह के साथ बह जाती है। दोनों नाले जाकर नदी में गिरते हैं और उस नदी में पहुंचकर इन दोनों वृक्षों की टूटी हुई शाखायें आकर आपस में मिल जाती हैं। कुछ समय तक एक साथ बहती रहती हैं और फिर जल प्रवाह वेग से या अन्य किसी कारण से अलग-अलग हो जाती हैं और अपने-अपने ढंग से अलग-अलग बहने लगती

हैं। इसी प्रकार हम दोनों मिले और अब अलग-अलग हो गए। जीवन का प्रवाह कुछ ऐसा ही है इसलिए इसमें आश्चर्य और शोक की क्या बात है। जीवन के प्रवाह में संयोग (आपस में मिलना) और वियोग (बिछुड़ना) तो एक स्वाभाविक क्रम है।" मुनि ने सोचा कि जो कुछ राजकुमार ने कहा था ठीक ही कहा था और उसके कथन की इस प्रकार पुष्टि हो जाने पर वह अपने आश्रम को लौट गया। फिर भी मुनि ने राजकुमार की मानसिक स्थिति की परीक्षा लेने का प्रयत्न किया और आश्रम में पहुंचकर मुनि बहुत शोक मग्न हो विलाप करने लगा। उन्हें देख राजकुमार बोला, "मुनिवर मैं आपको इस प्रकार बालकों की तरह रुदन करता देख कर बड़ा विस्मित हूं। ऐसी क्या बात हुई? क्या आप बताने की कृपा करेंगे?" मुनि ने कहा, "हे राजकुमार मैं तुम्हारी राजधानी में गया था। वहां पहुंचकर मुझे ज्ञात हुआ कि तुम्हारे माता और पिता तथा तुम्हारी पत्नी भी, मारे गए हैं। इस कारण मैं रो रहा हूं।" राजकुमार ने मुनि को समझाते हुये प्रश्न किए, "कौन है राजा? कौन है रानी? कौन है राजकुमारी? कोई भी मेरे सम्बन्धी नहीं हैं। यदि कोई सम्राट् है तो वह केवल परमात्मा ही है, उसने ही हमें साम्राज्य दिया था, उसी ने वापिस ले लिया। इसमें मुझे शोक करने की क्या आवश्यकता है। हमें तो सदा एक ही बात की सावधानी रखनी चाहिए कि इस जीवन में सत्कर्म करें और मुक्ति की प्राप्ति का प्रयत्न करते रहें। इसलिये, आप जो कुछ समाचार लाये हैं इस पर मुझे रोने या शोक करने का कोई कारण नहीं है।" राजकुमार ने मुनि को और भी समझाते हुए कहा, "माता नास्ति, पिता नास्ति, नास्ति बन्धु सहोदरः तुभ्यम् नास्ति, गृहम् नास्ति, तस्मान् जाग्रत, जाग्रत?"—न माता है न पिता है न बन्धु है, न पत्नी है, न घर है, इसलिये जागो, उठो। मनुष्य का जीवन पानी का बुलबुला है। (पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जात, तारा ज्यो ढल जायेगी जब आये परभात)। यह शरीर खाल का थैला है जिसमें नौ छेद हैं, कोई हीरा नहीं है जो चमकता हो। इससे कोई सुगन्धि नहीं निकलती बल्कि शरीर के भीतर के मल और विकार ही बाहर आते हैं दुर्गन्धि से पूर्ण। इसलिए हमें इस शरीर को शुद्ध रखना पड़ता है, इसकी प्रतिदिन सफाई करनी पड़ती है और इसे संवार कर श्रृंगार करके रखना पड़ता है। इस शरीर में परमात्मा है। यदि वह शरीर से बाहर हो जाता है तो फिर शरीर भी नहीं रहता। यह शरीर तो ऐसा है कि पवित्र को भी अपवित्र बना देता है।

मैं आपको एक उदाहरण देता हूं। एक बार नारद नारायण के पास गए। नारायण ने नारद से प्रश्न किया, "तुम तीनों लोकों में भ्रमण करते रहते हो, तुमने मेरी सृष्टि में क्या कभी कोई विचित्र बात देखी?" नारद ने उत्तर दिया, "भगवान्!

आप समझते हैं कि इस संसार में कुछ भी अधम या अपावन नहीं है। मैंने बहुत सी वस्तुयें ऐसी देखी हैं जो अपवित्र और अपावन हैं और शायद ही कोई ऐसा स्थान हो जहां ये न हों।" नारायण ने फिर पूछा, "मैंने जो सृष्टि की रचना की थी क्या उसमें कुछ अपवित्रता और अधमता थी ?" नारद ने कहा, "प्रत्येक व्यक्ति प्रति दिन प्रातः उठने पर मल त्यागता है। क्या मल से अधिक अपवित्र कुछ और होता है ?" नारायण ने कहा, "ओह ! नारद ! क्या तुम इसे अपवित्र समझते हो ? नहीं, वह अपवित्र नहीं है बल्कि वह अच्छा है।" नारद ने कहा, "भगवान यदि मैं भी यही कहने लग जाऊं कि मल अपवित्र नहीं है बल्कि अच्छा और पवित्र होता है तो लोग मुझे पागल खाने में डाल देंगे।" नारायण ने नारद से कहा, "जरा जाकर उससे तो पूछो।" नारद भ्रमण करते और नारायण का नाम भजते हुये मल के पास गए किन्तु जैसे ही उसके निकट पहुंचे मल ने नारद से कहा, "नारद जी, मेरे पास मत आइये।" नारद सोचने लगे कि "यह तो मुझे ही कहना चाहिए था इस दूषित और दुर्गन्धपूर्ण मल से किन्तु यह उल्टा मुझे ही कह रहा है। मैं ब्रह्म का पुत्र और देव-ऋषि हूं, सभी लोकों में मेरा आदर-सम्मान होता है। यह बड़े विस्मय की बात है कि यह मल मेरे साथ ऐसा व्यवहार करे।" ऐसा सोचकर नारद ने दूर से ही मल को सम्बोधित कर कहा, "अरे मल ! तू इतना दूषित, अपवित्र और दुर्गन्धपूर्ण है फिर भी तेरी यह धृष्टता कि तू मुझे दूर रहने की कहता है ? क्या बात है ?" मल ने उत्तर दिया, "कल रात मैं एक सेव के रूप में था, एक सुन्दर, स्वादिष्ट और सुगन्धित मिष्ठान के रूप में था, नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों के रूप में था, अच्छे पदार्थों के रूप में था। जैसे ही मैं मनुष्य के सम्पर्क में आया और उसने अपने पेट में पहुंचाया कि मेरी यह स्थिति हो गयी। मनुष्य के साथ एक बार सम्पर्क होने पर मेरी यह दशा हुई तो अब यदि फिर मनुष्य के सम्पर्क में आऊँगा तो वह मेरी और भी न जाने क्या दुर्दशा करेगा। इस मनुष्य शरीर की प्रवृत्ति है ही ऐसी कि कोई भी और कैसे भी पवित्र वस्तु जो इसके सम्पर्क में आती है अपवित्र और अपावन बन जाती है, दूषित हो जाती है। हम यह जानते हैं कि मनुष्य से तो अच्छा व्यवहार एक आटे की चक्की का होता है। यदि आटे की चक्की में गेहूं डालेंगे तो गेहूं का आटा, चावल डालेंगे तो चावल का आटा, अन्य किसी प्रकार का अन्न डालेंगे तो उसी प्रकार के अन्न का आटा आपको प्राप्त होगा। किन्तु इस शरीर रूपी चक्की में जो कुछ भी डाला जाता है मल बन कर ही बाहर आता है चाहे वह फल हों या मिठाई, चावल हो या चपाती। यदि किसी कांच या चीनी के बर्तन में अचार डालते हैं तो वह उसमें काफी समय तक कम-से-कम बारह महीनों तक तो सुरक्षित बना रहता है किन्तु इस शरीर में कुछ भी डालो बारह घंटों में ही दूषित हो कर मल के

रूप में बाहर आ जाता है। ऐसे इस शरीर के द्वारा भी पवित्रतम आत्मा को हम प्राप्त कर सकते हैं, यदि सत्य निष्ठा और विश्वास के साथ प्रयत्न करें तो परमात्मा के दर्शन मनुष्य शरीर में रह कर ही कर सकते हैं। यदि आभूषणों तथा हीरे-जवाहरात को सुरक्षित रखना चाहते हैं तो लोहे की मजबूत भारी तिजोरी में रखते हैं। यदि कीमती पदार्थों को किसी कीमती बक्से में रखें तो चोर उस बक्स सहित सारे पदार्थों को उठा ले जायेंगे। इसलिये बहुमूल्य पदार्थों को बहुमूल्य बक्से में न रख कर लोहे की भारी तिजोरी में रखते हैं। इसी प्रकार आत्मा जो पवित्रतम और सर्वोत्तम मूल्यवान है, ऐसे शरीर में रहती है जो किसी भी मूल्य का नहीं। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शरीर रूपी बाक्स आत्मा रूपी मूल्यवान पदार्थ को रखने के निमित्त ही है। इसलिये इस शरीर के इस उद्देश्य को जिसके लिए भगवान ने इसे बनाया है हमें सदा याद रखना चाहिये। यदि शरीर में अच्छे विचार नहीं हैं तो इसका क्या उपयोग ? चोर तक भी खाली बक्स को फेंक देते हैं और केवल मूल्यवान आभूषण और पदार्थ लेते हैं। इसलिए हमें याद रखना चाहिए कि यह बक्स-शरीर बहुमूल्य आभूषण-आत्मा और अच्छे गुणों दैविक सम्पदा को जो उसके साथ हैं—रखने के लिये है तथा उसी के अनुसार इस शरीर का अनुरक्षण होना चाहिए।

———

१२
शंकर जयंती

गीता शब्द में दो अक्षर हैं 'गी' और 'ता'। 'गी' त्याग का बोधक है और 'ता' अध्यात्मक का। इसलिए गीता हमें त्याग और वैराग्य की शिक्षा देती है और साथ ही आत्मा के सत्य स्वरूप और स्वभाव का भी ज्ञान कराती है। यदि गीता की इस शिक्षा को हम समझ सकें तो पायेंगे कि गीता हमें यही शिक्षा देती है कि मनुष्य के लिये सबसे महत्वपूर्ण त्याग है। यह त्याग कैसा हो यह भी गीता स्पष्ट करती है। यह त्याग होना चाहिए कर्म फल त्याग। गीता ने कर्म के त्याग का कभी उपदेश नहीं दिया है। बल्कि कहा है कि हम सब कुछ करें, अपने कर्म भगवान की प्रसन्नता के लिए करें और उनके फल की इच्छा नहीं रखें। भारत सदा से ही इस प्रकार की त्याग भूमि रही है। इतना ही नहीं यह देश 'योगभूमि' भी है। पूर्व में बंगाल की खाड़ी है और पश्चिम में अरब सागर है। दक्षिण में इन दोनों का मिलन 'हिन्द महासमुद्रम्' 'अर्थात 'हिन्द महासागर' है यह संगम हिन्दू शब्द का वास्तविक अर्थों में प्रतीक है और जीव तथा ब्रह्म की एकता बताता है। भारतवर्ष में जो लोग आदर्श जीवन जीते थे उन्हें आदर्श 'ज्योति' समझना चाहिये, सबको प्रकाश देने वाले। यद्यपि इतिहास बहुत महत्वपूर्ण और उपयोगी होता है, उसे व्यर्थ नहीं समझा जाना चाहिये, किन्तु साथ ही हमें यह समझ लेना चाहिये कि इतिहास केवल वह नहीं है जो हमें केवल राजाओं और उनके शासन के विस्तार तथा साम्राज्यों के उत्थान-पतन तथा दशाओं का वर्णन बताये बल्कि इतिहास वह है जो हमें भारत की वास्तविक आत्मा का बोध कराता है। आध्यात्मिक जीवन का अर्थ घर को छोड़ कर कहीं एकान्त वास करना नहीं है। आध्यात्मिक जीवन का वास्तविक अर्थ यह है कि प्रत्येक-व्यक्ति यह समझ जाये कि सब मनुष्य एक हैं और वह उनसे विलग नहीं बल्कि एक रस है उसी का एक अंश है। इस सार्वभौमिक एकात्मकता की शिक्षा, निस्वार्थ जीवन

की प्रेरणा, प्रेम पूर्ण जीवन की प्रेरणा जिससे प्राप्त होती है वही आध्यात्मिक जीवन है, अपने मन और मस्तिष्क को शास्त्रों के सिद्धान्तों, पुस्तकों और ग्रन्थों में दिये गये सूचना मूलक ज्ञान से बोझिल बनाने की अपेक्षा यह अच्छा है कि हम अपने हृदयों को प्रेम और आध्यात्मिक प्रेरणाओं से पूर्ण रखें। जब हमारे हृदय वास्तविक प्रेम से परिपूर्ण होंगे तब हमें विचारों की स्थिरता और मन की शान्ति उपलब्ध हो सकेगी ।

आज के संसार में हम अनेकों परिषदें, संस्थायें और संगठन देखते है। हमें समझना चाहिए कि समाज है क्या ? कुछ लोगों का एकत्रित हो जाना या कुछ लोगों का एक दल बन जाना समाज नहीं कहलाता। समाज का अर्थ होता है एकता की भावना से पारस्परिक मानसिक स्थिरता, समता और शान्ति। हमें समाज का सुधार उसके प्रत्येक घटक में और इस प्रकार सम्पूर्ण समाज में इस एकता, स्थिरता समता और शान्ति के विचार को पैदा करके करना चाहिए। समाज, किसी प्रकार का कोई विशेष पदार्थ नहीं है जिसे आंखों से देख सकें। समाज को बनाने वाले घटक, व्यक्तियों के तो रूप होते हैं किन्तु समाज या संस्था का नहीं। यदि व्यक्ति नहीं होगा तो समाज भी नहीं होगा। इसी प्रकार हम जगत् को देखते हैं किन्तु उसके मालिक 'जगदीश्वर' को नहीं देख पाते हैं। यदि जगदीश्वर न हो तो जगत् भी नहीं होगा। जिस प्रकार व्यक्ति समाज का एक अनिवार्य घटक या अंग होता है उसी प्रकार ईश्वर के बिना भी जगत नहीं बन सकता, और वही ब्रह्मांड का मूल आधार है। इस संदर्भ में लोगों को सर्व प्रथम अपने आप को सुधारना चाहिये, फिर समाज को और फिर देश को। यदि व्यक्ति अपने आपको ठीक नहीं करता है न ही सुधारता है और समाज को, देश को सुधारने का प्रयत्न करता है तो उसके सारे प्रयत्न असफल और व्यर्थ होंगे। सबसे पहले हमें अपने आपको, अपने घर को स्वच्छ और ठीक रखना चाहिए। उसके बाद क्रमिक रूप से आगे बढ़ते हुए अपने गाँव, नगर, जिलों प्रान्त और फिर देश के सुधार में लगना चाहिये। किन्तु पहले अपने आपको समझे बिना समाज और देश के सुधार के सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं। यदि हम सच्चिदानन्द की अनुभूति चाहते हैं तो वह हमें समाज में ही मिलेगी। यह भी मूर्खता ही होगी यदि अपने घर और समाज की उपेक्षा कर, बिना उनका सुधार किये सच्चिदानन्द की प्राप्ति के लिये किसी जंगल में जायें। परमात्मा तो सर्वव्यापी है, सब प्राणियों के हृदयों में उसका वास है। जो हृदय अपने सजीव साथी प्राणियों से प्रेम नहीं करता वह ईश्वर से कैसे प्रेम करेगा ? लोग एक ओर तो भगवान से प्रार्थना करते हैं, उसकी स्तुति करते हैं और दूसरी ओर अन्य लोगों को नुकसान भी पहुंचाते हैं, यह ठीक नहीं है। ऐसे लोग परमात्मा का प्रेम नहीं प्राप्त कर

सकते, उसका प्रेम प्राप्त करने के लिए हमें अपने मानव बन्धुओं से सभी प्राणियों से प्रेम करना होगा। यदि यह प्रेम भावना हृदय में नहीं आई तो फिर संसार में कभी भी सफलता प्राप्त नहीं की जा सकती है।

इस प्रेम की शिक्षा देने के लिए भारत में अनेकों महापुरुष हुये हैं और उन महापुरुषों ने इसके साथ-साथ संसार के समस्त प्राणियों में एक आत्म तत्व की शिक्षा भी दी है। इन महान् आदर्शों की शिक्षा देने वाले देश के महान पुरुषों में एक शंकराचार्य भी हुए हैं। यदि आज का दिन हम शंकराचार्य की शिक्षाओं और उपदेशों को समझने का बिना कोई प्रयत्न किये केवल खुशियां मनाने के उत्सव के रूप में बितायेंगे तो वह शंकराचार्य के प्रति हमारी श्रदा और कृतज्ञता की सच्ची अभिव्यक्ति नहीं होगी। उनकी जयंती मनाना तो सही अर्थो में तभी सार्थक होगा जब हम उनकी शिक्षा और उपदेशों के अनुसार पूर्ण हृदय के साथ अपना जीवन बितायें, अपने सारे कार्य करें। भारत में अनेकों उत्सव मनाये जाते हैं किन्तु वे सब केवल 'आहार' या 'विहार' के लिए नहीं होते। आमोद-प्रमोद के लिए नहीं होते हैं; उन सब का आधार आध्यात्मिक होता है। इन अवसरों पर हमें कम से कम एक ऐसी बात को, जो ऐसे महापुरुषों ने सर्व लोक हित की दृष्टि से कही है, भली प्रकार समझने और उसका अपने जीवन में पालन करने का संकल्प लेना चाहिए। ऐसे पवित्र दिवसों पर, महापुरुषों के जन्म दिवसों और निर्वाण दिवसों को केवल छुट्टी का दिन (Holiday) नहीं समझना चाहिए बल्कि पावन दिवस (Holy day) समझना चाहिये और हमें उस दिन को उसी दृष्टि से बिताते हुये अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहिये। हम जिस देश में रहते हैं जहाँ पैदा हुये हैं उसकी आत्मा के साथ हमें समरस होना चाहिये। क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो यह नहीं कहता यह मेरी मातृभूमि है यह मेरी मातृभाषा है। यह भी बड़ी दयनीय बात है कि बहुत से भारतवासियों की अपनी अमूल्य संस्कृति में श्रद्धा नहीं है। भारतवर्ष तो एक बहुत ही सुन्दर बाग के समान है। जिस प्रकार एक उद्यान की सुन्दरता शोभा और आकर्षण उसमें उपलब्ध विविध रंग और आकार के अनेकों प्रकार के पुष्पों, पौधों और वृक्षों पर निर्भर रहती है इसी प्रकार हमारे देश की शोभा सुन्दरता और आकर्षण अनेकों धर्मों के आधार पर है। हम देखते हैं कि भारतवर्ष एक ऐसा देश है जिसमें अनेक धर्मों का सह-अस्तित्व है, यहां अनेकों जातियां निवास निवास करती हैं। इतनी विविधता के होते हुए भी सब एक आन्तरिक एकता-भारतीयता की भावना के साथ रहते हैं और आपस में एक दूसरे को अपना भाई-बहिन समझते हैं। ऐसी विविधता में एकता वाला अद्भुत विशाल देश हमें संसार में शायद ही कहीं देखने को मिले। हमें चाहिये कि इस आन्तरिक एकता की भावना

को, जो हमारे देश की आत्मा है, हम सफल बनायें। समृद्धि कोई आकाश से नहीं उतरती है और न ही बाहर से आती है बल्कि वह तो अर्जित की जाती है अपने ही प्रयत्नों से। जिस युग में आप लोग रह रहे हैं वह आपके लिए बड़ा अनुकूल है। इसलिए ऐसे अनुकूल समय में आपको देश को समृद्ध बनाने के लिए दृढ़ संकल्प करना चाहिये क्योंकि दृढ़ संकल्प की निष्ठा पूर्ण साधना से ही समृद्धि उपलब्ध हो सकती है। मनुष्य का जीवन उच्च और महान् उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए है न कि केवल पशुवत् आहार, निद्रा, भय और वासना तृप्तियों के लिए है।

शंकराचार्य ने अपने स्वयं के जीवन का आदर्श प्रस्तुत करते हुए भारतीय संस्कृति की महानता और बहुमूल्य उपयोगिता सिद्ध की थी। शंकराचार्य ने परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त करने का अथक परिश्रम किया। वेदान्त वाक्य है "ब्रह्मविद् ब्रह्मवै भवति"—जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म हो जाता है। शंकराचार्य ऐसे ही थे। समस्त योनियों में, जीवन के अस्तित्व के स्वरूपों में मनुष्य जीवन ही श्रेष्ठतम् और महानतम् है और बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। शंकराचार्य जब एक छोटे बालक ही थे उनके पिता को किसी आवश्यक कार्य से पास के एक गांव में जाना पड़ा। शंकर के घर में नित्य प्रति नियमित रूप से भगवान की पूजा होती थी। उसके पिता पूजा करते थे, नैवेद्य चढ़ाते थे और बाद में जो भी उस समय उपस्थित होते सब को प्रसाद बांटते थे। उस दिन उसकी माता भी किसी कारण वश घर से बाहर गई थीं। इस प्रकार पूजा का उत्तरदायित्व बालक शंकर पर आ पड़ा। शंकर को इस वैदिक शिक्षा का उस बाल्यावस्था में ही ज्ञान हो गया था 'मातृ देवो भव! पितृ देवो भव।' पिता घर से जाते समय बालक शंकर से कह गए थे—"बेटा! मेरी अनुपस्थिति में तथा तुम्हारी माता की अनुपस्थिति में भगवान की पूजा और नैवेद्य में किसी प्रकार की ढील और चूक नहीं होनी चाहिए।" शंकर ने इन आदेशों का पालन करने का उन्हें आश्वासन दिया। शंकर ने एक पात्र में दूध डाला और देवी की मूर्ति के सामने रखकर प्रार्थना की, "मां! मैं यह दूध आपको समर्पित करता हूं कृपया इसे ग्रहण करें।" शंकर बहुत देर तक प्रार्थना करते रहे किन्तु न तो देवी आयी और न उन्होंने वह दूध ग्रहण किया। शंकर बड़े निराश हुए और कहने लगे, "माँ! माँ! मैं कितनी देर से आप से प्रार्थना कर रहा हूं, आप यह दूध ग्रहण नहीं कर रही हैं जबकि पिताजी आपको नैवेद्य चढ़ाते थे तो आप तत्काल स्वीकार कर लेती थीं। मुझ बालक के इन नन्हें हाथों ने ऐसा कौन सा अपराध किया है कि आप मुझ से इतनी रुष्ट हैं।" इस प्रकार शंकर अपने हृदय के अन्तरतम् भावों को प्रकट करते और रुदन करते हुए मां से प्रार्थना करते रहे। उन्हें इतना पश्चात्ताप हो रहा था

कि अपने जीवन की बलि तक देने के लिये तैयार थे, "पिताजी देवी माँ को दूध यह नैवेद्य अर्पित करने के लिए कह गए थे किन्तु मां तो इसको स्वीकार ही नहीं कर रही हैं, न जाने मुझ में ऐसा क्या दोष है। मेरा जीवन व्यर्थ है, मैं क्यों न अपने प्राण त्याग दूं।" शंकर बाहर गए और एक बड़ा सा पत्थर उठा लाये जिससे कि अपने आपको मार सकें। विश्व जननी माँ बड़ी करुणामयी है, शंकर की निष्कपट भावनाओं से द्रवित हो उठी और तत्काल साक्षात् रूप में प्रकट होकर शंकर द्वारा समर्पित नैवेद्य ग्रहण कर लिया। पात्र में रखे सम्पूर्ण दूध का पान कर माँ ने खाली पात्र उसके सामने रख दिया। बालक शंकर बहुत प्रसन्न हुआ, उसकी खुशी का ठिकाना न रहा कि माँ ने उसके द्वारा चढ़ाया नैवेद्य ग्रहण किया और अब उस पात्र में बाँटने के लिए भी कुछ नहीं बचा। किन्तु फिर ध्यान आया कि जब पिताजी लौटकर आयेंगे और नैवेद्य के प्रसाद की माँग करेंगे तो उन्हें क्या दूंगा ? कहीं वे यह न सोचने लग जायें कि सारा बचा हुआ दूध मैंने पी लिया और मुझ पर नाराज होने लगें। इस भय से भयभीत होकर अबोध बालक ने माँ से फिर प्रार्थना की, "हे माँ ! इस पात्र में एक बूंद दूध तो छोड़ देती जिसे मैं पिताजी को प्रसाद में दे सकता अन्यथा अब वे मेरे सम्बन्ध में यह सोचेंगे कि सारा दूध मैंने ही पी लिया होगा।" किन्तु देवी प्रकट नहीं हुई। वह फिर प्रार्थना करने लगे और अपना निर्मल हृदय उंडेलते रहे। करूणामयी माँ पुनः द्रवित हुई और अपने स्वयं के दूध से उस कटोरे को भर दिया। ऐसा समझा जाता है कि शंकर ने जगत-जननी माँ भगवती के उस दैविक दुग्ध का प्रसाद पाया था इसलिये उच्चतम् बुद्धि, विवेक, ज्ञान और प्रज्ञान प्राप्त करने में सफल रहे और विश्व को भी परम ज्ञान का मधुर-आस्वादन करवाया। माँ देवी भगवती के अनुग्रह का सार ही शंकर के परम ज्ञान का आधार बन गया। अपने पिता की प्रसन्नता अर्जित करने के लिए शंकर ने देवी को पुनः प्रकट होने के लिए और वह दैविक प्रसाद पाने के लिए विवश कर दिया। ऐसी थी उसकी पितृ भक्ति और देव-भक्ति। इस कथा से हमें अपने पिता की पूर्ण निष्ठा और भक्ति के साथ आज्ञा पालन करने और उनकी सेवा करने की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

आइए अब शंकर की मातृ भक्ति भी थोड़ी याद करें। शंकर यह जानते थे कि यदि माँ को प्रसन्न नहीं किया तो वह अपनी साधना में सफलता नहीं पा सकेंगे। यद्यपि शंकर की सन्यास धारण करने की तीव्र इच्छा थी किन्तु माता की पूर्व अनुमति के बिना वह ऐसा नहीं करना चाहते थे। शंकर अपनी माँ के इकलौते पुत्र थे इस लिए उनकी माँ भी उन्हें सन्यास लेने की अनुमति देने वाली नहीं थी। शंकर ने जो सन्यास ग्रहण किया था वह आजकल के सन्यासियों का सा सन्यास नहीं था।

केवल गेरुआ वस्त्र धारण करने मात्र से ही व्यक्ति पर भक्ति और वैराग्य अपने आप नहीं उतर आते हैं। आप लोगों को ज्ञात होगी शंकर के जीवन की वह घटना जब वह स्नान करने गये, जल में मगरमच्छ ने उनका पैर पकड़ा और माँ से सन्यास ग्रहण करने की अनुमति पाकर उस मगरमच्छ से अपने आप को मुक्त करा बाहर आये थे। जल से बाहर नदी तट पर आकर शंकर ने अपनी माँ से कहा था, "माँ ! जल में मुझे वास्तविक मगर ने नहीं पकड़ा था, वह तो मैं जीवन के जल में संसार अथवा परिवार के मगरमच्छ द्वारा जकड़ा हुआ था।" शंकर ने सदा अपनी बुद्धि और विवेक का उपयोग किया किन्तु कभी भी अपने माता-पिता जी की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया। हम जब तक कुछ न कुछ करते रहते हैं जो कभी-कभी समय और परिस्थिति के उपयुक्त नहीं होते हैं। जब लोहा गर्म होकर लाल हो जाता है तो उसे हथौड़े की चोटों से आप अपना इच्छित स्वरूप दे सकते हैं। किन्तु जब वह ठंडा पड़ जाता है तो फिर कैसा भी शक्तिशाली आदमी उसको कितना भी पीटे वांछित रूप में नहीं बदल सकता। इसलिये हमारे सभी प्रयत्न और कार्य समय और परिस्थिति के उपयुक्त और अनुकूल तथा सही दिशा में होने चाहिये। इस समय आपकी ऐसी अवस्था है जब आप कुछ भी कर सकते हैं, अपने जीवन को जिस रूप में चाहें ढाल सकते हैं। आप लोगों को यह ध्यान रखना चाहिये कि आपको भारत के भावी नागरिक बनने की शिक्षा दी जा रही है, इतना ही नही बल्कि आपको भारत की नैतिक और आध्यात्मिक सेना के सिपाही बनने का प्रशिक्षण दिया जा रहा है। ये ग्रीष्म कालीन कक्षायें भारत पर सभी दिशाओं से आने वाले संकटों से रक्षा करने के लक्ष्य को सामने रख कर प्रारम्भ की गयी हैं। हमें अपनी संस्कृति की स्थापना, पोषण, अनुरक्षण और परिवर्द्धन करने के लिये सदा यत्नशील रहना चाहिए। यदि हम अपनी संस्कृति को त्यागते हैं, भुलाते हैं तो इससे बड़ी भूल कोई नहीं होगी, हमारा इस संसार में जीना व्यर्थ होगा।

मैं अब आपको शंकराचार्य के जीवन की बहुत ही रोचक और आकर्षक घटना सुनाता हूं। एक बार शंकराचार्य जब बनारस में थे वह नदी से अपने स्थान पर लौटते हुए एक गली में होकर आ रहे थे और उसी गली में दूसरी ओर से एक व्यक्ति चला आ रहा था जिसे समाज के लोग अछूत कहते थे। शंकर एक ओर हो गये और उस अछूत को दूर से निकल जाने के लिये कहा जिससे कि उनका स्पर्श न हो जाये क्योंकि ब्राह्मण होने के नाते उससे स्पर्श हो जाने से अपवित्र हो जाने का भय था। उस अछूत ने शंकर से प्रश्न किया, "क्या आप शरीर को दूर रहने के लिये कह रहे हैं ? यदि ऐसा है तो एक जड़ शरीर दूसरे जड़ शरीर से यह बात कह रहा है और

उसे ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं है। यदि आप आत्मा को दूर रहने के लिये कह रहें हैं तो जो आत्मा आप में है वही मुझ में है इसलिये आत्मा अपने आप से कैसे दूर हट सकती है और अलग हो सकती है।" शंकर ने विचार किया, "यह व्यक्ति जिसे मैं अछूत समझता हूं, कितने ज्ञान की बात कह रहा है, इसे आत्मा और अनात्मा का, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है, उनके भेद को भली प्रकार समझता है इसलिये मुझे इसका सम्मान करना चाहिए।" इतना विचार कर शंकर उसके समक्ष नत मस्तक ही नहीं हुये बल्कि भूमि पर लेट कर उसे साष्टांग प्रणाम किया। वह अछूत और कोई नहीं बल्कि भगवान विश्वनाथ स्वयं थे। शंकर से प्रसन्न होकर उनके समक्ष अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट हुये। कोई ब्राह्मण हो या अन्य किसी जाति का, यदि वह अद्वैत तत्व को भली भाँति जानता है तो उसे सच्चा आध्यात्मिक ज्ञान है।

विभिन्न धर्म, भिन्न-भिन्न दिखायी देते हैं, उनके मार्ग भी भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु लक्ष्य सब का एक ही है। लोग जो वस्त्र पहनते हैं वे तरह-तरह के होते हैं, रंगों में और आकार-प्रकार में लेकिन बनते सब कपड़े के हैं जो एक ही पदार्थ से तैयार होता है। आभूषण अनेकों प्रकार के होते हैं किन्तु जिस स्वर्ण के वे बनते हैं वह एक ही होता है। गायें अलग-अलग होती हैं, रंग रूप में किन्तु देती सब दूध हैं जो एक ही होता है। दर्शन अलग-अलग होते हैं लेकिन जिस ब्रह्म के सम्बन्ध में उनमें विचार और चिन्तन होता है वह ब्रह्म एक ही है। इस मूल आधार को लोग भूल जाते हैं। और अज्ञान के कारण भ्रम में पड़ जाते हैं। हम स्वयं ही माया जाल के कारण विविधता और अनेकता के जाल में फंस जाते हैं, आपस में भेद की दीवारें खड़ी कर लेते हैं और फिर अपने लिये स्वयं ही कठिनाइयाँ, दुख और संकट उत्पन्न कर लेते हैं तथा शोक के सागर में गोते लगाने लगते हैं। प्रत्येक को चाहिये कि वह ज्ञान के वास्तविक उद्‌गम तक पहुंचे, सम्पूर्ण सृष्टि की मूल भूत एकता को समझे और उसका अनुभव करे। उसी से जीवन पवित्र और पावन बनेगा तथा सार्थक हो सकेगा। एक छोटा सा उदाहरण है। एक वृक्ष है उसके नीचे ठंडी छाया होगी। अनेकों प्राणी आते हैं और उसके नीचे बैठ कर शान्ति पाते हैं, आराम करते हैं। किन्तु उस वृक्ष को कभी यह अभिमान नहीं होता कि देखो पशु-पक्षी और मनुष्य भी मेरी छाया के नीचे आराम और सुरक्षा पाते हैं। किन्तु मनुष्य बड़ा अभिमानी और स्वार्थी होता है, इसलिये वह मिथ्या अभिमान के कारण दुख पाता है। अपने द्वारा निर्मित माया जाल में फंसा छटपटाता रहता है। हम में सदा एक गलत विचार रहता है कि कुछ लोग हमारे हैं, उन पर हमारा अधिकार है, अन्य लोग हमारे नहीं है, उनकी हम उपेक्षा करते हैं जब आप स्वयं अपने बारे में सोचते हैं तभी आप सच्चे अर्थों में अपने

लोगों को जान पायेंगे इसलिये सबसे पहले अपने स्वयं को पहचानने का, जानने का प्रयत्न किया जाना चाहिये । अपने स्वयं को जानने का प्रयत्न 'सांख्य ज्ञान' कहलाता है । 'मैं' क्या है और यह 'मैं' कहाँ से आया इस सबका ज्ञान तारक ज्ञान कराता है । 'मैं' स्थायित्व में टिक कर, कोई उसके सत्य को जानने का प्रयत्न करे तो वह स्थिति अमनस्क कहलाती है इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को 'मैं' जानने का प्रयत्न करना चाहिये और 'अमनस्क' की पूर्ण स्थिति प्राप्त करनी चाहिये ।

आजकल हम शंकराचार्य जयंती, रामानुजाचार्य जयंती मध्वाचार्य जयंती मनाते हैं तथा अन्य अनेकों महापुरुषों की जयंतियां मनाते हैं । हम सोचते हैं कि ये नाम भिन्न-भिन्न हैं । आज न केवल शंकराचार्य की जयंती है बल्कि रामानुजाचार्य की भी जयंती है । अनेको नामों से पुकारे जाने वाले दर्शनों की एकता को जाने बिना हम सोचते हैं कि ये अलग-अलग हैं और इस प्रकार भेद उत्पन्न करके आपसी घृणा पैदा करते हैं । वास्तव में ईश्वर के विषय में भेद रखने की कोई गुंजाइश ही नहीं है । यदि वैष्णव और शैव एक दूसरे को पसन्द नहीं करते तो यह उनका अज्ञान और मूर्खता है, आन्तरिक एकता की वास्तविक अनुभूति का अभाव है । आज के युवक को उस आन्तरिक एकता को समझने का प्रयत्न करना चाहिये, ऊपरी भेद भावों और अन्तरों को महत्व नहीं देना चाहिए । उन्हें आपस में मिलजुल कर एकता की भावना के साथ, प्रेम और प्रसन्नता के साथ रहना चाहिये । इस एकता के सम्बन्ध में मैं आप को एक उदाहरण देता हूं । हम देखते हैं कि भगवान शंकर के एक हाथ में त्रिशूल और दूसरे में डमरू रहता है । इसी प्रकार भगवान विष्णु के एक हाथ में चक्र और दूसरे में शंख रहता है । शंख ध्वनि का प्रतीक है और चक्र काल का और इस प्रकार विष्णु ने ध्वनि और काल तत्वों को अपने हाथों में ले रखा है । इसी प्रकार डमरू ध्वनि का और त्रिशूल-त्रिकाल (भूत, भविष्य और वर्तमान) का प्रतीक है । विष्णु और शिव दोनों के हाथों में ध्वनि और काल हैं । फिर बताइये दोनों में क्या अन्तर रह गया । अन्तर केवल नाम और रूप में है किन्तु दोनों की शक्ति और सत्ता समान और एक ही है । जिस प्रकार वेदों में अद्वैत सिद्धान्त की शिक्षा दी गयी है वही शिक्षा कुरान और बाइबल में है । उपनिषदों में कहा गया है कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक अणु-परमाणु में है (ईशावास्यम् इदं सर्वं ···)' इसी प्रकार की बात बाइबल में कही गयी है, "सब संसार एक है पुत्र, सब के बनो भले और मित्र ।" यह तो केवल हमारे अंहकार के कारण हम आपसी भेद पैदा कर लेते हैं और अपनी अशान्ति, दुखः और संकटों के लिए स्वयं ही उत्तरदायी होते हैं । आज शंकर-जयंती के इस पवित्र अवसर पर हमें यह जानना चाहिये कि शंकर ने क्या शिक्षा दी

थी और उस शिक्षा को अपने जीवन में व्यवहारिक रूप में अपनाने का प्रयत्न करना चाहिये। यद्यपि बहुत सी बातें निर्जीव लगती हैं किन्तु जब वे वास्तव में हमारे जीवन में आकर मिल जाती हैं तो सजीव और महत्वपूर्ण बन जाती हैं। उदाहरण के लिए देखें कि हम सब्जियां बनाते और खाते हैं। हम चावल उबालते हैं और खाते हैं। पकाने और उबालने से सब्जी और चावल का जीव तत्व निकल जाता है। जब वे पक जाते हैं तो हमें सोचना चाहिये कि वे निर्जीव या जड़ हो गये हैं किन्तु जब वे हमारे शरीर में पहुंच जाते हैं तो चेतन्य में परिवर्तित हो जाते हैं और हमें शक्ति और बल प्रदान करते हैं।

आज आपको बताया गया कि तीन प्रकार के सत्य होते हैं—'प्रतिभासिक सत्य', 'व्यावहारिक सत्य', और 'पारिमार्थिक सत्य'। किन्तु सत्य तो सदा एक ही होता है तीन नहीं। हम केवल सोचते ही हैं कि सत्य तीन प्रकार का होता है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं हैं। मैं आप को एक उदाहरण देकर समझाता हूं कि सत्य का तीन भेदों में यह वर्गीकरण व्यर्थ है। प्रतिभासिक सत्य का न कोई आधार है और न ही कोई अस्तित्व। जब न तो अधिक अंधेरा होता और न ही उजाला उस समय संध्या के क्षीण प्रकाश में हम भ्रमवश रस्सी को सर्प समझ लेते हैं! किन्तु वास्तव में सर्प होता नहीं है। सर्प तो केवल हमारी कल्पना में होता है, जबकि वास्तव में वहां होती एक रस्सी ही है। यह प्रतिभासिक सत्य है। जब हम शीशे के सामने खड़े होते हैं तो उसमें अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं किन्तु जैसे ही शीशे के सामने से हटते हैं वह प्रतिबिम्ब भी दूर हो जाता है इसलिये यह प्रतिबिम्ब सत्य नहीं है। जब मूल पदार्थ सामने होता है तो उसका ही प्रतिबिम्ब हमें शीशे में दिखायी देता है, बिना मूल पदार्थ के प्रतिबिम्ब नहीं होता। यह व्यावहारिक सत्य का उदाहरण है। पारमार्थिक सत्य वह है जो सर्वत्र और हर जगह उपस्थित रहता है। यह सत्य और सनातन है। इसे एक उदाहरण से समझें। हमारे पास एक चांदी का कटोरा है। हम उसे एक स्वर्णकार को देते हैं और उसकी एक तश्तरी बनवाते हैं। कुछ समय बाद हम स्वर्णकार को उस तश्तरी की एक चांदी का मंजुषा (बक्सा) बनाने के लिये देते हैं। इस प्रकार वह चांदी पहले कटोरा थी, फिर वह ही तश्तरी बनी और फिर एक मंजूषा। इस प्रकार हम देखते हैं कि चांदी वही रही किन्तु उसके नाम और रूप बदलते रहे। हम मूल धातु चांदी को महत्व देते हैं उसके बने पदार्थों के रूप और नामों को नहीं। यह पारमार्थिक सत्य का उदाहरण है। संसार में जो नाना रूप नाना नामों से हमारे सामने हैं वे विभिन्न कटोरे, कटोरी, कप, तश्तरी, गिलास, मंजूषा, बक्स आदि के समान हैं किन्तु उसकी मूल धातु चांदी के समान

एक ही है और वह है आत्मा जो कभी नहीं बदलती सदा एक ही रहती है। बहुत से बल्ब होते हैं कम और अधिक वोल्टता के विभिन्न रंगों के तथा वे सब उसी आधार पर प्रकाश देते हैं किन्तु उनमें एक ही विद्यु त धारा प्रवाहित होती है, वे सब विजली के एक ही करेंट से जलते हैं। इस संसार के विभिन्न आकार प्रकार के पदार्थ और प्राणी देखते हैं, विभिन्न प्रकार की जातियाँ और नस्लें देखते हैं किन्तु हमें यह जान लेना चाहिये कि एक ही परमात्म तत्व उन सब में मौजूद है, वह आन्तरिक परम सत्य सबमें समान रूप से व्याप्त है। हमारे विद्यार्थी को यह 'सम-दृष्टि' और 'सम भाव' प्राप्त होना चाहिये।

आजकल विद्यार्थियों में अनुशासन की नितान्त और परम आवश्यकता है। सफलता प्राप्त करने के लिये अनुशासन अपरिहार्य है। यदि हम संसार में सफलता चाहते हैं तो हममें आत्म विश्वास और आत्म त्याग होना ही चाहिये। यदि ये गुण और योग्यतायें नहीं हैं तो फिर जीवन व्यर्थ है। जब नदी का प्रवाह अस्थिर और अनिश्चित होता है तो उसको नियन्त्रित करने के लिये उस पर बांध बनाया जाता है, उसके प्रवाह को इच्छित रूप में गति और मार्ग दिया जाता है जिससे कि नदी के समुद्र में मिलने से पूर्व उसके जल और प्रवाह का जन जीवन के लिये हितकर उपयोग किया जा सके। इसी प्रकार हमारा विचार प्रवाह जो अनिश्चित और अस्थिर से यों ही उद्देश्यहीन उदण्डता के साथ व्यर्थ बहा चला जा रहा है उसे अनुशासन का बांध बाँध कर नियन्त्रित करना चाहिये और उसे संयत गति और प्रवाह के साथ विवेक और त्याग के मार्गों से बहा कर आत्म-विश्वास के सागर तक पहुंचाना चाहिये। हम भारत वासियों को इस समय ये तीन गुण अपनाने की तो नितान्त आवश्यकता है—त्याग, आत्मविश्वास और अनुशासन। हम सामान्यतया यह सोचते हैं कि यह शरीर हमारा है जबकि वास्तव में ऐसा नहीं है। इसी प्रकार हम सोचते हैं कि नाम हमारा है जबकि वास्तव में ऐसा नहीं है। इसी प्रकार सुख और दुखः जो हमारे नहीं हैं उन्हें हम अपना समझते हैं। इसी कारण हमें इतने दुख और कष्ट उठाने पड़ते हैं। आप सोचते हैं कि जो नाम हमें हमारे घर के बड़ों ने या माता-पिता ने दिया है वह हमारा है किन्तु यह आपका वास्तविक नाम नहीं है। आप का वास्तविक नाम तो आत्मस्वरूप है। आप सब 'अमृत' पुत्र हैं न कि 'अनृत' पुत्र अर्थात् सत्य सनातन की सन्तति हैं न कि असत्य की, इसलिये नश्वर नाम और रूपों से हमें नहीं चालित होना चाहिये और अपने इस सत्य सनातन स्वरूप को समझना चाहिये। युवकों को वे चाहे घर में हों या कॉलेज में, समाज में हों या और कहीं भी, बुरे विचार को अपने मन और मस्तिष्क में घर नहीं करने देना

चाहिए । युवकों को तो अपना जीवन नैतिकता, आध्यात्मिकता, शान्ति और प्रसन्नता परआधारित रखना चाहिये। हमें चाहिये हम बुराई को दखने और सुनने से दूर रहें।

आजकल विद्यार्थी कॉलेज किसी न किसी वाहन या सवारी पर जाते हैं, जैसे साईकिल, स्कूटर, मोटर, बस या कार से । माता पिता को विद्यार्थी के घर से बाहर जाने के बाद घर वापिस सुरक्षित लौट आने तक उनके प्रति उत्सुकता बनी रहती है। इसका क्या कारण है ? क्या इसलिए कि उनके कालेज आने जाने के मार्ग पर बड़ी-भीड़-भाड़ पूर्ण यातायात रहता है ? नहीं ! इसका कारण है घर वालों के दिल दिमाग में बुरे ख्याल आने की आदत जो पड़ी होती है, उनके सामने दुर्घटनाओं के दृश्य आते रहते हैं और उन्हें बुराई सूझती रहती है । विद्यार्थियों को चाहिए कि जब वे साईकिल से जा रहे हों तो सीधे सामने सड़क पर देखें न कि इधर उधर देखते रहें सिनेमा के पोस्टरों को या विज्ञापनों आदि को क्योंकि ऐसा करने पर ही दुर्घटनायें होती हैं । (कोई भी कार्य सावधानी और सतर्कता के साथ करना चाहिए तत्सम्बन्धी अनुशासन का पालन करते हुए) क्योंकि 'सावधानी हटी कि दुर्घटना घटी' । अपना ध्यान अपने लक्ष्य पर केन्द्रित रहना चाहिए । इसलिए कभी इधर उधर नहीं देखते रहना चाहिए । आप अभी युवा हैं इसलिए आपको जीवन में अभी बहुत कार्य करने हैं और बहुत कुछ सीखना है । यदि आप किसी की हंसी उड़ाते हैं उनके साथ अनु-चित व्यवहार करते हैं तो उन्हें कष्ट होता है, तकलीफ पहुंचती है । आपको दूसरों के साथ व्यवहार करते समय सदा यह सोचना चाहिए कि यदि आपके साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया जाए तो आप कैसा अनुभव करेंगे; यदि आप इस विचार के फल-स्वरुप यह अनुभव करें कि आपको कष्ट पहुंचेगा, आप उसे सहन नहीं कर पायेंगे और यह चाहेंगे कि आपके साथ ऐसा व्यवहार न हो तो आपको भी दूसरों के साथ वैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए । यदि आप किसी की बहिन को कुदृष्टि से देखते हैं तो स्वाभाविक है उसको दुख होगा । यदि अन्य कोई आपकी बहिन को बुरी निगाह से देखता है तो आपके भी हृदय में वेदना होती है । इन सब बातों पर विचार करके आपको यह निर्णय कर लेना चाहिए कि आपका व्यवहार कैसा होना चाहिए । जो कुछ आप करते हैं उसकी प्रतिक्रिया से आप नहीं बच सकते । इसलिए आपको अच्छा बनना चाहिए, अच्छा करना चाहिए और अच्छा देखना चाहिए, मनसा, वाचा और कर्मणा सत्य का पालन करना चाहिये । आजकल लोगों में न तो पाप भीति अर्थात् पाप का डर है और न ही देव प्रीति अर्थात् भगवान के प्रति प्रेम है । हमें पाप भीति और देव प्रीति के साथ अनुशासन बद्ध जीवन बिताना चाहिये । इसी से हमें सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है । सबसे पहले हम अपने माता-पिता का आदर-सम्मान

करेंगे तो आपके बच्चे अपने माता-पिता का अर्थात् आपका आपकी पत्नी का आदर सम्मान करेंगे, आज्ञा पालन और सेवा करेंगे। उपनिषदों की हमें शिक्षा है "मातृ देवो भव ! पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव ! अतिथि देवो भव !" माता-पिता, गुरु और अतिथि की पूजा के पश्चात् ही भगवान की पूजा आती है। आप प्रश्न कर सकते है, "भगवान को सबसे बाद में क्यों रखा, वह तो सर्वोपरि है इसलिये भगवान का स्थान सर्वप्रथम होना चाहिये।" परमात्मा सबके प्रति एक सा ही है और प्रत्येक का परमात्मा के प्रति समान अधिकार है किन्तु एक व्यक्ति के लिये उसके माता पिता सच्चे सम्मान के अधिकारी हैं। परमात्मा तो सबका जनक है सम्पूर्ण सृष्टि का सृष्टा है किन्तु एक व्यक्ति को जन्म देने के उत्तरदायी उसके माता पिता ही हैं। इसलिये इस सम्पूर्ण सृष्टि के जनक के प्रति रूप, हमारे जन्म के दाता तो हमारे माता पिता ही हैं इसलिये उन्हें इस नाते परमातमा के स्वरूप में ही समझ कर देव तुल्य उनका सम्मान करना चाहिये। परमात्मा इस संसार के माता पिता हैं और हमारे इस शरीर के जनक हमारे माता पिता हैं इसलिये जब हम अपने माता पिता का सम्मान कर पायेंगे उनकी आदर सहित सेवा और आज्ञा पालन करेंगे उनकी कृपा प्रेम अर्जित करेंगे तभी हम भगवान की पूजा और सेवा कर पायेंगे, उनका अनुग्रह पा सकेंगे अन्यथा नहीं।

भगवान शिव (ईश्वर) और पार्वती इस संसार के रचियता हैं। मैं आपको एक कथा सुनाता हू जो माता-पिता की सर्वोपरि श्रेष्ठता स्थापित करती है। ईश्वर और पार्वती के प्रथम पुत्र गणेश या विघ्नेश्वर हैं और दूसरे पुत्र हैं सुब्रामणेश्वर। एक दिन उन्होंने अपने दोनों पुत्रों से कहा, "पुत्रों ! आप दोनों सम्पूर्ण सृष्टि का चक्कर लगाकर आओ, जो सबसे पहले यह कार्य करेगा उसको विशेष पुरुस्कार मिलेगा।" जैसे ही सुना सुब्रामणेश्वर अपने वाहन मयूर (मोर) पर सवार हो कर उड़ते हुए चल दिये। मोर उड़ने वाला पक्षी है और सुब्रामणेश्वर छोटे से बालक हैं इसलिए उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। विघ्नेश्वर स्थूल काय, विशालाकार शरीर के हैं और उनका वाहन है मूषक (चूहा)। भला उस वाहन पर चढ़ कर सम्पूर्ण सृष्टि की परिक्रमा कहाँ सम्भव थी उनके लिए। इसलिये वह उस यात्रा पर निकले ही नहीं और अपने माता पिता के निकट बैठे रहे। जब माँ ने पूछा तुम यात्रा पर क्यों जाते तो उनसे यही कह देते, "मैं जाऊंगा ! मैं जाऊंगा।" सुब्रामण्यम् यात्रा पूरी कर लौट रहे थे। जब गणपति ने उन्हें दूर से देखा तो अपने माता-पिता की परि-क्रमा करके सुब्रामण्यम् के आने से पूर्व ही अपनी सृष्टि परिभ्रमण की पूर्ति की घोषणा कर दी। जब सुब्रामणेश्वर आ पहुंचे तो शिवजी और पार्वती जी ने कहा कि जीत

सुब्रामणेश्वर की हुई है क्योंकि इसने सारी सृष्टि का भ्रमण किया है, विघ्नेश्वर ने तो केवल माता-पिता की परिक्रमा की है। विघ्नेश्वर ने कहा, "जब मैंने अपने माता-पिता की परिक्रमा पूर्ण कर ली तो मेरे लिये पूर्ण सृष्टि की परिक्रमा पूर्ण हो गई क्योंकि मेरे सृष्टा तो मेरे माता-पिता हैं और मेरी सृष्टि उनमें है इसलिए मेरी सृष्टि की परिक्रमा पहले पूर्ण हुई है इसलिए मैं पुरुस्कार का पात्र हूं।" उनके इस तर्क से ईश्वर और पार्वती बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें सभी गणों का अधिपति 'गणेश' बना दिया इसलिए माता-पिता का आदर, सम्मान और सेवा करके उन्हें प्रसन्न रखना परमात्मा की सेवा और पूजा ही है।

भगवान शिव (ईश्वर) के परिवार में चार सदस्य हैं। ईश्वर, पार्वती और उनके दो पुत्र। आपने देखा कि इस परिवार में कितनी स्निग्ध एकता और समरसता है। ईश्वर और पार्वती इस सम्पूर्ण सृष्टि के माता-पिता हैं, उनके जनक हैं। आपमें से प्रत्येक एक छोटे परिवार में रहता है। यदि आपके छोटे से परिवार में पारस्परिक प्रेम और एकता नहीं है किन्तु जब आप इतने विशाल परिवार में प्रेम, सरसता और एकता देखते हैं तो आपको शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। आपको यह ज्ञात रहना चाहिये कि ईश्वर के परिवार में बड़े भारी विरोधों का जमघट है किन्तु फिर भी वहां शान्ति और सन्तोष है। भगवान का वाहन बैल है और मां पार्वती का वाहन सिंह है। बैल सिंह का भोज्य है अतएव उनमें जन्मजात बैर है। शिव के गले में सर्प रहता है और विघ्नेश्वर का वाहन चूहा है। सर्प और चूहे में जन्म जात शत्रुता है। उसी प्रकार सुब्रामणेश्वर के वाहन मोर और ईश्वर की जटा में लिपटे नाग में जन्मजात शत्रुता है। विघ्नेश्वर का स्वरूप हाथी का है और मां पार्वती का वाहन सिंह है। हाथी और सिंह की भी शत्रुता होती है। ईश्वर के सिर पर गंगा है तो ललाट में अग्नि जिनमें भी आपस में एकता न होकर विरोध है। इस प्रकार इस परिवार में कितने ही जटिल विरोधाभास दिखायी देते हैं किन्तु फिर भी वह एक सुख शान्ति और संतोष से पूर्ण एक आदर्श परिवार है क्योंकि सबमें सहिष्णुता, समन्वय और सहयोग बनाये रखने की अदम्य क्षमता और कौशल है। यह कहने के लिए कि परमात्मा सर्वत्र है आपको परमात्म तत्व को जानना और समझना चाहिये। भगवान शंकर ने विषपान किया था जिससे कि सृष्टि का उस विष के कारण विनाश न हो जाये। उनका गला विष पान के कारण ही नीला है और वे नीलकंठ कहलाते हैं। इस प्रकार ईश्वर ने संसार को अमृत दिया और स्वयं ने विष पान किया। ऐसे भगवान जब हमारे हृदय में वास करते हैं, परम कल्याणकारक ईश्वर हमारे पिता हैं तो हमें भी उनकी सच्ची सन्तान के रूप में सबके कष्टों को दूर करने के लोक हितकारी कार्य करने चाहिए और जो कुछ कष्ट आवें उन्हें सहर्ष स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए। जब हम ऐसा करेंगे, ऐसा करने के पूर्ण अभ्यस्त होकर इसे अपना स्वभाव बना लेंगे, तभी यह कहने के अधिकारी होंगे कि हममें ईश्वर का वास है।

१३
हमारे आचार-व्यवहार ही हमारे चरित्र के परिचायक हैं

हाथ में केवल तलवार पकड़ लेने मात्र से ही क्या कोई महान योद्धा बन जाता है ? हाथ में वीणा लेने से ही क्या कोई महान् संगीतज्ञ बन जाता है ? हाथ में लेखनी पकड़ने मात्र से क्या कोई महान् लेखक बन जाता है ? हाथ में धनुष और बाण धारण कर लेने से ही क्या कोई धनुर्विद् बन जाता है ? यद्यपि कि कड़ुछल मिठाई के कढ़ाई में डूबा रहता है किन्तु वह मिठाई के स्वाद और सुगन्धि का अनुभव नहीं ले सकता। तालाब में कमलों के चारों ओर फुदकते मेंढक क्या कमलों के मधु का स्वाद पा सकते हैं ? जिस पत्थर पर चन्दन घिसा जाता है क्या वह उसकी सुगन्धि का अनुभव करता है ? ये स्थितियाँ ऐसी हैं जिन पर हमें विचार करना चाहिए।

विशाल हिमालय पर्वत भारतवर्ष की उत्तरी सीमा पर है। हिमालय की पर्वत माला की भारतीयों को सत्य, धर्म और अहिंसा से तुलना करनी चाहिए और चाँदी से चमकते धवल हिमालय पर्वतों को सत्य, धर्म और अहिंसा को साक्षात् स्वरूप में प्रकट करने वाला समझना चाहिए। गंगा अति पवित्र और पावन समझी जाती है और उसका जन्म हिमालय से ही होता है। भारतीय संस्कृति गंगा के समान ही है यदि हम भारतीय संस्कृति को हिमालय में जन्मी पावन गंगा के स्वरूप में देखेंगे और समझेंगे तो फिर हमारी संस्कृति को भी उसी प्रकार पतित पावनी, निर्मल और शान्ति प्रदायनी पायेंगे। हिमालय निर्मल, धवल, पवित्र पावन है। स्वच्छन्दता और निर्मलता ही शान्ति है। हम देखते हैं कि आज भारतीय जन ही भारतीय संस्कृति को मिटाने में लगे हुए हैं। किन्तु यह कभी सम्भव नहीं हो सकता। वे अज्ञानी लोग ऐसा करना चाहते हैं। उन्हें ऐसे ही मूर्खों के समान समझे जाने चाहिए जो गंगा को

सुखाने का प्रयत्न करते हों। जैसे गंगा का प्रवाह कभी सूख नहीं सकता, सतत प्रवाहित रहता है इसी प्रकार भारतीय संस्कृति का प्रवाह कभी सूख नहीं सकता, कभी उसका नाश नहीं हो सकता, वह गंगा के समान सदा प्रभावित रहेगा। भारतीय संस्कृति की तुलना जहाँ हम गंगा से करते हैं, अपने कर्मों की तुलना हम पावन यमुना से कर सकते हैं। तीसरी धारा सरस्वती है और वह आध्यात्मिक धारा अदृश्य है तथा हमारे जीवन में इसी प्रकार प्रवाहित है जिस प्रकार शरीर में रक्त। इस प्रकार भारतीय जीवन में त्रिवेणी—गंगा, यमुना और सरस्वती का प्रवाह है। भारतीय जीवन का रक्त संचार सरस्वती है, कर्म प्रवाह यमुना है और संस्कृति गंगा है। इन तीनों का संगम ही भारत देश है। एक भारतीय का अर्थ केवल हाड़, माँस, रक्त या पृथ्वी, जल आदि पंचभूतों से निर्मित शरीर वाला व्यक्ति ही नहीं है किन्तु उसमें गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम भी है। अनेकों भारतीय अनुचित मार्ग पर जाने का प्रयत्न करते हैं, गलत कार्य करते हैं क्योंकि उन्हें अपने अन्तर में बहने वाले पवित्र प्रवाह का बोध ही नहीं है। यह प्रवाह तो ज्ञान से परिपूर्ण है। सरस्वती का अर्थ केवल साहित्य से ही नहीं होता बल्कि वह ज्ञान की देवी है जो पूर्ण आनन्द प्रदान करती है। सरस्वती ही आत्म तत्व को स्थापित कर उसे परमात्मा के साथ मिलायेगी। उसे हमें बाहर बहने वाली नदी के रूप में नहीं लेना चाहिए बल्कि अन्तर में प्रवाहित रहने वाली पवित्र दैविक धारा के रूप में समझना चाहिए।

आजकल मनुष्य जिस प्रकार अपना जीवन बिताता है उसमें से पवित्रता विनम्रता, नैतिकता आदि सदगुण लोप होते चले जा रहे हैं। यद्यपि कि मनुष्य में नैसर्गिक रूप से ईश्वर प्रदत्त अनेकों गुण होते हैं, शक्ति और सामर्थ्य होता है किन्तु वह उनका सदुपयोग नहीं करता। हमारे देश में रामायण और महाभारत सदृश्य महान् ग्रंथ हैं। जिनसे हमें हमारी महान् संस्कृति की शिक्षायें प्राप्त होती हैं। रामायण तो हमारे दैनिक जीवन का ही चित्रण करती है और हमें आनन्द प्रदान करती है। यह हमें बताती है कि एक आदर्श परिवार क्या होता है और कितने भी महान् संकट के समय में अपने परिवार के सदस्यों और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को किस सहजता के साथ निभाना चाहिए, जैसा सबके प्रति आदर्श व्यवहार होना चाहिए। रामायण के तीन नाम हैं, "रावण बध" 'सीता कथा' और 'श्रीमद रामायण'। हमें यह जानना चाहिए कि रामायण को ये तीन नाम क्यों दिए गए हैं और प्रत्येक नाम का क्या अर्थ है। इसे श्रीमद् रामायण इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें राम के दिव्य गुणों का वर्णन है। सीता एक आदर्श नारी है जो आदर्श गुण एक आदर्श सन्नारी में होने चाहिए जैसे पवित्रता, शीलता, विनम्रता, दृढ़ता सतीत्व

आदि। सीता उन सब दिव्यगुणों से सम्पन्न है। रामायण में सीता के इन दिव्य गुणों की महिमा का वर्णन है इसलिए वह 'सीता कथा' है। हमें और भी अधिक गहराई के साथ इसके आन्तरिक अर्थ को भली प्रकार समझने का प्रयत्न करना चाहिए। अपने पिता के वचनों का पालन करने के लिए राम वन जा रहे थे। सीता उनके साथ ही जाना चाहती थी। राम ने उसे समझाया कि वह साथ न चले। किन्तु सीता तो संसार में पाये जाने वाले सब धर्मों का साक्षात् स्वरूप है। वह भूजाता है अर्थात् पृथ्वी की पुत्री और उसमें अपनी माता पृथ्वी के सभी गुण विद्यमान हैं। सीता के परम गुण हैं सतीत्व, धैर्य, शान्ति और सच्चरित्रता। जब आवश्यकता पड़ती है तो सीता राम को भी धर्म का मार्ग बताती है। उदाहरण के लिए हम उस स्थिति को देखें जब राम ने सीता से कहा, "तुम बहुत कोमल हो और वन के कठोर जीवन को सहन कर सकना तुम्हारे लिए सम्भव नहीं हो सकेगा। तुम यहीं अयोध्या में रहो और अपने सास-श्वसुर की सेवा करो। मैं शीघ्र ही वन से लौट आऊंगा" इसके पूर्व राम अपनी माँ के पास गए थे और उनसे १४ वर्षों के लिए वन जाने की बात कह आये थे जिससे कि अपने पिता के वचनों को पूरा कर सकें और इसके लिए उन्होंने अपनी जननी का आशीर्वाद मांगा था। मां ने कहा कि वह अपने पुत्र के वियोग में एक क्षण भी नहीं रह पायेगी इसलिए कौशल्या ने भी राम के साथ वन जाने के लिए कहा। राम ने मां को धर्म के कुछ सिद्धान्तों को स्पष्ट करते हुए कहा, 'मां! पिताजी वृद्ध हैं। आपको यहीं रहकर उनकी सेवा करनी चाहिए। मैं पिताजी के लिए ही वन को जा रहा हूं और १४ वर्षों बाद लौट आऊंगा, आप पिताजी की सेवा करें जो हमारे लिए देव तुल्य हैं। आपके लिए तो भारतीय आदर्श के अनुसार पति ही संसार में सर्वोपरि है अतएव आपका कर्त्तव्य है कि आप उनकी सेवा में रहें। मैं जब यहां नहीं रहूंगा तो आपका यहाँ उनकी सेवा के लिए रहना हर दृष्टि से अनिवार्य है।" राम को उनके इस कथन का स्मरण दिलाते हुए सीता ने उनसे कहा, "आपने अपनी माताजी को धर्म और सिद्धान्तों की कुछ बातें बतायी थीं और उनसे पति की सेवा करने के लिए अयोध्या में ही रहने का उपदेश दिया था। क्या वही उपदेश मेरे लिए आपकी पत्नी होने के नाते मुझ पर लागू नहीं होता है? पति के साथ रहकर उनकी सेवा करना जितना मां कौशल्या के लिए आवश्यक है उतना मेरे लिए भी। पत्नी के लिए पति ही परमेश्वर होता है, मैं आपको ही परमेश्वर मानती हूं और मुझे आपके साथ वन में जाना चाहिए।" राम ने उसे दूसरी प्रकार समझाना चाहा, "हो सकता है कि तुम वन की सारी कठिनाइयों और अभावों को सहन करने में समर्थ हो जाओ किन्तु यदि तुम हमारे साथ रही तो वन के हिंसक पशुओं तथा अन्य प्राणियों से तुम्हारी रक्षा का और भी अधिक भार हम पर हो

जायेगा क्योंकि हमें उनसे अपनी रक्षा करने के साथ-साथ तुम्हारी भी रक्षा करनी होगी और इस प्रकार अधिक कठिनाइयों और कष्टों का सामना करना पड़ेगा इस लिए तुम्हें यहीं रहना चाहिये।" सीता ने कहा, "आप कहते हैं कि बन में हिंसक पशु रहते हैं जिनमें सबसे अधिक भयानक और हिंसक पशु है सिंह जो सब पशुओं का राजा होता है। किन्तु जब मेरे पति का सिंह मेरे साथ है तो फिर कोई पशु मुझे कैसे हानि पहुंचा सकता है?" राम ने फिर समझाया, "यदि कोई हिंसक पशु न भी हो तो वन में जब तुम्हें अकेली छोड़कर खाने के लिये पदार्थ एकत्रित करने हमें जाना होगा और उस समय कोई बात हुई तो फिर न मेरे लिए और न ही लक्ष्मण के लिये तुम्हारी सुरक्षा हेतु कुछ कर पाना सम्भव हो सकेगा।" सीता ने तत्काल उत्तर दिया, "स्वामी! आप महान् योद्धा हैं, महान् वीर हैं और अपार शक्ति और सामर्थ्य के धनी हैं, जिस बात की पुष्टि आपने धनुष यज्ञ में शिव-धनुष को तोड़कर की थी। मुझे आपकी शक्ति और योग्यता पर पूर्ण विश्वास और भरोसा है। आपने अभी जो शब्द कहे वे आप की गौरव-गरिमा के उपयुक्त नहीं हैं। यदि राम एक व्यक्ति को संरक्षण दे सकने में असमर्थ है तो फिर सम्पूर्ण विश्व को कैसे संरक्षण और सुरक्षा प्रदान करेंगे। आपको इस प्रकार के अपयश से बचाने के लिए मुझे आपके साथ वन में जाना चाहिए।" राम अधिक तो कुछ नहीं कह सके, बस शान्ति के साथ इतना ही कहा, "मेरे चले जाने पर मेरी माता जी बहुत दुखी रहेंगी। तुम्हारे लिए उचित होगा कि तुम उनके साथ रह कर उन्हें धैर्य बंधाती रहो।" सीता ने कहा, "आप राम हैं और मैं सीता हूं। आप चन्द्रमा हैं और मैं चांदनी हूं। यदि चन्द्रमा बन में रहेगा तो चांदनी अयोध्या में कैसे रह सकती है? जहां चन्द्रमा होगा वहीं चांदनी भी रहेगी।" राम ने हर प्रकार से सीता को समझाने के प्रयत्न किये किन्तु राम सफल नहीं हुये। सीता ने कहा,—"भगवान मैं युवती हूं आप १४ वर्षों तक वन में रहेंगे। इस अवधि में जब आपके भाइयों को अपनी पत्नियों के साथ, तथा महल की अन्य दासियों को उनके पतियों के साथ आमोद-प्रमोद करते, हंसते-बोलते देखूंगी तो स्वाभाविक है मेरे मन में ईर्ष्या भाव पैदा होंगे, जलन होगी, मैं अपने भाग्य को कोसूंगी। ऐसे बुरे विचारों से मुक्त रहने के लिये आवश्यक है कि मैं आपके साथ वन में चलूं।" सीता के मन में इस प्रकार के विचार और भाव पैदा होने की कोई गुंजाइश नहीं थी। राम ने कहा, "सीता मैं जानता हूं ऐसे विचार तुम्हारे मन में कभी आ ही नहीं सकते क्योंकि तुम्हारा चरित्र पूर्ण है, तुम्हारा हृदय पवित्र है।" सीता राम के चरणों में पड़ गयी और कहने लगी, "स्वामी! आप बन में जा रहे हैं वहां बहुत कांटे होंगे उनके कारण आपको बड़ा कष्ट होगा। मेरी मां पृथ्वी की देवी है, वह मेरे प्रति बहुत उदार होंगी। मैं उनसे आपके मार्ग को निरापद बनाने

के लिए प्रार्थना करूंगी। कम से कम इसके लिये ही मुझे अपने साथ ले चलिए।"
मैंने यह सारा विवरण सविस्तार इसलिये कहा क्योंकि राम का हृदय तभी पसीजा जब वह उनके चरणों में गिर पड़ी।

ऐसी ही स्थिति महाभारत में भी है। अर्जुन श्री कृष्ण के साथ तर्क करता रहा और एक के बाद एक तर्कपूर्ण विचार रखता रहा। उस समय श्री कृष्ण ने अर्जुन को गीता की शिक्षा नहीं दी। जब अर्जुन ने कृष्ण के चरणों में अपना पूर्ण समर्पण कर दिया तब ही उसे गीता का ज्ञान दिया। जब तक आप अपने शरीर और मन पर अपना नियंत्रण रखते हैं, भगवान अपने ढंग से स्वतन्त्र रहते हैं और आपकी रक्षा करते हैं किन्तु जब आप अपना सर्वस्व उन्हें समर्पित कर अपने आप को उनकी शरण में डाल देते हैं तो फिर भगवान आप का सारा दायित्व अपने ऊपर लेकर अपनी इच्छानुसार आप का निर्माण करने में स्वतंत्र होते हैं। इसे एक उदाहरण से समझें। यदि आप आभूषण बनवाना चाहते हैं और स्वर्णकार को सोना नहीं देते हैं तो वह आभूषण कैसे बनायेगा। यदि आप उसे सोना तो देते हैं किन्तु सोने को गलाने, ठोकने-पीठने के लिए मना कर देते हैं तो भी वह आभूषण बनाने में असमर्थ होगा। जब आप उसे सोना दे देंगे और उसे आभूषण बनाने की पूरी छूट दे देंगे तभी वह ठीक आभूषण बना पायेगा। फिर आपको यह नहीं देखना चाहिये कि वह सोने का क्या करता है और कैसे आभूषण बनाता है। इसी प्रकार जब आप अपने मन रूपी स्वर्ण को परमात्मा रूपी स्वर्णकार के हाथों में सौंप दोगे, अपना पूर्ण समर्पण कर दोगे तभी वह आपको स्वतंत्रता के साथ शान्ति के सुन्दर आभूषण के रूप में रूपान्तरित कर देगा। यदि आप किसी गम्भीरता के साथ यह प्रश्न करें कि यहां आपका है क्या, तो आप को उत्तर मिलेगा कि कुछ भी नहीं है जो आपका है। यह तो आपकी मिथ्या धारणा है कि यह आपका है, वह आपका है। यदि यह शरीर आपका है और उसका कोई अंग बीमार है, तो आप उस अंग के रोग को स्वयं ही क्यों नहीं मिटा देते ? जब आप शरीर के अंग को स्वयं ठीक नहीं कर सकते तो फिर शरीर आपका कैसे ? यदि मन आपका है और यदि आप इस पर नियंत्रण कर सकते हैं तो फिर यह क्यों बंदर की तरह हरकत करता है ? आप क्यों और किस प्रकार सोचते हैं कि यह संसार आपका है ? यदि यह आपका हो फिर आपकी आज्ञा के बिना यह कैसे चलता है ? जीवन आपका नहीं है। आपके शरीर में अनेकों कोश हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश। जब तक मनुष्य की अन्नमय कोश में ही स्थिति रहती है तो उसे सूक्ष्म और महत्वपूर्ण बातों और शक्तियों का ज्ञान नहीं होगा और वह केवल पशु के समान

ही रहेगा। केवल आहार, भय, निद्रा आदि तक ही उसका जीवन सीमित रहेगा। जब मनुष्य अन्नमय कोश से उठकर अपनी स्थिति प्राणमय कोश में कर लेता है और यह मानने लगता है कि परमात्मा है, उसका उत्थान होने लगता है। जब मनुष्य साधना द्वारा अपना विकास करता हुआ मनोमय कोश में स्थित होता है तो जिस बात को वह अब तक मानता और विश्वास करता था उसे व्यावहारिक रूप में अपना लेता है और वह उसके जीवन का अभिन्न अंग बन जाती है। जब उस स्थिति से ऊपर उठकर वह विज्ञानमय कोश में स्थित होता है तो सुख-दुख के भेद को भली प्रकार समझ जाता है, उसे सम्पूर्ण सृष्टि के विस्तार का पूर्ण और विधिवत ज्ञान हो जाता है वह सदा आनन्द की ओर अभिमुख होता है। मैं आप को एक छोटी सी कथा सुनाता हूं इस सम्बन्ध में। बन्दर को पकड़ने वाले एक ऐसा भारी बर्तन बनाते हैं जिसका मुख बहुत सकड़ा होता है और उसमें मिठाई डालकर बन्दरों के स्थान पर रख देते हैं। बन्दर आता है उसमें अपना हाथ डालता है और मिठाई को मुट्ठी में भर कर निकालता है लेकिन हाथ की मुट्ठी बंध जाने के कारण बर्तन के सकड़े मुंह में से हाथ नहीं निकलता उधर बन्दर मिठाई के लालच में हाथ मुट्ठी नहीं खोलता है इसलिये हाथ उसमें फंसा रह जाता है बर्तन भारी होने के कारण वह भाग नहीं सकता। मुट्ठी भर अन्न के लालच के बंधन में फंस कर बन्दर इस प्रकार पकड़ा जाता है। इसी प्रकार यह संसार उस भारी बर्तन के समान है, परिवार उस बर्तन के सकड़े मुंह के समान है, मनुष्य की इच्छायें उस बर्तन में रखी मिठाई या अन्न के समान हैं जिनको पकड़े हुए वह संसार में फंसा रहता है। जब वह इच्छाओं को त्याग देता है तो वह अपने हाथ को सरलता से बाहर निकाल सकता है इसलिये बंधन से मुक्ति का प्रथम उपाय त्याग है। हम कहते हैं कि संसार हम को बांधता है किन्तु वह तो निर्जीव है। यह तो इच्छायें हैं जो बाँधती हैं। सीता राम के साथ जाने को तैयार थी, उसे वन की कठिनाइयों और कष्टों की कोई चिन्ता नहीं थी। इस दृष्टि से रामायण हमें शुभ और उच्च विचारों की प्रेरणा देती है। रामायण 'सीता कथा' कहलाती है। इस कथा में रावण कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। वह बहुत शक्तिशाली और बल सम्पन्न है, ज्ञान और विज्ञान का महान् ज्ञाता और अधिकारी है, अपार धन-सम्पति, वैभव और समृद्धि का स्वामी है, वह महान् पंडित है और उसने बड़ी-बड़ी उपलब्धियां प्राप्त की हैं। किन्तु उसके विचार कुत्सित हैं, उसका उद्देश्य अपने स्वार्थ की पूर्ति करना था, मदान्धता में ऋषियों और मुनियों को सताना था, उनकी तपस्या और यज्ञों को भंग कर उनका विनाश करना था। इतना विशाल साम्राज्य वैभव-सम्पति और पांडित्य होने पर भी वह धर्म का मार्ग नहीं अपना सका। हनुमान ने

इसीलिये कहा था कि यदि रावण में धर्म होता तो वह विष्णु से भी महान् होता उसने धर्म का पथ छोड़ दिया इसीलिये उसका सदा के लिये पतन हो गया। यदि किसी व्यक्ति में धन सम्पति और सत्ता के साथ-साथ धर्म भी है तो उससे बढ़कर कोई व्यक्ति नहीं। अब भी यदि कोई गरीब है किन्तु शुद्ध हृदय वाला सत्य और धर्म का पालन करने वाला है तो उसके विरुद्ध यदि कोई दुष्ट चाहे धनी ही क्यों न हो न्यायालय में अपने अपराधों के लिये दंड पायेगा । धर्म नैतिकता प्रकट करता है। कोई कितना भी विद्वान् क्यों न हो यदि उसमें नैतिकता नहीं है, उसने धर्म का मार्ग छोड़ दिया है, तो वह रावण का ही भाई है। रावण ने धर्म का मार्ग छोड़ दिया था इसीलिये वह इतना शक्तिशाली और साधन सम्पन्न होते हुये भी बानरों की सेना से पराजित हो गया और मारा गया । जब वह मृत्यु शैय्या पर पड़ा था, मंदोदरी राम के पास आई और कहा—"मुझे इस बात का इतना दुख नहीं है कि रावण मारा गया और मैं उससे सदा के लिए बिछुड़ गई किन्तु मुझे इस बात का आश्चर्य है कि वह इतना महाबली, अपार शक्ति, सामर्थ्य और साधनों का धनी बानरों के हाथों कैसे हार गया और मारा गया। वह शायद इसीलिए कि रावण केवल अपनी इच्छाओं का दास बन गया था, उनका स्वामी नहीं बन पाया और इसीलिए मारा गया।" जब तक बुरे विचार, जो कि बीज के समान हैं, हमारे हृदय से निकाल कर बाहर नहीं फैंक दिए जाते, तो वे उगते, बढ़ते और विशाल वृक्ष बनते रहेंगे और फिर उनका एक ऐसा जंगल बन जायेगा कि हम उसमें बुरी तरह फंस जायेंगे। इसलिए उन बुरे विचारों को बीज की अवस्था में ही नष्ट कर देना चाहिए। जो इच्छाओं को नहीं पनपने देता वही ब्रह्म की स्थिति तक पहुंच सकता है। हमें बुरे विचारों को अपने हृदय में नहीं पनपने देना चाहिए, उन्हें निकालकर बाहर फेंक देना चाहिए, नष्ट कर देना चाहिए अन्यथा वे हमें नष्ट कर देंगे। रावण में यही कमी रही, उसमें धर्म की शक्ति का अभाव था।

कौरवों की कथा में भी इसी परिणाम पर पहुंचते हैं। उनके पास पांडवों से कहीं अधिक शक्ति, सेना, धन और साम्राज्य था। उन्होंने धर्म का पालन नहीं किया, सत्य का मार्ग छोड़ दिया और पाडवों को समूल नष्ट करने की इच्छा से युद्ध छेड़ दिया। पांडव अनेकों गुणों से सम्पन्न और धर्म का पालने करने वाले थे। हममें किसी भी प्रकार का बल क्यों न हो किन्तु वह धर्म के बल के बिना सब व्यर्थ है। वास्तविक बल तो परमात्मा और धर्म से प्राप्त होने वाले 'देवबल और 'धर्म बल' ही है। पांडव धर्म के लिए अपने जीवन का बलिदान देने के लिए भी सदैव तैयार

रहते थे। पंच पांडव हमारे शरीर में पंच प्राणों(१) के समान है। और हस्तिनापुर हमारा यह शरीर है जिसमें हस्तिनापुर के ही समान ही नौ द्वार हैं। पांडव सात्विक स्वभाव के हैं जबकि दूसरी ओर कौरव राजसिक प्रकृति के हैं। जो तामसिक और राजसिक गुणों की प्रधानता वाले हैं वे सब कौरवों के पक्ष में है तथा जो सात्विक गुण प्रधान है वे पांडवों के साथ है। पांडु का अर्थ होता है सफेद। जब कोई वस्तु गंदी या अस्वच्छ या अशुद्ध हो जाये तो हमें उसे साफ, स्वच्छ और शुद्ध करना चाहिए या उसे त्याग देना चाहिए। जिस क्रिया से शुद्धिकरण या सफाई होती है वह युद्ध है। श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा था,—"हे अर्जुन उठो। भाग्य बहुत प्रबल होता है; न्याय होगा ही और स्वार्थ का अन्त होगा। ये तो कलियुग के लक्षण हैं। दुर्योधन को सौ पुत्र हैं किन्तु मृत्यु के समय उसको पानी देने वाला भी कोई नहीं रहेगा।" पांडवों की इस सफलता का कारण यह था कि भगवान उनके पक्ष में थे। जहां धर्म है वहां भगवान हैं और जहां भगवान हैं वहां विजय निश्चित है। जहां भगवान नहीं हैं वहां विजय पाना असम्भव है। आज प्रत्येक भारतवासी को अपनी सच्ची मूल प्रवृति को, स्वभाव को, पहचानना चाहिए। जब हमें अपने से बड़े लोग मिलें तो हमें उनका नत मस्तक होकर विनम्रता के साथ सम्मान करना चाहिए। उनके साथ किसी प्रकार की लापरवाही नहीं बरतनी चाहिए। जब वे कमरे में आवें तो यह नहीं कि आप सोफे पर बैठे-बैठे ही उनसे बिना किसी अभिवादन के प्रश्न करें कि आप कौन हैं बल्कि अपने स्थान से उठें, उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए विनम्रता के साथ यह जानने का प्रयत्न करें कि वे कौन हैं और उनका कैसे आना हुआ। यदि आप नहीं जानते हैं तो उन्हें सम्मान के साथ बिठायें और अपने माता-पिता को उनके आगमन की सूचना दें। कुछ लोग आने वालों को बिना देखे या मिले ही वापस कर देते हैं। इस प्रकार का व्यवहार चरित्र की दुर्बलता प्रकट करता है।

एक छोटी सी कहानी है। एक व्यक्ति जो प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार रहता था और शिक्षा पा रहा था उच्च शिक्षा के लिए विदेश जाना चाहता था। उनके पिता उसे देवी के मन्दिर में ले गये और वहां उन्होंने प्रार्थना की कि उनका पुत्र विदेश में सकुशल रहे, उच्च शिक्षा प्राप्त करे और सुरक्षित सकुशल देश को लौट आए। पुत्र ने भी पिता का अनुकरण करते हुए इसी भाव के साथ

---

१. पंच प्राण—प्राण, अमान, समान व्यान और उदान नाम से पंच प्राण जाने जाते हैं।

देवी से प्रार्थना की। वह दो वर्ष तक विदेश में रहा। २४ वर्ष तक भारत में रहने के पश्चात् केवल दो वर्ष के लिए विदेश में उसने शिक्षा पाई और वहां अपना पाठ्यक्रम पूरा कर लेने पर उसने अपने घर वालों को पत्र लिखा कि वह स्वदेश लौट रहा है। घर के लोग बड़े प्रसन्न हुए और उसको स्वागतपूर्वक घर लिवा लाने के लिए हवाई अड्डे पर पहुंचे। वे उसे देवी के मन्दिर में लेजाकर पूजा अर्पित करना चाहते थे। जैसे ही वह हवाई जहाज से उतरा घर वालों ने देखा कि वह पश्चिमी वेश-भूषा में था और जैसे ही बाहर आकर घर वालों के बीच आया बिना किसी अभिवादन के प्रश्न किया, "कहो माँ कैसी हो ?" माँ ने कोई बुरा नहीं माना, उसको प्रेम के साथ आशीर्वाद दिया। वे उसे घर ले गये और वहां उसने पूजा गृह में जाकर देवी की पूजा करने के लिए अपनी सहमति भी दे दी। किन्तु जैसे ही पूजा गृह के मुख्य द्वार के सामने पहुंचा तो उसने जूते उतारने से मना कर दिया। वह बड़ा असहनशील हो गया। वह सोचने लगा कि उसके माता-पिता असभ्य हैं। जब माता-पिता ने प्रार्थना करने के लिए कहा तो देवी के सामने हाथ जोड़ कर झुक कर खड़े होने के स्थान पर जेब में हाथ डाले तन कर खड़ा रहा। जब उसे देवी को नमस्कार करने के लिये कहा तो उसने कहा, "कहो मां। तुम कैसी हो ?" उसका पिता इतना क्रुद्ध हुआ कि उसने अपने उस पुत्र को कस कर एक चपत जमा दी और डाँट कर कहा, "तुम्हें होश नहीं। कृतघ्न कहीं के। तुम देवी माँ की कृपा से विदेश में शिक्षण के लिए गये थे और तुम उसे बिलकुल भूल गये हो। उसके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के स्थान पर इस प्रकार उपेक्षा और अवमानना कर रहे हो। तुम मेरे पुत्र कहलाने के योग्य नहीं हो। जिन परम्पराओं और व्यवहारों की तुमने २४ वर्ष तक शिक्षा ग्रहण की उसे तुमने दो वर्ष के विदेश शिक्षण में बिलकुल भुला दिया है और बिलकुल विदेशी बन गये हो। क्या ये विदेशी रंग-ढंग तुम्हारे में स्थाई रूप से रहेंगे ? इस प्रकार नकल करना कोरी मूर्खता है। पर धर्म अपनाने से अपने धर्म पर मरना श्रेयस्कर होता है। यदि हम अपने रीति-रिवाजों, व्यवहारों और परम्पराओं का पालन करेंगे तो उनसे हमें निश्चित रूप से सुख, शान्ति और पवित्रता प्राप्त होगी, हममें कोई विकार नहीं आयेंगे।"

जो रीति, रिवाज और व्यवहार परम्परागत रूप से भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग के रूप में चले आ रहे हैं उनके पालन से हम सम्मान और आदर के योग्य बनते हैं और हमें उन्हें कभी नहीं त्यागना चाहिए। नवयुवक पश्चिमी वेश-भूषा की नकल करते हुए जो वस्त्र धारण करते हैं उससे वे केवल जोकर दिखाई देते हैं। पहले लोग पुराने पेंट पहन कर ढीले-ढीले हाथी के पीलवान लगते

थे। अब लोग सोचते हैं कि तंग पैंट पहन पर सुन्दर लगते हैं, चुस्त और फुर्तीले दिखाई देते हैं। किन्तु ऊपर से ढीली और नीचे से तंग पेंट प्रत्येक व्यक्ति को एक समान कैसे ठीक बैठ सकती है और अच्छी लग सकती है? जिनके पेट मोटे हैं उन्हें तो ऐसे पेंट बिलकुल नहीं जमते। ऐसे लोगों की आगे निकलती हुई तोंद पर सकड़ी मौहरी की पेंट बिलकुल प्रश्न सूचक चिन्ह ही मालूम पड़ती है। इस प्रकार के वस्त्र पहन कर हम देश के सम्मान को खोते हैं जो उचित नहीं है। कुछ लोग ऐसे मोटे छापों के कपड़ों की बुश्शर्ट पहनते हैं जिनके पर्दे बनते हैं और फर्नीचर के काम में आता है। इस प्रकार के वस्त्र पहन कर जब लोग निकलते हैं तो जानवर भी डर जाते होंगे। छोटे बच्चे ऐसे कपड़े पहनें तो उसका कुछ अर्थ होता है। भारतीय को वेश-भूषा और फैशन अपनाने में बहुत सावधानी और सतर्कता बरतनी चाहिए। भारतीय किसी बालक के जन्म लेने पर उसका ललाट देखते हैं और यदि वह चौड़े ललाट का हुआ तो उसे बहुत भाग्यशाली मानते हैं। भारतीय सोचते हैं कि भगवान ललाट पर ही भाग्य लिखते हैं। किन्तु अब तो लोग अपने ललाट को अपने केशों से ढकते हैं। ऐसा तो किसी भी प्रकार सुन्दर नहीं लगता। कुछ लोग तो अपनी एक आंख ही अपनी जुल्फों से ढके रखते हैं। यह भी किसी प्रकार नहीं समझा जा सकता। हम देखने में अच्छे लगने चाहिए और साथ ही हमें भी सब को भली प्रकार देखना चाहिए। हमारी दृष्टि ही सृष्टि है या यों कहना चाहिए कि सृष्टि ही हमारी दृष्टि है। दृष्टि को ज्ञान भी कहा जाता है। इस मिथ्या धारणा के द्वारा कि हम जो कुछ करते हैं उससे हम सुन्दर लगते हैं, हम अपनी बुद्धि और ज्ञान को बरबाद करते हैं। यहां जो विद्यार्थी हैं उनमें ऐसे लोग नहीं हैं किन्तु मुझे आप सबसे यह कहना है कि बाहर जाकर आपको ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। अपने मान सम्मान की सदा रक्षा करो। जो वेश-भूषा एक भारतीय के लिए उपयुक्त है वह निश्चित रूप से विदेशों में भी उसको सम्मान दिलाने वाली होगी। जब आपको लोग विभिन्न कपड़े पहने देखते हैं तो सोचते हैं कि आप हिप्पियों की नकल करते हैं। ऐसे वस्त्र उनको रूचिकर हो सकते हैं, उनके अनुकूल हो सकते हैं किन्तु वे भारतीयों के लिये कभी उपयुक्त नहीं हैं। जब हम अपने को भारत की सन्तान कहते हैं तो हमें ऐसे ही वस्त्र धारण करने चाहिए जिनसे कि भारत माता का सम्मान बढ़े। समय देख कर अपनी वेश-भूषा मत बदलो। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त हमें अपने वस्त्रों का ढंग एक सा और अपना ही रखना चाहिए और उसको बदलना नहीं चाहिए। इस प्रकार हम अपनी संस्कृति का सम्मुन्नत करने में अपना योगदान करेंगे। आप प्रश्न करेंगे कि वेश-भूषा में क्या है? जो वस्त्र आप धारण करते हैं उससे आपका चरित्र प्रकट होता है। हमें अपना

चरित्र ग्रौर ग्रपने गुणों सुधारने के लिए ग्रपने वस्त्रों के सम्बन्ध में बड़ा सावधान ग्रौर सचेत रहना चाहिए।

जब ग्राप चलें तो कभी सड़क के बीच में न चलें। ग्राजकल युवक हाथ में हाथ मिलाये सड़क के बीच में लोगों का रास्ता रोककर चलने में ग्रपनी शान समझते हैं। सदा यातायात के नियमों का पालन करो ग्रौर इस प्रकार चलो कि दूसरों को किसी प्रकार की कठिनाई न हो। विद्यार्थियों में ग्राजकल बिना किसी महत्वपूर्ण कारण के हड़ताल करने की मनोवृत्ति पैदा होती चली जा रही है। किन्तु थोड़ा यह तो सोचो कि ग्राप कालेज में प्रवेश किस उद्देश्य से लेते है? उस उद्देश्य का पहले पालन करो, उसे पहले पूरा करो। हड़तालों में भाग लेकर ग्राप ग्रपने दो वर्ष के पाठ्यक्रम को पांच वर्ष में पूरा करते हैं ग्रौर इस प्रकार ग्रपने माता पिता या ग्रभिभावकों द्वारा विद्याध्ययन के लिए दिया जाने वाला धन बरबाद करते हैं। हड़ताल के नाम पर बसों पर पत्थर फेंकते है, उनमें ग्राग लगाते हैं तथा ग्रन्य हिंसात्मक ग्रौर तोड़-फोड़ की कार्यवाही करते हैं जो किसी भी हालत में उचित नहीं कही जा सकती हैं। इस ग्रीष्मकालीन सत्र में, जहां तक आप लोगों का प्रश्न है, ऐसे ग्रान्दोलनों को समाप्त करने का संकल्प लेकर जाना चाहिए। ग्रापको भविष्य में ग्रच्छा व्यवहार करना चाहिए ग्रौर ग्रादर्श व्यवहार के कीर्तिमान स्थापित करने चाहिए। गुरू ब्रह्मा है, गुरू विष्णु, गुरुदेव, गुरू महेश्वर है ग्रौर उससे भी ग्रागे बढ़ें तो गुरू परब्रह्म है। इसलिए जब ग्रपने गुरू के समक्ष उपस्थित हो तो पूर्ण विनम्रता के साथ रहना चाहिए, किन्तु ग्राजकल तो गुरू जनों के समक्ष विनम्रता ग्रौर सम्मान तो दूर उदंडता, ग्रधिकार ग्रौर धौंस की बात होती है। यदि ग्राप ऐसा करेंगे तो ग्राप कभी सच्ची शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकेंगे। ग्रापको उन्हें सदा प्रसन्न रखकर ग्रपने ग्राप को भी सन्तुष्ट रखना चाहिए। ग्रपने गुरू जनों को प्रसन्न रखो ग्रौर वे ग्रापको ग्रपना ग्राशीर्वाद देंगे। यदि वे ग्रापको ग्राशीर्वाद नहीं देते हैं तो भी वे ग्रापको समृद्ध बनायेंगे। यहां जो विद्यार्थी ग्राते हैं बहुत ग्रच्छे होते हैं। इन ग्रादर्शों का केवल इसलिए ही पालन मत करो क्योंकि मैं कहता हूं। आपको उन पर पूर्ण विवेक के साथ विचार करना चाहिए ग्रौर ग्रपने मन में इनको दृढ़ कर लेना चाहिए। मैं तो आपको स्मरण कराता हूं कि ग्राप को भविष्य में कैसा व्यवहार करना चाहिए।

१४

'तू आया अकेला-तू जायेगा अकेला'

बहुमुखी भारतीय संस्कृति को जो वास्तव में संसार के सारे ही धर्मों का मूल स्रोत है पूर्ण और उपयुक्त रूप से समझ पाना बड़ा कठिन है। अनेकों ने भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को समझाने और स्पष्ट करने के लिए प्रयत्न किये हैं किन्तु वे उसकी उसी सीमा तक व्याख्या कर सके या समझ पाये जिस सीमा तक उनकी बुद्धि और ज्ञान पहुंच सकते थे। वे भारतीय संस्कृति की आत्मा को पूर्ण और संतोषप्रद रूप से नहीं चित्रित कर सके। भारतीय संस्कृति की उत्पति हृदय से और अन्तर्नाम से है, इसका सम्बन्ध भौतिक नश्वर संसार के निःसार, निरर्थक और असंगत पदार्थो से नहीं है। भारतीय संस्कृति की तुलना मनवांछित फल देने वाले कल्पवृक्ष से की जा सकती है। सम्मान पूर्ण दृष्टि और वास्तविक रूप से जानने की ललकपूर्ण जिज्ञासा के साथ उसे गहराई से समझने का प्रयत्न करोगे तब ही उसे ग्रहण कर पाओगे। यदि केवल ऊपरी दृष्टिकोण के साथ आपकी पहुंच हुई, वास्तविक प्रयत्नपूर्ण गहन जिज्ञासा नहीं हुई तो फिर आप के सामने उसका ऊपरी अवास्तविक मायावी रूप आयेगा और आप छले जायेंगे।

यह तो बहुत ही हास्यपद है कि भारत में जन्म लेकर उसी धरती का अन्नजल ग्रहण कर हम बड़े हुए हैं और भारतीय कहलाते हैं और संसार के लोग हमें भारत की सन्तान कहते हैं किन्तु हम अपनी भारतीय संस्कृति के आन्तरिक अर्थ और वास्तविक महत्व को नहीं समझते हैं। जिस प्रकार एक हाथी अपनी शक्ति और सामर्थ्य को नहीं समझता इसी प्रकार हम भारतीय भी अपनी शक्ति और सामर्थ्य को भुलाये बैठे हैं। हाथी अंकुश के इशारे पर अपने महावत की आज्ञा से ही बैठता और उठता है, जब महावत उसे झुकने को कहता है वह झुकता है। हाथी में इतना बल होने पर भी एक महावत के द्वारा नियंत्रित होता है, उसके वश में रहता है।

इसी प्रकार भारतीय भी, अपनी शक्ति को भुलाकर, बाह्य आकर्षणों से खिचकर गलत परम्पराओं को अपनाकर, दूसरों की नकल करके बहुत कमजोर हो गये हैं। वे सत्य पथ का अनुसरण करते हुये उस पर चल नहीं पा रहे हैं। जब हमारी संस्कृति में स्वर्ण के समान बहुमूल्य पदार्थ उपलब्ध हों तो फिर निम्नकोटि की धातु की बाहरी चमक से आकर्षित हो कर उनके पीछे भागने की क्या आवश्यकता ? हमारी संस्कृति को समझने के लिये हमारे सामने विशाल क्षेत्र हैं, और अवसर हैं किन्तु हम सच्चे हृदय से उसको समझने के प्रयत्न ही नही करते हैं। हमारे महान् सांस्कृतिक ग्रन्थ महाभारत को लें; संसार के सब ग्रंथों में जो कुछ है वह सब महाभारत में उपलब्ध होगा, यदि कुछ ऐसा है जो महाभारत में नहीं है तो फिर वह संसार के किसी भी धर्म ग्रंथ में नहीं होगा। किन्तु खेद की बात है कि हम भारतीय दूसरों के बनाये शुद्ध पकवानों की ओर अधिक ललचायी दृष्टि से देखते हैं और अपने यहां के स्वादिष्ट स्वास्थ्य-वर्धक और मूल्यवान व्यंजनों की उपेक्षा करते हैं। यह वृति आजकल के विद्यार्थियों में अधिक व्याप्त है। हमें भारतीय संस्कृति और भारतीय धर्म को अपना कर उन्हें पुनर्जीवित करना और फिर से शक्तिशाली बनाना होगा। आजकल के विधार्थियों को पवित्र मार्ग पर चलने के लिये आगे आना चाहिए। आजकल की शिक्षा पद्धति सही और उचित मार्ग- दर्शन बिल्कुल नहीं कर रही है और यही विद्यार्थियों की गिरी हुई स्थिति का मुख्य कारण है। दोष उनका नहीं बल्कि शिक्षा पद्धति का है। विद्यार्थियों को केवल अपनी पाठ्य पुस्तकें पढ़कर ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए बल्कि अपने सत्य ज्ञान वर्द्धन के लिये महापुरुषों द्वारा रचित महान् ग्रंथों और सद्—साहित्य का भीं अध्ययन करना चाहिये। समय निकाल कर इस प्रकार सद् ग्रंथों का स्वाध्याय करना भी साधना है। किन्तु आज स्वाध्याय का विद्यार्थियों में नितान्त अभाव है और उसका कारण यह है कि उन्हें रामायण, महाभारत और भागवत् सदृश्य महान् ग्रंथों के सम्बन्ध में यह जानकारी नहीं है कि इनमें कितनी अमूल्य निधि है कितना माधुर्य और रस है और इसलिये कोई रूचि नहीं है।

गत सप्ताह कुछ विद्वानों ने आप को शंकरा चार्य और शंकर जयन्ती के सम्बन्ध में बताया था। यह कहा जाता है कि उदय भारती, पंडित मंडन मिश्र की पत्नी ने शंकराचार्य से कामसूत्र के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न किये। शंकराचार्य को इसका कोई अनुभव नहीं था अतएव उत्तर प्राप्त करने के लिए उन्होंने 'परकाया प्रवेश' किया। कई लोग सोचते हैं कि शंकर ने ऐसा करके पाप किया और उनका शरीर अपवित्र हो गया था। बाद में जब वह कश्मीर में देवी के मन्दिर में गये तो देवी

के मन्दिर के पट बन्द रहे और मन्दिर के भीतर से दैविक वाणी हुई कि वह अपवित्र हैं। शंकराचार्य ने उत्तर दिया कि न तो मैंने कोई पाप किया है और न ही मेरा शरीर किसी प्रकार अपवित्र हुआ हैं। जब शंकराचार्य ने अपने हृदय से अपनी शुद्धता की घोषणा की तो मन्दिर के द्वार स्वत: ही खुल गये। सामान्यतया पाप कर्म शरीर से ही होते हैं, जिसके लिये प्रेरणा मन से प्राप्त होती है और इन्द्रियाँ उसको पूरा करती हैं। वास्तव में देखा जाये तो एक ओर इन्द्रियां, मन और शरीर है और दूसरी ओर आत्मा; किन्तु दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है। पक्षाघात से पीड़ित अपने शरीर के उन अंगों का संचालन नहीं कर सकते हैं, जो पक्षाघात से प्रभावित होते हैं। मन चाहे दुखित हो कि हाथ काम नहीं करता किन्तु जीव अप्रभावित रहता है। केवल कुछ अंग काम नहीं करते हैं। इसलिये जीव और बेकार हो गये अंगों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है। जब तक शरीर के अंग ठीक रहते हैं शरीर जीव के साथ सहयोग करता हुआ कार्य करता है किन्तु शरीर द्वारा किये गये भले और बुरे कर्मो का प्रभाव जीव को दूषित नहीं कर पाता है। जो कुछ शरीर करता है उसका अनुभव भी जीव को शरीर के माध्यम से ही होता है। यह सोचना उपयुक्त नहीं है कि शरीर द्वारा किये गये पापों के लिये जिनका मन अनुभव करता है जीव उत्तरदायी है। जीव को तो नित्य 'अनन्त' संतोष होता है और शरीर द्वारा किये गये पाप जीव पर कोई प्रभाव नहीं ड़ालते। साधना वास्तव में जीवन मुक्ति के लिये नहीं है बल्कि शरीर से जीव के बीच के इस अन्तर को समझने और प्राप्त करने के लिये है जिससे कि शरीर सम्बन्धी भ्रमजाल को, माया को पार किया जा सके।

मीनावती नाम की एक बहुत अच्छी रानी थी। उसके गोपीचन्द नाम का एक पुत्र था। गोपीचन्द जब दस वर्ष का बालक ही था, दासियां उसको चौकी पर बैठा कर सुगन्धित तेल से उस की मालिश करते हुये उसे सांसारिक रसिक्ता की कहानियां सुना रही थीं। मीनावती ने अपने कमरे के दरवाजे से यह सब देख-सुन लिया। उसे दासियों को इस प्रकार व्यर्थ की बातों में समय बरबाद करते हुये देख बड़ा-दुख हुआ वह उस स्थान पर पहुंची जहां गोपीचन्द को तैल-स्नान करवाया जा रहा था। रानी को इतना खेद था कि आँखों से आंसू टपक पड़े। गोपीचन्द ने कहा, "माँ! आप क्यों रो रही हैं?" रानी शान्त रही और कुछ नहीं बोली। जब बालक ने बहुत आग्रह करते हुए अपनी मां से कारण बताने के लिये फिर कहा तो वह बोली, "पुत्र तुम्हारे परदादा, दादा और पिता भी, जिन्होंने सारे ही भौतिक सुख-भोगों का आनन्द लिया था, वे नहीं रहे, उनकी जो एक चीज शेष रह गयी है वह है

एक मुट्ठी राख। कम से कम तुम्हें तो इतना समझदार होना चाहिए कि सांसारिक क्षणिक सुख-भोगों के पीछे न दौड़ कर आत्मा के नित्य और अनन्त आनन्द को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। सदा सत्य बोलने वाले महाराज हरिश्चन्द्र ने क्या देह नहीं त्यागी और यह संसार नहीं छोड़ा? क्या राजा नल जिसने सारी पृथ्वी पर राज्य किया, पृथ्वी का कुछ भाग भी मरते समय अपने साथ ले जा सका? क्या महाराज मोधाता जो सम्राटों के सम्राट् थे, अपना थोड़ा बहुत खजाना भी अपने साथ ले जा सके? क्या राम जिन्होंने समुद्र पर सेतु बांधा था, अब भी पृथ्वी पर रहते हैं? कोई भी, संसार की कोई वस्तु, पदार्थ या खजाना अपने साथ नहीं ले गया है। क्या तुम सोचते हो कि तुम अपने साम्राज्य का कुछ भी भाग अपने साथ ले जा सकोगे? ये सब तो नाशवान और अस्थायी हैं। हमें स्थायी, नित्य और अनन्त सुख की, आत्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने चाहिए। हमें अपने शरीर से सुकृत्य करने चाहिए, हमारा मन हमें शुभ प्रेरणायें देने वाला होना चाहिये। ऐसे शुभकर्मों और प्रेरणाओं से ही परमात्मा प्रसन्न होते हैं और अपनी कृपा करते हैं।"

एक छोटा सा उदाहरण है। एक बड़ी दीवाल घड़ी में घंटे, मिनट और सैकण्ड बताने वाली तीन सुइयां हैं। सैकण्ड की सुई ६० सैकण्ड में घड़ी के गोले का एक पूरा चक्कर लगा लेती है किन्तु मिनट की सुई, उतने समय में उसका साठवां भाग ही चलती। है जब मिनिट बताने वाली सुई एक पूरा चक्कर लगा लेती है तो घंटे वाली सुई मिनिट की सुई के साठवें हिस्से के बराबर ही चलती है। सैकण्ड की सुई की चाल सबसे तेज होती है इसलिये उसको चलते हुए तो स्पष्ट देख सकते हैं। सैकण्ड की सुई की गति उसका साठवां भाग होती है किन्तु ध्यान से देखने से उसकी चाल भी दिखायी पड़ जाती है। किन्तु घंटे के सुई की गति मिनट की सुई की गति का साठवां हिस्सा होने के कारण इतनी धीमी होती है कि उसे देखा नहीं जा सकता है। इसी प्रकार जब हम अनेकों शुभ कर्म करते हैं तो मन एक अच्छी स्थिति में पहुंचता है; जब मन अनेकों शुभ विचार सोचता है, उसमें अनेकों शुभ प्रेरणायें उठती हैं तो जीव आत्मा के पवित्र स्थान पर पहुंचता है। हम शरीर के कर्मों को तो जीव तक पहुंचते हुये देख सकते हैं किन्तु जीव के कृत्यों को आत्मा तक पहुंचते हुये नहीं देख सकते। हमारा शरीर तो सैकण्ड की सुई के समान है, मन मिनिट की सुई के समान है और हमारा जीवन घंटे की सुई के समान है। इसलिए हमें अपने शरीर से शुभ कर्म करने चाहिये। हमें अपने मन से सदा शुभ का चिन्तन और शुभ कर्मों को करने का संकल्प लेना चाहिए। तभी हम जीव तत्व के पवित्र स्थल तक पहुंच सकते हैं। ये स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर कहलाते हैं जब हम कारण की स्थिति

तक पहुंचते हैं तो हम स्थूल शरीर से बहुत से शुभ कार्य करते हैं, और सूक्ष्म मन से अनेकों शुभ विचारों पर मनन करते है ।

इस शरीर से जो भी कोई कर्म करते हैं उससे हम पुर्नजन्म की ओर अग्रसर होते हैं। कोई भी शुभ या अशुभ कर्म की किसी भी बीज के साथ तुलना की जा सकती है। कोई खराब बीज बोने में न आ जाये, हमें सब कार्य बिना किसी इच्छा के और बिना किसी फल की इच्छा के निस्वार्थ भाव, तप और लगन के साथ करना चाहिए। हमें अपने सारे कर्म भगवान की प्रेरणा से, उनको ही समर्पित करके उनकी प्रसन्नता के लिये करने चाहिए। यदि आप किसी स्थान को साफ करें तो यह सोच कर करें कि आप मन्दिर के उस हृदय स्थल की सफाई कर रहें हैं जिसमें भगवान का स्थान है। जब आप किसी की सहायता करते हैं या किसी को कोई हानि पहुंचाते हैं तोय ह सोचें कि आप वह काम अपने स्वयं के लिये कर रहे हैं भगवान के लिए कर रहे हैं। फिर आप किसी को कोई हानि नहीं पहुंचायेंगे।

विद्यार्थियों को दो बातें बिल्कुल भुला देनी चाहिये । एक तो यह भूल जाओ कि आपने किसी की क्या सहायता की और दूसरे यह कि किसी ने आप को क्या हानि पहुंचायी जब आप यह सोचते हैं कि अमुक ने आपको यह हानि पहुंचायी तो आप में फिर उस व्यक्ति के साथ बदला लेने की भावना पैदा होती है और यदि यह कभी याद ही न आये कि किसी ने आप का कोई नुकसान किया था या तकलीफ पहुंचायी थी तो फिर बदले की भावना कैसे पैदा होगी। इसी प्रकार यदि आप यह याद करते रहेंगे कि आपने उसके साथ यह भला किया था उसकी यह सहायता की थी तो आप उसका प्रतिकण पाने की, उसका इनाम पाने की भी इच्छा करेंगे और न मिलने पर दुःखी होंगे। आपको दो बातें सदा याद रखनी चाहिए। एक तो यह कि परमात्मा एक है और दूसरी यह कि मृत्यु एक है। इन बातों पर आप किसी भी दृष्टि से सोचें और विचार करें आप यह पायेंगे कि ये नित्य सत्य हैं। यदि आपको किसी शादी में जाना है और आप जाना नहीं चाहते हैं तो वहां जाना रद्द कर सकते हैं। आप को सिनेमा जाना है और आप नहीं जाना चाहते तो आप टाल सकते हैं। जब किसी शादी या सिनेमा में जाना चाहते हैं तो तैयारियां करते हैं। किन्तु अन्तिम यात्रा के लिए जिस पर जाना निश्चत है और जो कभी टाली नहीं जा सकती। हम क्या तैयारियां करते हैं ? इस संसार में हमारे तीन मित्र होते हैं। आप स्वयं ही इसका निर्णय करें कि इनमें कौन महत्वपूर्ण है। कौरवों ने सोचा था कि उनके साथ कर्ण जैसे महान् वीर योद्धा हैं और द्रोण सदृश्य आचार्य हैं इसलिये उन पर कौन विजय

पा सकता है। वे अपने आप पर भरोसा करने वाले स्वावलम्बी नहीं बने। अन्य लोगों की शक्ति और सामर्थ्य पर भरोसा करते हुये वे पांडवों को सताते रहे। इसी प्रकार यह सोचते हुये कि हमारे साथ हमारे मित्र हैं हम धृष्टतापूर्ण व्यवहार करते हैं। इसी असावधानी के कारण हम अनेकों अनुचित कार्य कर डालते हैं। जो काम हमें नहीं करना चाहिए उसे यदि हम कर डालते हैं तो हम दडं के भागी होते हैं। इस कारण हमें कभी न्यायालय में भी जाना पड़ जाता है। हम अपने प्रथम मित्र के पास जाते हैं कि वह हमारे पक्ष में गवाही दे दें किन्तु वह कहता है कि मैं घर में बैठकर तो गवाही दे सकता हूं लेकिन अदालत में नहीं जाऊंगा। हम यह सोचकर कि यह मित्र तो ठीक नहीं दूसरे मित्र के पास जाते हैं जो कहता है कि मैं कचहरी तक तो आ जाऊंगा लेकिन वहां कमरे के भीतर नही जाऊंगा। हमारा काम इससे पूरा नहीं होता और अपने तीसरे मित्र के पास जाते हैं और वह कहता है कि न्यायालय में गवाही ही देने की क्या बात है में तो जेल तक जाने के लिए तैयार हूं। हम देखते हैं कि इन तीनों मित्रों में अन्तिम मित्र ही सच्चा और श्रेष्ठ है। प्रथम दो मित्र जो केवल जीवन के साथी हैं एक तो धन और दूसरा पत्नी या सम्बन्धी। तीसरा सच्चा और श्रेष्ठ मित्र है हमारे शुभ कर्म। जब हमारी मृत्यु होती है प्रथम मित्र-धन-घर के भीतर ही रहता है और दूसरा मित्र-सम्बन्धी श्मशान घाट तक जाते हैं अर्थात उस न्यायालय के द्वार तक। केवल अन्तिम मित्र कर्म फल ही—हमारे साथ यम के न्यायालय में गवाही देने के लिये हमारे साथ होते हैं। इसलिए शुद्ध हृदय निर्मल भावना के साथ जो शुभ कर्म करेंगे वे ही आप के सच्चे मित्र और साथी होते हैं जो मृत्यु के पश्चात भी आपके साथ रहते हैं। किन्तु धन और सगे-सम्बन्धी केवल घर और अधिक से अधिक श्मशान घाट तक के साथी होते हैं। इसलिये महापुरुष सदा शुभ कर्म करने के लिये प्रेरित करते हैं क्योंकि वे ही हमारे सच्चे साथी और संरक्षक होते हैं जैसे कि आंखों की रक्षा आंखों की पुतलियां करती हैं।

महाराज हरिश्चन्द्र को, जो महान् सत्यवादी थे और सत्य के पालन के लिये जिन्होंने महान् कष्ट सहे और बलिदान किये, एक डोम के दास बन कर श्मशान घाट पर, मृतकों के कफन इकट्ठे करने के लिये नियुक्त होना पड़ा था। उन्होंने देखा कि एक बहुत धनाढ्य व्यक्ति की लाश बड़े विमान सजा कर, धूम-धाम के साथ लायी गयी और श्मशान में चिता बनाकर उसे उस पर रखा गया और आग लगा दी गयी। थोड़ी देर बाद ही जो उसके साथ आये थे सब चले गये और केवल अकेले हरिश्चन्द्र वहां रह गये। वे उस चिता को जलते हुए कुछ देर तक देखते रहे। शरीर जलते हुए जब अग्नि 'सुषुमना नाड़ी' तक पहुंची तो वह शरीर ऊपर उठने लगा। इसलिये

चिता पर लाश रखने के बाद उसकी छाती और पेट पर लकड़ी के भारी-भारी टुकड़े रख दिये जाते हैं जिससे कि ऐसा न हो। जब प्राण 'सुषुमना नाड़ी' से बाहर निकल जाते हैं शरीर फिर गिर जाता है। हरिश्चन्द्र शरीर को इस प्रकार ऊपर उठते और फिर नीचे गिरते हुये देखते रहे और यह आश्चर्य करने लगे कि शायद यह शरीर यह देखने के लिये ऊपर उठा था कि उसके प्रियजनों में से कोई उसके साथ वहां है भी या नहीं और यह देखकर कि कोई नहीं है निराश हो वापस पड़ गया। इस माया पूरित संसार को ही स्थायी और सर्वोच्च महत्व का समझ लेने के कारण हम अपनी पत्नी—पुत्र और सन्तति के मोह में फंस जाते हैं। किन्तु अन्त में तो इनमें से कोई भी हमारे साथ नहीं जाता। इस शरीर में जब तक जीवन रहता है तब तक हम प्रत्येक वस्तु को अपनी, हमारी, मेरी कहते रहते हैं और सब पर अधिकार जताते रहते हैं। किन्तु जैसे ही इस शरीर से प्राण बाहर हुए, जीवन समाप्त हुआ कि शरीर को अग्नि के सुपुर्द कर दिया जाता है या जमीन में गहरा गाड़ दिया जाता है। हमारा इस शरीर के साथ वास्तव में क्या सम्बन्ध है इस पर गहराई के साथ विचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। हम धन को बहुत महत्व देते हैं और सोचते हैं कि कहीं थोड़ा धन भी व्यर्थ न चला जाये, उसे बड़ा सुरक्षित रखते हैं। किन्तु शरीर के अग्नि समर्पित हो जाने के बाद वे प्रिय सगे सम्बन्धी उस धन को खोज निकालते हैं और यह पता लगाते हैं कि कितनी जीवन-बीमा की पालीसियां हैं और कितने की हैं, बैंकों में कितना धन है। इसलिए इस शरीर के साथ वास्तव में किसी का कोई सम्बन्ध नहीं। इसी प्रकार जो कर्म करते हैं उनका सम्बन्ध केवल शरीर तक सीमित रहता है, उनका जीव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।

शरीर को जीव के बीच के सम्बन्ध को समझाने के लिए एक छोटा सा उदाहरण है। जब हम किसी पक्की तार-कोल की सड़क पर चलते हैं तो हमारी छाया उस सड़क की बाजू की ऊंची नीची गंदी जमीन गड्ढे और खाइयों में पड़ती है। आप कितनी भी अच्छी, सुन्दर और स्वच्छ सड़क पर चलें आपकी छाया, गंदगी पर पड़ सकती है। किन्तु यह गंदगी उस छाया पर नहीं लगती। आप अच्छे मार्ग पर चलते रहें, आपको छाया के साथ नहीं जाना चाहिये और उसके साथ गंदगी पर नहीं पड़ना चाहिये, उससे बचना चाहिये। आपको शरीर के द्वारा अच्छे कार्य करने चाहिए, शुभ कर्म करने चाहिये, अपने मन में शुभ विचार लाने चाहिये, भला सोचना चाहिये और तदनुसार शुभ कार्य करने चाहिये। हमें सब को प्रेम करना चाहिये। कई बार लोग प्रश्न करते हैं कि प्रेम करने पर भी यदि दूसरा आप से घृणा करता है तो क्या करना

क्या प्रतिदान करते हैं ? आपका कर्त्तव्य तो यह है कि आप सत्य पथ पर डटे रहें, विचलित न हों आगे बढ़ते जायें। यदि कोई हानि पहुंचाता है और आप उससे घृणा करते हैं और उसे नुकसान पहुंचाते हैं तो आप यह दावा कैसे कर सकते हैं कि आप अच्छे हैं ? इसलिये आपको तो सत्य के मार्ग से विचलित होना ही नहीं चाहिये और साथ ही यह प्रयत्न भी करना चाहिये कि अन्य लोग भी सत्य मार्ग पर आपके साथ-साथ चलें। यदि आप गहराई में गोता लगा कर रत्न प्राप्त करना चाहते हैं, सच्चे प्रेम की अनुभूति चाहते हैं तो आपको सारे शारीरिक विचार, भौतिक विचार छोड़ देने होंगे तथा आत्मिक दृष्टि जागृत करनी होगी। तब ही आप वास्तविकता के दर्शन कर सकेंगे। आपको चाहिये कि आप सबको आत्म-दृष्टि से ही देखें और बाहरी रूप-गुणों जैसे लम्बाई, भार और स्थिति के आधार पर भेद-भाव न करें। हम यहां बिजली के बल्ब जलते देखते हैं जो छोटे-बड़े विभिन्न आकार और शक्तियों के और उसके अनुसार प्रकाश देने वाले हैं। उनके विभिन्न रंग हैं। वॉट के अनुसार कम ज्यादा प्रकाश देते हैं। किन्तु सब बल्बों में बिजली की करैंट एक ही है। हमें उस विद्युत धारा को ध्यान में रखना चाहिये जिससे कि बल्ब जलते हैं न कि बल्बों को, 'हमारा भारतीय दर्शन कहता है कि परमात्मा सब प्राणियों में विद्यमान है—मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़े आदि सब में हाँ। इसलिये हमें उन सब से प्रेम करना चाहिये, चाहे वे हमें प्रेम करते हों या नहीं। मैं अपना ही आपको उदाहरण देता हूं। मैं सब को प्रेम करता हूं। हमें तो यह देखना चाहिये कि हमारा प्रेम शुद्ध और पवित्र है या नहीं। घृणा का मेरे में कोई स्थान नहीं। जो लोग मुझे नहीं चाहते हैं आवश्यकता पड़ने पर मेरे पास आते हैं और मेरे सामने झुकते हैं।

यदि हम यह आशा करेंगे कि दूसरे भी हमें प्रेम करें और चाहें तो फिर यह प्रेम की कीमत लगाना हो जायेगा। जिसे हम प्रेम करते हैं वह हमें बदले मे प्रेम करता है या नहीं इसकी बिना कोई चिन्ता किये हमें प्रेम करना चाहिये। दूसरे का भला या बुरा उसके साथ है, हमें तो स्वयं को अच्छा बनना है और अच्छा करना है इसलिये हमें पूर्ण हृदय के साथ अपने प्रेम को निर्मल और प्रकाशित रखना चाहिये और धर्म के मार्ग पर चलना चाहिये। फिर अन्य लोग अपने आप ही आपको प्यार करने लगेंगे, चाहने लगेंगे।

यदि आप पर कोई आघात करता है और चिल्लाता है तो आपको इसकी परवाह नहीं करनी चाहिये और उसके साथ लड़ना नहीं चाहिये। जब बुद्ध बोध गया में थे, तो अनेकों लोग ऐसे आते थे जो उनके मुंह पर ही उन्हें गालियां देते थे

और भला-बुरा कहते थे किन्तु वे उनसे अप्रभावित और अविचलित रहते थे, उस समय भी प्रेमपूर्वक मुस्कुराते हुये शान्त बैठे रहते थे। गालियां देते-देते थक जाते किन्तु बुद्ध उसी प्रकार शान्त बैठे रहते और वे लोग अन्त में हारकर अपने-अपने स्थान को लौट जाते थे। जिस प्रकार ताली बजाने के लिए दोनों हाथों को मिलाना पड़ता है इसी प्रकार किसी लड़ाई-झगड़े के लिये दो पक्षों की आवश्यकता होती है। जब हम उत्तेजित हो जाते हैं, तो शब्द-जाल बढ़ता जाता है। जब कभी कोई रिश्तेदार आपके घर आता है और आप उसे दरवाजे पर देखते ही स्वागत भरे शब्दों में कहते हैं, "कहिये जी कैसे हैं ? सब कुशल मंगल हैं न ? कब पधारे ?" तो वह सज्जन प्रसन्नता के साथ कहेंगे, "सब कुशल मंगल हैं। अभी सीधा बस से उतर कर आ रहा हूं।" इतना कह कर अपना बिस्तर और सूटकेस लेकर वह आपके घर में प्रवेश कर जायेंगे। यदि आपने उन्हें देख कर भी उपेक्षा की, कुछ नहीं बोले और चुपचाप घर में घुस कर दरवाजा बन्द कर लिया तो वह सज्जन शायद आपके घर में नहीं आयेंगे और किसी होटल में या अन्य किसी के यहाँ ठहरने के लिये आपके घर से वापस लौट जायेंगे। इसी प्रकार यदि आपके हृदय के द्वार के निकट आकर आपको कोई गाली देता है और आप उसकी उपेक्षा करके उससे विरक्त हो जाते हैं, कुछ नहीं बोलते तो वह भी उस उपेक्षित अतिथि के समान स्वयं ही लौट जायेगा। इसलिये विद्यार्थियों को इस प्रकार का शान्तिपूर्ण रुख अपनाना चाहिये। यदि परीक्षा में कोई विद्यार्थी निरीक्षक द्वारा नकल करता हुआ पकड़ा जाता है और उसे ऐसा करने के लिये मना किया जाता है तो वह छुरा निकाल लेता है और निरीक्षक को छुरा मार देता है। यह बहुत ही भारी हीन अपराध और पाप है। नकल करना ही गलती है और उस पर भी अध्यापकों पर इस प्रकार हिंसक वार करना इतना भारी कुकृत्य है कि किसी विद्यार्थी को उसकी कल्पना तक नहीं करनी चाहिये। यदि कहीं किसी नीच स्थान पर किसी नीच प्रकृति के दुर्बुद्धि विद्यार्थी ने ऐसा अपराध किया हो किन्तु हमारे विद्यार्थियों को ऐसा कोई कुकृत्य कभी नहीं करना चाहिये। इस बात की चिन्ता नहीं करनी चहिये, आप चाहे फेल हो जायें किन्तु आपको ऐसा मार्ग कभी नहीं अपनाना चाहिये और कोई दूसरा भी किसी गलत रास्ते पर जाता हो तो उसे रोकना चाहिये और समझाकर सच्चे मार्ग पर लाना चाहिये। यदि हम इन उच्च आदर्शों को सामने रखेंगे और उन पर चलेंगे तो उन्हें कोई नहीं बदल सकता।

मीरा के जीवन का उदाहरण आपके सामने है। मीरा ने संगमरमर के पत्थर का एक मन्दिर बनवाया और उसमें भगवान की मूर्ति स्थापित की। मीरा

अपना सारा दिन प्रभु का नाम स्मरण करती, उनके गीत गाती, नाचती आनन्दमग्न मंदिर में ही बिताती। वह अपने सगे सम्बन्धियों के नाते-रिश्ते भूल गयी और गिरधर गोपाल—श्री कृष्ण ही उसके सर्वस्व हो गये, उनकी ही छत्र-छाया में और उनके ही सहारे उसके दिन बीतने लगे। जब वह इस प्रकार आनन्द मग्न हो अपना जीवन बिता रही थी, वह अपने पति को दिये हुए वचन भी भूल गयी। उनके पति बहुत क्रोधित हुए और मन्दिर में आकर मीरा को बाहर निकाल कर मंदिर के दरवाजों में ताला लगा दिया। मीरा की आँखों के सामने एक अद्भुत दृश्य आया। इस संकट की घड़ी में उसके मन में एक आनन्द की नई लहर उठी। सुख तो दो दुःखों के बीच का अन्तराल है। उसने भगवान से कहा, "क्या यह आप का मन्दिर है? क्या इसे महाराणा ने बनवाया है?" उसकी पुकार उसके अन्तरतम् से थी। उसके हृदय में जो भावना थी उसको कौन दबा सकता था। भगवान श्रीकृष्ण ने उसे द्वारका जाने की प्रेरणा दी। जब मीरा द्वारका पहुंची तो वहां भी मन्दिर के पट बन्द पाये घर के मन्दिर के पट पति ने बन्द कर दिये और द्वारका में भी दरवाजे बन्द मिले तो वह गा उठी।

———

१५

मातृ देवो भव ! पितृ देवो भव !

किसी राष्ट्र का मान-सम्मान उस राष्ट्र की नैतिकता पर निर्भर करता है। जिस राष्ट्र में नैतिकता नहीं उसका पतन निश्चित है। गत कई दिनों से अनेकों अनुभवी और प्रतिष्ठित विद्वानों के वेद, शास्त्र और पुराणों आदि पर आप लोग भाषण सुनते रहे हैं और वे आप को इस सब की तथा भारतीय संस्कृति की महत्ता और उपयोगिता की व्याख्या करते रहे हैं। किन्तु इस प्रकार सद्ग्रंथों और संस्कृति के महत्व और मूल्य की बातें सुनते रहने से कुछ प्राप्त होने वाला नहीं है। जो कुछ भी आप सुनते समझते हैं उसे आचरण में लाने की आवश्यकता है। किसी भी व्यक्ति की मान-प्रतिष्ठा उसकी पवित्रता पर निर्भर करती है। जब व्यक्ति अपने आप को सुसंस्कारित करता है, अपना शुद्धिकरण करता है तो वह इस प्रकार अपने आपको सुधार कर अपना उद्धार कर लेता है क्योंकि ज्ञान और आचरण की शुद्धता और परिष्कार से संस्कृति का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है, वह उसकी महानता को समझ कर अपने आपको उसके अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। ऐसा व्यक्ति ही वास्तव में संस्कृति की महानता को समझ सकता है। व्यक्ति ही समाज की प्रथम इकाई है, वह ही समाज का निर्माता है। समाज पर गांव निर्भर करता है, सब गांवों के सम्मिलित आधार पर प्रांत या राज्य निर्भर करता है। राष्ट्र सब प्रांतों का सम्मिलित स्वरूप ही होता है। इस प्रकार किसी भी राष्ट्र या देश का पूरा हित केवल व्यक्तियों के गुण और स्वभावों पर निर्भर करता है। इसलिए व्यक्ति का सुधार प्राथमिक महत्व का है। व्यक्ति के सुधार के दो पक्ष हैं। पहला तो यह कि बुराइयों को और कमजोरियों को दूर करना उसकी बुरी आदतों और बुरे विचारों को निकालना और दूसरे उनके स्थान पर अच्छी आदतें और विचार, उसके स्वभाव और आचरण में डाल देना। विद्यार्थियों को ये दोनों बातें अपनानी

चाहिए, बुराइयों को अपने से दूर रखना, दुर्गुणों को दूर रखना और उनके स्थान पर सद्गुणों को अपनाना चाहिये ।

देश का भविष्य विद्यार्थियों की दशा और सद्गुणों पर अवलम्बित है। विद्यार्थी ही राष्ट्र वृक्ष के वास्तविक मूल हैं । इसलिए हमें उस मूल को ही दिव्य शक्ति के जल से सींचना चाहिए । विद्यार्थियों की तुलना पुष्प-लताओं से की जा सकती है । यदि इन लताओं को यों ही उगने और बढ़ने दिया जाता है तो वे अपना अव्यवस्थित और असुन्दर जाल फैला देती हैं । इसलिए उनको सौन्दर्य पूर्ण, आकर्षक और अधिक उपयोगी बनाने के लिए उनकी कटाई-छंटाई, आवश्यक संभाल और देखभाल होती रहनी चाहिए । इसी प्रकार जीवन का सौन्दर्य अच्छी आदतों पर निर्भर करता है । विद्यार्थी काल जीवन का पवित्रतम् और महत्वपूर्ण काल होता है । इसलिए विद्यार्थियों को अपने आचार-विचार, व्यवहार और आदतों को श्रेष्ठ और आदर्शपूर्ण बनाना चाहिए, संयम और अनुशासन पालन करना चाहिए । विद्यार्थियों के मन और मस्तिष्कों में सदा शुभ और उच्च विचार आने चाहिए और उन विचारों को सुन्दर ढंग से अपने दैनिक जीवन में व्यवहारिक रूप में क्रियान्वित करना चाहिए । तभी वे विकास और प्रगति की सीढ़ियों पर आगे बढ़ सकते हैं । इस ग्रीष्म कालीन पाठ्यक्रम के आयोजन का उद्देश्य आप लोगों को इन विद्वानों द्वारा बताई गई बातों की सूचना-मात्र देने का नहीं है बल्कि इसका उद्देश्य है इनके आधार पर परिवर्तन लाना । केवल नोट-बुकों में कुछ लिख लेना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि आवश्यक है कि आप अपने हृदय पटल पर अंकित करें और फिर उस पर नित्य प्रति चिन्तन, मनन और निदिध्यास करके उन्हें आत्मसात् कर लें और स्वयं को उसी रूप में परिवर्तित कर लें । अपने आप से सदा यह प्रश्न करते रहें "मैंने अपने आचरण में कितना परिवर्तन किया है ? इन भाषणों को सुनकर मुझ में कितना परिवर्तन आया है ? यह आत्म चिंतन और आत्मावलोकन नितान्त अनिवार्य है । यदि आप में कोई परिवर्तन नहीं आता है तो यह सब आयोजन व्यर्थ होगा तथा वरिष्ठ जनों को निरर्थक कष्ट होगा ।

जिस स्थिति में होकर आप निकल रहे हैं वह वास्तव में बहुत ही पावन है । इसलिये इस स्थिति में अभी से आध्यात्मिक दृष्टिकोण बना लेने से और तदानुकूल अपने जीवन यापन से, जब जीवन की परिपक्वावस्था में पहुंचेंगे, वृद्ध हो जायेंगे तो अपना जीवन अधिक सुख, शान्ति और संतोष के साथ बिता सकेंगे । वर्षा के दिनों में यह आवश्यक होता है कि जितने तालाब हैं वे अच्छी तरह भर जायें और गर्मी में उनमें पानी की कमी के कारण कष्ट नहीं उठाने पड़ें । इसी प्रकार आप लोगों के

जीवन का यह समय है जब आपको अपने मन को सुन्दर और उपयोगी विचारों और भावों से परिपूर्ण कर लेना चाहिए जिससे कि वे आपके भावी जीवन के संकटपूर्णकाल में जो प्रत्येक के जीवन में अनिवार्य रूप से आता है, काम में आ सके और उनके सहारे उस संकट को पार कर सकें। ये उच्च विचार आपके भविष्य के लिए ही नहीं बल्कि जाति, समाज और राष्ट्र के लिए भी अनिवार्य हैं। यदि आप अभी से सही दिशा में नहीं मुड़ेंगे, सही दिशा में नहीं चलेंगे जबकि आपके शरीर में शक्ति है, शक्ति सबल है, तो फिर बुढ़ापे में जब न तो शरीर में शक्ति रहती है, जब चिन्तन और मानसिक विचार शक्ति क्षीण हो जाती है, सभी चेतनायें और प्रेरणायें मन्द पड़ जाती है, शक्ति और बल के सारे स्रोत सूख जाते हैं, आपको कुछ भी कर पाना सम्भव नहीं हो पायेगा। 'शीघ्र चल दो धीरे चलो और सुरक्षित पहुंचो।' इसे एक छोटे से उदाहरण से समझें। यदि आप किसी होटल में ठहरे हैं आप प्रातः छः बजे ही आदेश देते हैं कि आपका भोजन तैयार कर लिया जाये और आप जब तक भोजन न करें तब तक सुरक्षित रखा जाए तो फिर चाहें आप दोपहर को १२-०० बजे या एक बजे ही क्यों न आयें आपका भोजन सुरक्षित रहेगा। यदि भोजन का आदेश प्रातः शीघ्र दे दिया जाता है तो फिर दोपहर में देर तक भी आपको भोजन मिल जाएगा। इसी प्रकार अपनी इस अवस्था में ही जब आप अपने मन को सुन्दर और अच्छे विचारों से पवित्र भावों से भर लेंगे तो आपके भावी जीवन में उनकी उपयोगिता सिद्ध होगी, आपको अपार मानसिक शान्ति और संतोष प्राप्त होगा और फिर आप मोक्ष की भी कामना कर सकते हैं। यदि आप मुक्ति चाहते हैं तो आपको अपनी इसी अवस्था से उच्च और श्रेष्ठ विचारों को आदर्श व्यवहार को, अच्छी आदतों तथा शुभ कर्मों को अपनाना होगा।

आपके सामने जिन विद्वानों और पंडितों ने भाषण दिये हैं वे बहुत शिक्षित और अनुभव प्राप्त हैं, वृद्ध हैं; किन्तु वे तो आपका केवल मार्ग ही निर्देशन कर सकते हैं, मार्ग पर चलना तो आपको ही पड़ेगा यदि आप अपने लक्ष्य तक पहुंचना चाहते हैं। वे स्वयं तो आपके लिये चल नहीं सकते। ये अनुभवी वृद्धजन तो उस मार्ग के मार्ग प्रदर्शक खंभों के समान हैं जो यह संकेत करते हैं कि यह मार्ग अमुक स्थान को जाता है। ये लोग अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर आपको यह बता सकते हैं कि इस मार्ग पर चलने से आप इस स्थान पर पहुंचेंगे और उस मार्ग पर चलने से उस स्थान पर। मार्ग की कठिनाइयां और उनके समाधान के उपाय बता देंगे किन्तु जहां आपको पहुंचना है उसके लिए बताये गये सही मार्ग पर चलना आपको ही पड़ेगा, आपको स्वयं ही प्रयत्न करने होंगे। आजकल की दशा पर यदि

आप दृष्टि डालें तो देखेंगे की सरकार लोगों के जीवन में सुधार ला सकने में असमर्थ है क्योंकि जिस प्रकार के सुधारों की आज आवश्यकता है वे आज के शासकों में स्वयं में नहीं हैं और लोग या जनता उस स्थिति में नहीं है जो शासकों और नेताओं में किसी प्रकार का उत्साह और साहस भर सके। मैं आपको जनता और शासकों के बीच के सम्बन्ध को एक छोटी सी उपमा से समझाता हूं। एक छोटे से सर्प ने एक बड़ा सा मेंढक पकड़ लिया। सर्प उस मेंढक को निगल जाना चाहता है और मेंढक उससे मुक्त होना चाहता हैं। अब न तो सर्प उसको निगल पाता है और न ही मेंढक अपने आपको उससे छुड़ा पाता है। दोनों के बीच उस द्वन्द्व का फल होता है दोनों का निःशेषण। या तो सरकार में इतनी क्षमता होनी चाहिये कि वह लोगों को शिक्षित कर सके और उनके जीवन को सुधार सके, समुन्नत बना सके अथवा लोगों में इतनी क्षमता होनी चाहिये कि वे सरकार को शिक्षित कर सकें, सुधार सकें, तथा समुन्नत बना सकें। दुर्भाग्य यह है कि सरकार और जनता दोनों में ही इस प्रकार की शक्ति और क्षमता का नितान्त अभाव है, दोनों के बीच संघर्ष रहता है और दोनों की शक्ति का जो पहले ही क्षीण है; और भी ह्रास होता है। इसलिए आप लोग देश की भावी आशायें हैं, आपको देश की जनता और सरकार को वाँछित नेतृत्व प्रदान करना चाहिए।

गणमान्य व्यक्ति, उच्च अधिकारी और विद्वान जिन्होंने आपके समक्ष भाषण दिये हैं, आपको याद रखना चाहिए कि एक समय आप के समान विद्यार्थी ही थे। जो कुछ वर्ष पूर्व विद्यार्थी थे वे ही आज अध्यापक प्राध्यापक हैं और मार्ग-दर्शक गुरु-जन हैं। आप लोग जो विद्यार्थी हैं कल अध्यापक होंगे, मार्ग दर्शक बनेंगे। आप में से ही कुछ नेता, कुछ वक्ता और कुछ उपदेशक बनने वाले हैं। किसी व्यक्ति की महानता और प्रगति उसके चरित्र के सुधार और विकास पर निर्भर करती है, न कि उसकी शारीरिक शक्ति, सत्ता के बल, सामाजिक स्थिति अथवा धन दौलत की गरिमा पर। इसलिये आप लोगों को सर्व प्रथम अपने अन्दर सद्गुणों का विकास करना चाहिए अपने चरित्र को पवित्र और ऊंचा करना चाहिए। आप लोगों ने कॉलेजों में प्रवेश केवल परीक्षाओं को अच्छे अंक से पास कर डिगरियां लेने के लिए ही नहीं लिया है अच्छे अंकों से भी महत्वपूर्ण बात यह है कि आपके विरुद्ध कोई लांछन नहीं होना चाहिए जो आपके चरित्र और आचरण पर कलंक लाता हो। आज आप सबको स्वयं से यह प्रश्न करने की आवश्यकता है कि आप शिक्षा क्यों प्राप्त कर रहे हैं ? क्या यह जीवन के सत्य को समझने के लिए है अथवा फिर कोई नौकरी करके वेतन प्राप्त करने के लिए है ? धन की प्राप्ति के लिए है या ज्ञान की प्राप्ति के लिए ?

यदि एक मात्र अच्छी नौकरी और अच्छा वेतन प्राप्त करना ही शिक्षा का लक्ष्य हो तो कॉलेज में पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए जीवन की प्राप्ति, विज्ञान की प्राप्ति जिससे कि आप हर दृष्टि से स्वावलम्बी बन सकें, अपने पैरों पर खड़े हो सकें। इसलिए अपने में आत्म विश्वास का विकास करो, अपने चरित्र को संस्कारों के माध्यम से शुद्ध, निर्मल और उन्नत बनाओ। अपने में नैतिक और आध्यात्मिक विकास करो यही संस्कृति का विकास है। अपने भीतर स्वतन्त्र दृष्टिकोण का निर्माण करो। आपको अपनी आंखों और अपने कानों का पूरा-पूरा और सही-सही उपयोग करना आना चाहिए, आपको अपने हृदय से अनुभव करना आना चाहिए। किसी भी बात को दूसरों के दृष्टिकोण से, पाश्चात्य दृष्टिकोण से नहीं देखना चाहिए और न ही पाश्चात्य दिल और दिमाग से सोचना चाहिये। अपने मन और मस्तिष्क का स्वतन्त्र विकास करो।

यदि आपकी दृष्टि ठीक है तो आप मार्ग पर सुरक्षित रूप से आगे जा सकते हैं। किन्तु यदि आप दूसरों की आंखों से देखते हैं अपनी आँखों से नहीं तो आपको दूसरों के सहारे पर रहना पड़ेगा। प्रत्येक बात आत्म-विश्वास पर निर्भर करती है। यदि आप किसी दूसरे के नाम से बैंक में लाख क्या करोड़ रुपये भी जमा करवा देंगे तो आपके किस उपयोग के क्योंकि आप को उनका कुछ भी लाभ नहीं मिल सकता, आप उनको किसी भी काम में नहीं ले सकते। आप केवल उस रुपये पर ही अपना अधिकार रखते है जो आपके नाम से बैंक में जमा हो। आपको सबसे पहले यह जानना चाहिए कि आपने अपने में कितना सुधार किया है, केवल इसी से आपको सहायता प्राप्त होगी। वांछित फल तो आप तभी प्राप्त कर सकते हैं जबकि जो कुछ सुनते हैं उसे व्यवहारिक रूप में काम में लाये और यही बात सबसे अधिक महत्व की है। आप में कष्ट-सहिष्णुता होनी चाहिये क्योंकि कर्त्तव्यों को सही, सच्चे और संतोषप्रद रूप में पूरा करने में कठिनाइयां और कष्ट आते हैं तथा उनको सहर्ष पूरा करने पर ही कर्त्तव्य पूरा होता है। इस कर्त्तव्य की पूर्ति में अपने राष्ट्र के हित में जीवन का बलिदान करने के लिए आपको सदा तैयार रहना चाहिए। आज ऐसे लोग अधिक मिलते हैं जो अपने हित साधने के लिये दूसरों का रक्त बहाने में नहीं चूकते। ऐसे लोग बिरले ही होते हैं जो दूसरों के कल्याण के लिए अपना बलिदान देने को तैयार हों। यदि दस व्यक्तियों का कल्याण किसी एक के कष्ट सहने से दूर होता हो तो उस एक व्यक्ति को सहर्ष कष्ट सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। हममें यह मनोवृत्ति नहीं होनी चाहिए कि दस लोगों को कष्ट होता है तो होता रहे हम क्या करें, हम क्यों कष्ट सहें; बल्कि इसके विपरीत चिन्तन धारा यह होनी चाहिए कि कारण दस को कष्ट क्यों हो, दस का कष्ट निवारण कैसे हो।

हमें इस सन्दर्भ में संख्या के विपरीत गुण औचित्य पर विचार करना चाहिए। यदि कोई खराब कार्य है तो दस लोग हों या अधिक उनके लिए कष्ट सहना उचित नहीं होगा। यदि दस लोग किसी अच्छे और श्रेष्ठ कार्य में लगे हों, तो उनको कष्ट और संकट से बचाने के लिए किसी एक को कष्ट सहना न्याय संगत होगा। कभी-कभी विषय को और भी अधिक गहनता और बारीकी के साथ विश्लेषण की आवश्यकता पड़ जाती है। यदि हजार लोग भी बुरे हों, एक सज्जन पुरुष उन हजार लोगों को भी अपने वश में करने में सफल होता है किन्तु यह नियन्त्रण केवल प्रेम की शक्ति के आधार पर ही सम्भव होता है। हमें देश के द्वारा अपनायी जाने वाली नीति को समझना चाहिए। जो विधि और मार्ग देश और समाज अपनाता है उसका को भी हमें ज्ञान होना चाहिए। किसी भी भीड़ के साथ अंधे होकर नहीं चल देना चाहिए। पूर्ण विवेक के साथ सोच कर, औचित्य को समझ कर ही किसी बात को अपनाना चाहिए। विद्यार्थियों में भीड़ के साथ हो लेने की प्रवृति होती है इसलिए बहुत सावधानी की आवश्यकता है। यदि किसी विद्यार्थी का किसी कारण से अपमान हो जाता है तो बिना कुछ सोचे समझे कि ऐसा क्यों हुआ, विद्यार्थी का पक्ष लेकर उधम खड़ा कर लेते है जब कि सोचने की आवश्यकता यह होती है विद्यार्थी ने कोई गलती तो नहीं की थी, उसका साथ देना उचित है या नहीं, उसकी किस सीमा तक सहायता करनी चाहिए। यदि उस विद्यार्थी ने कोई गलती की है और उसे ठीक किया जाता है तो वह संस्था जिसका वह विद्यार्थी है बदनाम होने से बच जाती है। यदि उस विद्यार्थी के निश्चित रूप से गलती करने के बाद भी अन्य विद्यार्थी उसका आंख मीच कर पक्ष लेते हैं तो उस संस्था की मान-प्रतिष्ठा को आघात पहुचेगा। सत्य और न्याय का ही पक्ष लेना चाहिए, असत्य, अपराध और अन्याय का कभी पक्ष नहीं लेना चाहिए। जब आप में विवेक है तो फिर असत्य और अन्याय का पक्ष लेने की गलती नहीं करनी चाहिए। इस के द्वारा ही आप अपनी संस्था को बदनामी से बचा सकते हैं। आपका न्यायोचित व्यवहार ही आपकी संस्था की प्रतिष्ठा बनाये रखने वाला होता है। कभी कभी विद्यार्थियों की मांगे न्योचित और वास्तविक रूप से तर्क संगत होती हैं। उस समय आप को सम्बधित अधिकारी के समक्ष उन्हें रखना चाहिए और ऐसा करने का आप को पूर्ण अधिकार है। जब आप किसी उच्च अधिकारी के समक्ष पहुंचे तो आपका व्यवहार बहुत नम्र होना चाहिए। जब आप अपनी बात को, अपनी कठिनाइयों को विनम्रता, शुद्ध-हृदयता और उचित तथा सही रूप में प्रस्तुत करेंगे तो वह अधिकारी भी आपकी बातों को सहानुभूति के साथ सुनने और आपकी कठिनाइयों को दूर करने के लिए प्रसन्नता से तैयार होगा। इसके विपरीत यदि आप कोई भारी अपराध कर देते हैं और विरोध पूर्ण रुख अपना लेते हैं तो अधिकारी की आपके प्रति कोई सहा-

नुभूति नहीं होगी और उसका भी रुख आपके विरुद्ध होगा। आप किसी भी व्यक्ति के स्वभाव और प्रकृति को समझ सकते हैं, उसमें क्या विशेषतायें और गुण हैं तथा क्या दोष और कमजोरियां हैं जान सकते हैं, किन्तु यह तभी सम्भव होगा जब आप उसके निकट सम्पर्क में रहें। यदि प्रारम्भ से ही किसी के प्रति पूर्वाग्रहों से ग्रसित होकर विरोध भाव रखें, उससे दूर रहें तो फिर भला उसके स्वभाव को क्या समझ सकते हैं,—उसकी विशेषताओं का क्या लाभ उठा सकते हैं।

इसलिए आप में से प्रत्येक को सही अर्थों में विद्यार्थी होना चाहिए, अर्थात् विद्या प्राप्ति की इच्छा रखने वाला, न कि अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति करने वाला 'विद्या ददाति विनयं' अर्थात् विद्या विनय प्रदान करती है। सच्ची शिक्षा का पता तो इससे लगता है कि उसके द्वारा विद्यार्थी का चरित्र और आचरण कैसा बना, न कि उसने कितनी परीक्षायें उत्तीर्ण की और डिग्रियां प्राप्त की। शिक्षा का अर्थ यह नहीं है कि आपको शिक्षा दिलाने के लिए आपके माता-पिता जो त्याग करते हैं और कष्ट सहन करते हैं उन्हें आप बिलकुल भुला दें और कृतघ्न बन जायें। शिक्षा का अर्थ यह नहीं है कि आप मन चाहे वस्त्र पहनें, विलासिता के साथ रहें, बिना किसी संयम और शिष्टाचार के व्यवहार करें आदरणीय लोगों का भी अपमान करें, आप से अधिक शिक्षित और विद्वानों की हंसी उड़ायें। विद्यार्थी होकर जो ऐसा करते हैं उन्हें विद्यार्थी नहीं कहा जा सकता, वे जो कुछ पढ़ते हैं उसे कभी शिक्षा नहीं कहा जा सकता। आपके माता-पिता आपके अच्छे चरित्र को देख कर अधिक प्रसन्न होंगे। बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जो चरित्र से अधिक वस्त्रों की चमक-दमक से प्रसन्न होते हैं। किन्तु आप अपने माता-पिता को अपने उच्च चरित्र के द्वारा जो प्रसन्नता प्रदान करते हैं वह कहीं अधिक अर्थपूर्ण और महत्वपूर्ण है वनिस्पत किसी अन्य कार्य के जो दूसरो के लिए आप करते हैं।

बहुत से ऐसे माता-पिता होते हैं जो अपनी सन्तान के भविष्य को सुधारने की दृष्टि से बहुत कष्ट सहते और त्याग करते हैं। बहुत से माता-पिता तो अपनी संतान को शिक्षा दिलाने के लिये भूखे तक रहते हैं। इसलिये वह शिक्षा जो विद्यार्थियों के जीवन में अपने ऐसे माता-पिता के प्रति जो इतना तप और त्याग करते हैं उचित और सम्मानपूर्ण दृष्टिकोण पैदा न करे वही कभी भी शिक्षा नहीं हो सकती, वह बिलकुल शिक्षा है ही नहीं। भारतीय वाङ्गमय के ये शब्द, "सत्यम् वद, धर्मम् चर" सदा सत्य बोलो और धर्म का पालन करो तथा भारतीय संस्कृति के ये निर्देश 'मातृ देवो भव ! पितृ देवो भव !'—सदा माता को ईश्वर स्वरूप मानो, पिता को ईश्वर

स्वरूप मानो।—हृदय मंजूषा में बहुमूल्य हीरों के समान सुरक्षित रखे जाने चाहिए और उनका सत्य निष्ठा के साथ पालन किया जाना चाहिये। उत्तरी भारत और महाराष्ट्र के लोग पुण्डरीक की कथा से भली भांति परिचित हैं। पुण्डरीक एक आदर्श पुत्र था जिसने अपना सारा समय अपने पूज्य और वृद्ध माता-पिता की सेवा में ही बिताया। जब कभी वे ज्वर पीड़ित होते या अस्वस्थ होते तो वह उनके सारे कार्य करता, उनके हाथ-पैर दबाता। आजकल तो किसी की मां को चाहे जितना तेज बुखार हो बेटा पहले सिनेमा देखने जाता है और उसे मां की कोई चिंता नहीं होती। माता जन्म दायिनी देवी होती है, वह ही हमें शरीर, रक्त और व्यक्तित्व प्रदान करती है, इसलिये माता परम पूज्यनीय होती है और हमें सदा इसका ध्यान रखना चाहिए। मां का निरादर करके कोई अपने जीवन में सफल नहीं हो सकता। एक बार जब पुण्डरीक अपनी मां की सेवा में लगा हुआ था और उनके चरण दबा रहा था, भगवान पांडुरंग वहां आ गये। पुण्डरीक तन्मय होकर मां के पैर दबाते रहे उसने सिर उठा कर देखा तक नहीं कि कौन आया है। इतने में ही पुण्डरीक के गुरुदेवसंत तुकाराम आ गये। उन्होंने पुण्डरीक से कहा, "अरे देखो तो पुण्डरीक कौन आया है ? देखो न ! भगवान पाँडुरंग स्वयं पधारे हैं। क्या बात है तुम ने अब तक कुछ ध्यान ही नहीं दिया ?" पुण्डरीक ने कहा' 'मैं दो देवों की सेवा को नहीं मानता। मेरे लिये तो एक ही देव की सेवा महत्वपूर्ण है।" तुकाराम ने कहा, "पांडुरंग देव हैं—भगवान हैं।" पुंडरीक ने कहा, "हां पांडुरंग भगवान हैं, किन्तु जिस की सेवा में मैं रत हूं वह भी भगवान है मेरे लिए, और वास्तविक रूप में भगवान है। मैं जन्म से ही इसी रूप को देखता आ रहा हूं और मेरी मां का यह रूप ही मेरे जन्म, पालन-पोषण, वृद्धि, प्रगति, रक्षण के लिये अब तक उत्तरदायी रहा है। इसलिये मैं उसकी पूजा करता हूं। जो देवी मेरे समक्ष गत १८ वर्षों से इस साक्षात् स्वरूप में है और उस देवी से अधिक महत्वपूर्ण है जो कुछ क्षण के लिये दर्शन देता है और ओझल हो जाता है। यदि पांडुरंग मुझ पर दर्शन देने की कृपा करते हैं तो उन्हें कुछ समय प्रतीक्षा करनी होगी, जब तक कि मैं अपनी माँ की सेवा पूरी न कर लूं।" इतना कह कर उसने एक ईट पांडुरंग की ओर इस अभिप्राय से फेंक दी कि वह उसका आसन के रूप में उपयोग कर कुछ समय प्रतीक्षा कर सके। भगवान पांडुरंग को उस ईट पर खड़े रह कर तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ी जब तक कि पुंडरीक अपनी मां की सेवा पूरी कर के दर्शनों के लिए उनके सामने नहीं उपस्थित हुआ। भगवान आप की भी प्रतीक्षा करेंगे। यह मत सोचो कि वे चले जायेंगे किन्तु आपको अपनी पूर्ण निष्ठा और योग्यता के साथ अपने कर्तव्यों को पूरा करना होगा। यह आपका व्रत होना चाहिये।

श्रीकृष्ण के श्रृंगार का वर्णन करते हुए कहा जाता है कि वे ललाट पर कस्तूरी तिलक, वक्ष पर कौस्तुभ मणि, नाक में 'नव मौक्तिका' और हाथों में कंकण धारण किये रहते हैं। कस्तूरी तिलक कोई सामान्य तिलक नहीं है बल्कि वह उनके ललाट पर परम ज्ञान का प्रतीक है। वक्ष स्थल पर कौस्तुभ मणि कोई सामान्य आभूषण नहीं है बल्कि समुद्र के फलस्वरूप प्राप्त अमूल्य रत्नों में से एक है तथा हृदय के परम प्रेम का प्रतीक है। अपनी नासिका के अग्रभाग पर जो मोती धारण करते हैं वह भी अपना विशेष महत्व रखता है। वह इस बात का प्रतीक है कि परम ज्ञान की प्राप्ति के लिए हमें अपना ध्यान नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित करके रखना चाहिए। आप प्रश्न कर सकते हैं कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए ध्यान को नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित करने का क्या अर्थ? जब हम भगवान की पूजा के लिए बैठते हैं और आंखें पूरी खुली होती हैं तो उस समय ध्यान इधर उधर हो जाने की पूरी सम्भावना रहती है। यदि आंखें पूरी तरह बन्द कर लीं तो नींद आ जाने की सम्भावना रहती है। इसलिए हमें आंखों को आधी मुंदी हुई रखना चाहिए और दृष्टि को नासिका के नोक पर केन्द्रित कर लेना चाहिए जिससे कि न तो हमें निद्रा आये और न ही हमारा ध्यान इधर-उधर विचलित हो। कवियों ने नासिका की नोक पर मुक्ता का वर्णन हमें इस सत्य को समझाने के लिए किया है कि हमारी दृष्टि नासिका के अग्र बिन्दु पर केन्द्रित रहनी चाहिए। अब हाथों के कंगन पर विचार करें। भारतीयों में कंकण दो अवसरों पर धारण किया जाता है एक तो विवाह के अवसर पर और दूसरे यज्ञ याग के अवसर पर। इसके धारण करने का अर्थ होता है कि हम ने कुछ शुभ कार्य को पूर्ण करने का संकल्प लिया है। आप प्रश्न करेंगे कि श्रीकृष्ण ने हाथ में कंकण क्यों धारण किया? क्या उनका प्रतिदिन विवाह होता है या प्रतिदिन यज्ञ या याग करवाते हैं? नहीं उन्होंने कुछ कार्यों को पूरा करने का संकल्प किया है इसलिए उन्होंने कंगन धारण कर रखा है। उनका प्रथम संकल्प तो है 'परित्राणाय साधुनां'—साधु पुरुषों का उद्धार करना, सज्जनों की दुष्टजनों से रक्षा करना तथा 'धर्म संस्थापन'—धर्म की स्थापना करना दूसरा संकल्प है कि जो पूर्ण रूप से अपना आत्म समर्पण कर उनकी शरणागत हो जाते हैं और सदा उनका ध्यान करते हुए उनके ही सहारे रहते हैं, उनकी रक्षा करना। भगवान ने अर्जुन से कहा था, "सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेक शरणम् व्रजा, अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि या शुचः।"—अर्थात् 'सर्व धर्मों का त्याग कर तू मेरी शरण में आ जा, मैं तेरे को सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर।" भगवान ने अपने भक्तों को जब ऐसी गारंटी दी है तो फिर उन्हें अपने इन संकल्पों और वचनों को पूरा भी करना पड़ता है इसलिए उन्होंने कंकण

धारण कर रखे हैं। हम श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते किन्तु वह तो अपने वचनों को पूरा करने के लिए कंकण धारण किये सदा तैयार रहते हैं। भगवान तो कहते हैं, "यदि मेरा ध्यान करते रहो, और किसी का ध्यान नहीं करो, और मेरी ही पूजा करो—यदि केवल ये तीन बातें करो तो मैं तुम्हारे हितों का संरक्षण करूंगा।" केवल हम तो इन तीनों बातों में से कोई भी नहीं करते फिर भी यह प्रश्न करते हैं कि "श्रीकृष्ण भगवान हमारी कोई सुध क्यों नहीं लेते हैं?" आदेशों का पालन किये बिना कष्ट दूर नहीं होते। डाक्टर द्वारा औषधि लेने के निर्धारित समय पर जैसे ६,६,१२ बजे और निर्धारित मात्रा में और बताये गये ३ या ४ दिनों तक औषधि नहीं ली जायेगी तो पीड़ा कैसे दूर होगी।

यदि कोई आदमी यह सोचे कि वह बहुत होशियार है और समझदार है तथा तीनों खुराक जो दिन भर में लेनी थी उन्हें एक ही बार में गट कर जाये, डाक्टर के निर्देशों की उपेक्षा करें, औषधि विज्ञान के नियमों का उल्लंघन करें, तो क्या वह ठीक हो सकता है। उसके जो परिणाम होंगे वह तो स्पष्ट हैं। फिर उसका यह शिकायत करना व्यर्थ होगा कि औषधि लेने पर भी वह ठीक नहीं हुआ। यह बहुत आवश्यक है कि जीवन के हर क्षेत्र में हम अनुशासन का पूर्ण पालन करें। भगवान स्वयं अनुशासन का पालन करते हैं। बड़े लोगों को पहले स्वयं अनुशासन का पालन करना चाहिए तभी इसके सम्बन्ध में दूसरों को शिक्षा देनी चाहिए। इसको समझाने के लिये मैं आपको एक उदाहरण देता हूं। प्रत्येक राज्य में महानिरीक्षक पुलिस होता है जिसे आई० जी० पी० कहते हैं। वह पुलिस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता है और वही पूरे विभाग का नियंत्रण करता है। वह ही यातायात नियंत्रण सम्बन्धी नियम बनाता है और उन्हें लागू करता है। यातायात का एक नियम है 'बांये चलो।' किसी चौराहे पर जब वह 'बांये चलो' का संकेत लगा देखता है तो वह उसका उल्लंघन नहीं कर सकता, वह दांई ओर नहीं चल सकता, अपने ही बनाये हुए नियमों को नहीं तोड़ सकता। इसी प्रकार जिन नियमों और आदेशों का पालन करने के लिए भगवान हम से कहते हैं उनका वह स्वयं कैसे उल्लंघन कर सकते हैं, उन्हें भी उनका पालन करना पड़ता है। भगवान के ये निर्देश शास्त्रों में दिये गये हैं। नेतृत्व के सही अर्थों में नेता को सही दिशा का मार्ग-दर्शन करना चाहिए जिस पर कि वह स्वयं चलता हो और मार्ग से भली प्रकार परिचित हो। जो आप दूसरों से करवाना चाहते हैं वह आपको स्वयं करना आना चाहिए। आजकल नेता गण केवल बात करने और भाषण देने में दक्ष और कुशल हैं, आज्ञायें जारी करते है, दूसरों को सलाह और उपदेश देते हैं

किन्तु स्वयं उनका पालन नहीं करते । जीवन के हर क्षेत्र में चाहे वह राजनैतिक हो या आर्थिक, सामाजिक हो या सांस्कृतिक अथवा धार्मिक वे अपना ऐसा प्रदर्शन करते हैं मानो उस क्षेत्र के सर्वोच्च नेता (हीरो) स्वयं ही हैं, किन्तु जब हम उनके व्यावहारिक जीवन को, उनके कृत्यों को देखते हैं तो उन्हें हर क्षेत्र में शून्य (जीरो) पाते हैं । इसलिये आजकल के विद्यार्थी को यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिए कि जो कुछ उपयोगी और श्रेष्ठ बातें आज पुरुषों से सुनते हैं उनका अपने जीवन में पालन करें जिससे कि अपनी स्वयं की प्रगति और विकास के साथ-साथ दूसरों का भी सही मार्ग दर्शन कर सकें । आज आप अपने नेताओं की बुराईयाँ करते है कि वे गलतियां करते हैं उनमें दोष हैं । कल जब आप नेता बन जायेंगे तो उस समय आपको यह देखना होगा कि आप भी वे ही गलतियां नहीं करते हैं और आप भी उसी प्रकार के आक्षेपों, लाँछनों और आलोचनाओं के पात्र नहीं बन जाते हैं जैसे कि आज के नेतागण हैं । आप को यह कदापि नहीं भूल जाना चाहिए कि जिस प्रकार आप नेताओं की कटु आलोचनायें करते हैं, कल जब आप नेता बनेंगे तो आपकी भी लोग इसी प्रकार निन्दा और आलोचनायें कर सकते हैं ।

हाथ में पाँच उंगलियां होती है । यदि किसी खराब व्यक्ति को देखते हैं तो पहली उंगली 'तर्जनी' से उसकी ओर संकेत करते हैं किन्तु उस समय तीन उंगलियां मुड़ी होती हैं और वे आपकी ओर संकेत करती हैं । इसलिये जब आप किसी के दोषों की ओर संकेत करें तो आपके लिए यह आवश्यक है कि आप अपना तीन बार आत्म निरीक्षण करें कि आप में तो वे दोष और अन्य बुराईयां तो नहीं हैं । इसके लिए एक युक्ति है । जब आप किसी में बहुत बड़ा दोष या कमजोरी देखें तो उसे बिल्कुल महत्वहीन या नगण्य समझें और उस ओर ध्यान न दें, फिर आपको कोई अप्रसन्नता नहीं होगी । यदि आप में कोई छोटा सा भी दोष है तो आप को उसे विस्तृत करके देखना चाहिए और उसे दूर करने का संकल्प करना चाहिए तथा उस प्रकार की गलती फिर कभी न हो इसका दृढ़ निश्चय करना चाहिए । यदि इस प्रकार आत्म-विश्लेषण करते रहे और दोषों का निवारण करते रहे तो फिर आप एक बार की हुई गलती को फिर से नहीं दोहरायेंगे । यदि इसके विपरीत अपने दोषों को दबा कर दूसरों के दोषों की ओर इशारे करोगे तो न तो यह आप के लिये हितकर होगा न ही दूसरों के लिए । दूसरों के दोषों की ओर संकेत करने के लिये आपको आगे नहीं बढ़ाना चाहिए । इसके विपरीत यदि आपकी किसी बुराई या गलती को कोई आप को बताता है तो आपको उसे धन्यवाद देना चाहिए और उसके समक्ष नत मस्तक होना चाहिए क्योंकि आप स्वयं अपने दोषों का पता लगा पाने में असमर्थ रहते

हैं, आपकी आंखें बाहर की ओर देखती हैं इसलिये आप दूसरों की बुराइयां तो देख पाते है, अपनी स्वयं की नहीं।

एक छोटी सी कहानी है। गर्मी के दिनों में नागपुर के आसपास के क्षेत्र में पानी की बहुत कमी हो जाती हैं। हो सकता है आजकल कुछ दशा सुधरी हो किन्तु पुराने जमाने में तो हालत बहुत खराब हो जाती थी। एक ब्राह्मण स्त्री जो बाहरी नियमों के पालन में बहुत ही कट्टर थी तीर्थ यात्रा के लिये निकली। वह इतनी अधिक कट्टर थी कि न तो किसी की कोई वस्तु या किसी व्यक्ति को स्वयं छूती थी और न ही किसी को अपने आप को या अपनी किसी वस्तु को स्पर्श करने देती थी। जब वह नागपुर पहुंची तो उसने अनुभव किया कि गर्मी बहुत भयंकर है। वह पानी की खोज में निकली किन्तु जिस नलके पर पहुंचती वहां उसे एक बूंद पानी तक नहीं मिलता। उसकी प्यास बढ़ती गई। सरकार की ओर से स्टेशन पर पानी पिलाने की कुछ व्यवस्था थी। किन्तु वहां पानी खाल की पखालों में आता था। उसने जब देखा तो उसका मन वहां पानी पीने के लिये तैयार नहीं हुआ। अनेकों आदमी आते थे पानी पीते और चले जाते थे किन्तु वह वहाँ खड़ी देखती रही, यद्यपि कि प्यास के कारण उसकी हालत खराब थी। उसके तो दिमाग में आ रहा था कि पानी पखाल में आता है, न जाने वह शुद्ध है या नहीं पानी पिलाने वाला न जाने किस जाति का है, कोई नीच जाति का तो नहीं है, जिस बर्तन से पानी पिला रहा है वह न जाने कैसा है, और फिर वह उस बर्तन से सब को पानी पिला रहा है बिना किसी की जाति का विचार किये कि कोई ब्राह्मण है या शूद्र। इन सब बातों को सोचते-सोचते उसकी दशा और भी बिगड़ती गई और उसको प्यास असह्य हो गई तो वह धीरे से आगे बढ़ी और पानी पिलाने वाले से प्रश्न किया, "क्यों भाई, तुम्हारी यह पखाल जिसमें पानी आता है, शुद्ध और साफ है?" वह व्यक्ति बड़ा चतुर था, उसने उत्तर दिया, "मां, यह खाल की पखाल आपकी उस खाल की काया से कहीं शुद्ध, स्वच्छ और निर्मल है, जिसको आप पानी पिलाना चाहती हैं।" हम लोगों में भी आजकल कुछ ऐसी ही प्रवृति है सोचने की, खाल की पखाल में दोष देखते हैं किन्तु अपने दोष नहीं देखते और अपनी कमजोरियां और बुराइयां दूर करने के प्रयत्न नहीं करते। सबसे पहले हमारे भीतर जो गंदगी भरी है हमें उसे बाहर निकाल कर अपने अन्तर को स्वच्छ और शुद्ध बनाना चाहिये। उसके बाद ही हमें अपने बाहरी रूप को निखारना चाहिए। (१) विद्यार्थियों के लिए तो यह परम आवश्यक है

---

(१) मन मैला तन उजरा, धर बगुला का वेष।
या ते तो कौआ भला, भीतर बाहर एक॥

क्योंकि आज आप विद्यार्थी हैं तो क्या, कल तो आपको बड़े-बड़े उत्तरदायित्वों को वहन करने वाले उच्च-अधिकारी, या प्रशासक या प्राध्यापक बनना है इसलिये यदि आप अपने मन और मस्तिष्क को अच्छे और ऊंचे विचारों से परिपूर्ण रखेंगे तो जब आप बड़े हो जायेंगे, उच्च पदों पर होंगे तो आप देश की अच्छे और उचित रूप से सेवा कर सकेंगे ।

यद्यपि बहुत से विद्यार्थी यहां गत २० दिनों से अधिक समय से पाठ्यक्रमों में भाग ले रहे हैं, महत्वपूर्ण विषयों पर अनुभवी विद्वानों के भाषण सुन रहे हैं, किन्तु फिर भी कुछ विद्यार्थी ऐसे हैं जो अपनी पुरानी बुरी आदतों को अभी तक नहीं छोड़ पाये हैं, यह बड़ी दयनीय स्थिति है। यह आपके भविष्य के लिए बहुत ही शुभ होगा यदि आप यहां से जाने से पूर्व ही उन सब बुरी आदतों, स्वभाव के दोषों को छोड़ दें जो आप में यहां आने से पूर्व थे। यहाँ प्रातः, दोपहर और सायं भगवान का नाम आपकी जिह्वा पर नर्तन करता रहता है। वही जिह्वा जो इस प्रकार भगवान के नाम का स्मरण करते हुए पावन और मधुर बनती है यदि सायंकाल सिगरेट की आग, धुआं और गंध से दूषित कर लेते हैं तो जितना भी अच्छा प्रभाव होता है वह नगण्य हो जाता है, मिट जाता है। इसलिये आपको सिगरेट पीने की बुरी आदत को छोड़ देना चाहिए; यह आदत आपको किसी प्रकार का सुख या आनन्द नहीं दे सकती। इसके विपरीत इससे फेंफड़े खराब होते हैं, आपका स्वास्थ्य खराब होता है और डाक्टर तो यहां तक कहते हैं कि इसके कारण कैंसर तक हो सकता है। सिगरेट पीने से विद्यार्थियों के होठ झुलस से जाते हैं और काले पड़ जाते हैं। आप लोगों को यह बुरी आदत क्यों बनाई रखनी चाहिए जो आपके लिए किसी भी प्रकार हितकर नहीं है। मैं आशा करता हूं और आप को आशीर्वाद देता हूं कि आज इसी समय जब कि यहां बैठे हुए हैं यह प्रतिज्ञा करें कि आप अब धूम्र-पान नहीं करेंगे। कल या परसों पर इस प्रतिज्ञा पालन को न छोड़ो। भविष्य का कोई भरोसा नहीं और भूत को जो बीत गया, फिर से नहीं बुलाया जा सकता तथा वर्तमान भी स्थायी नहीं है इसलिये जो व्रत लें, प्रतीज्ञा करें उसे उसी समय पूरा करने का पूर्णनिष्ठा और लगन के साथ प्रयत्न करें। मैं आज का अपना भाषण आपको एक उदाहरण देकर समाप्त करता हूं। कई शताब्दियों पुरानी एक कार है और उसे कारखाने में ले जाया जाता हैं। वहाँ ले जाने के लिये आपको कार को पीछे से धक्का देना पड़ता है या आप उसे किसी कार के पीछे बांधकर खीचते हैं और जैसे तैसे कारखाने में पहुंचाते हैं। कारखाने में उस पुरानी कार के सारे पुराने

खराब पुर्जे निकाल लेते हैं और उनके स्थान पर नये अच्छे पुर्जे लगा देते हैं और आवश्यक मरम्मत करके उसको अच्छी दशा में चालू कर दिया जाता है और आप उसको चलाकर अपने घर ले आते हैं।

आप लोगों के मन उस पुरानी कार के समान हैं यह ग्रीष्म कालीन पाठ्यक्रम स्कूल कारखाने के समान है। यदि पुराने बेकार पुर्जे निकाल कर नये चालू पुर्जे लगा दिये तो, पुराने दुषित संस्कारों के स्थान पर आप नये संस्कार और गुण धारण कर लें तो कार के समान आपकी दशा सुधर जायेगी और आपकी इस सुधरी दशा को देखकर आपके माता-पिता बहुत प्रसन्न होगे। यदि आप जिस पुरानी दशा में आये थे उसी दशा में लौटकर घर जायेंगे तो आपके यहां आने का कोई लाभ नहीं रहा। यदि आपके घर लौटने पर आपके मित्र, सम्बन्धी और माता-पिता यह अनुभव करें कि आप कारखाने से निकली सुधरी हुई कार के समान नये उपयोगी रूप में नया व्यक्तित्व लेकर पहुंचे हैं तो वे खुश होंगे कि हम भी प्रसन्न होंगे कि हमारे प्रयत्न व्यर्थ नही हुए बल्कि पूर्ण सफल रहे। मुझे आशा है कि आप लोग अपनी सारी कमियों और कमजोरियों को दूर कर अपने मन और हृदय को उच्च विचारों से पूर्ण कर लेंगे और अपना समय तदनुकूल अच्छे आचरण के साथ वितायेंगे।

———

१६

क्रोध ही प्रबलतम् शत्रु है

जो अपनी इन्द्रियों पर, चित्त की वृत्तियों पर पूर्ण नियंत्रण कर सकने में सफल होता है वह ही मोक्ष प्राप्त कर सकने की स्थिति में पहुंचता है। एक प्रसिद्ध दार्शनिक कवि ने कहा है जो क्रोध को पचा सकता है वह योगी है, जो अहंकार को पचा सकता है वह उससे बड़ा योगी है और जो मोह को पचा जाता है वह उससे भी बड़ा, सर्वोच्च योगी है। कवि ने क्रोध को कुत्ते के समान, अहंकार को सुअर के समान और मोह को हाथी के समान भी बताया। जो क्रोध, अहंकार और मोह पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है वह ही सच्चा और पूर्ण योगी होता है। भारत में ही नहीं बल्कि संसार के अन्य भागों में भी लोग योग के सम्बन्ध में जानने और उसका अभ्यास करने के लिये बड़े उत्सुक हैं। योग की अनेकों शाखायें हैं किन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण है पातञ्जली योग। पातञ्जली ने योग के लिये कहा है, "योगाश्रित वृत्ति निरोध: "चित की वृत्तियों के निरोध की अवस्था का नाम योग है (या इस अवस्था के लाने के उपाय को योग कहते हैं)। इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त किये बिना जीवन के किसी भी क्षेत्र में या किसी भी प्रयत्न में सफलता और सुख नहीं प्राप्त किया जा सकता। यदि मन और उसकी वृत्तियों को अनियंत्रित छोड़ दिया जाये, जंगल के पशुओं के समान, तो उसके परिणाम स्वरूप सुख के स्थान पर दुख ही मिलेगा, संतोष के स्थान पर असंतोष ही प्राप्त होगा। किन्तु भारतीय जन आजकल इन्द्रिय निग्रह की ओर उपयुक्त रूप से ध्यान नहीं दे रहे हैं। कुछ लोग तो यह सोचते हैं कि यदि इन्द्रियों पर नियंत्रण रखा जायेगा तो फिर इन्द्रियों के माध्यम से जो सुख की प्राप्ति और इच्छाओं की तृप्ति होती है वह नहीं होगी और जीवन की सार्थकता ही समाप्त हो जायेगी। यह मिथ्या विचार है। इन्द्रियों पर नियंत्रण का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि सब इन्द्रियों से कोई काम ही न किया जाये बल्कि उसका अर्थ है उनकी गति-विधियों को अनियंत्रित और अव्यवस्थित न रहने दिया जाये बल्कि उपयुक्त मार्ग

और दिशा में उनका निर्देशन और नियमन हो। इसके द्वारा मन के वास्तविक आनन्द का अनुभव कर सकेंगे, सच्चे और स्थायी आत्मिक आन्नद को पा सकेंगे।

क्रोध, अहंकार तथा अन्य विकार एवं विलासपूर्ण वृत्तियां मनुष्य को पागल बना देती हैं और कभी-कभी तो मनुष्य इनके कारण निरा पशु ही बन जाता है। तो इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि मनुष्य अपने अन्तर में सुसुप्तावस्था में पड़े विज्ञान, प्रज्ञान और सुज्ञान को जानें और जागृत करें तथा उन्हें उपयुक्त मार्ग पर निर्देशित कर परमानन्द की सर्वोच्च स्थिति पर पहुंचे। सारी विषम स्थितियों, कष्ट—संकटों, अव्यवस्थाओं और अशान्ति का कारण आवेगों और वृत्तियों पर नियंत्रण का नहीं होना है। यदि चित्त की वृत्तियों को निरंकुश और अनियंत्रित छोड़ देंगे तो उपयुक्त रूप से विवेक का उपयोग नहीं कर सकेंगे, शीतलता शान्ति और युक्तिपूर्ण ढंग से विचार नहीं कर पायेंगे। इस प्रकार अनेकों बार अनुचित कार्य हो जाते हैं। क्रोध तो मनुष्य को अंधा बना देने वाले नशे के समान है और मनुष्य को गलत काम करने के लिये प्रेरित करता है। क्रोध महा राक्षस के समान है जो पापों की प्रेरणा देता है। आप यह जानते हैं कि केवल क्रोध के कारण ही विश्वामित्र की अनेकों वर्षों की तपस्या क्षण भर में नष्ट हो जाती थी।

हमें विश्वामित्र तक जाने की क्या आवश्यकता है हम अपने जीवन में देखते हैं कि जब हम क्रोधित हो जाते हैं तो सारी नाड़ियां क्षीण पड़ जाती हैं और हमारा अपने आप पर नियंत्रण नहीं रहता। एक क्षण भर का क्रोध उस सारी संचित शक्ति को सुखा देता है जो एक व्यक्ति तीन माह में अच्छा भोजन करते हुये अपने शरीर में एकत्रित करता है। क्रोध न केवल हमें निर्बल बनाता है बल्कि हमारे सुकृत्यों को सुफलों को भी नष्ट कर देता है तथा हमारी दशा खराब कर देता है। यदि हम क्रोध को नियंत्रित कर सकने में सफल हो जायें तो फिर भगवान के नाम स्मरण के द्वारा ही योग्यता अर्जित कर सकते हैं। वशिष्ठ को ब्रह्म-ऋषि पद प्राप्त था और विश्वामित्र यही पद प्राप्त करना चाहते थे किन्तु अनेकों वर्षों की तपस्या के उपरान्त भी वह इस पद को प्राप्त करने में सफल नहीं हुये। संसार तो विश्वामित्र को ब्रह्म-ऋषि की उपाधि से सम्मानित करने के लिए तैयार था किन्तु वशिष्ठ इसके लिये सहमत नहीं हुये। विश्वामित्र का क्रोध भड़क उठा। उन्होंने यहां तक सोच डाला कि क्यों न वशिष्ठ को संसार से ही विलग कर दिया जाये, फिर सारा संसार तो उन्हें ब्रह्मा ऋषि मानने के लिये तैयार है ही। एक चांदनी रात में वशिष्ठ अपने शिष्यों को विश्वामित्र के गुणों को समझा रहे थे। विश्वामित्र उस रात वशिष्ठ का वध

करने के लिये उसकी कुटिया के पीछे हाथ में तलवार लिये छिपे बैठे हुये थे। विश्वामित्र छिपे हुये वशिष्ठ के मुख से अपनी प्रशंसा सुनते रहे। वशिष्ठ को विश्वामित्र के वहां छिपे होने का बिल्कुल पता नहीं था इसलिये वह अपने सहज स्वभाविक रूप में विश्वामित्र की विशेषताओं का वर्णन करते रहे तथा उन्होंने विश्वामित्र की तपस्या की, चन्द्र की चांदनी से तुलना की। इसको सुनकर विश्वामित्र में अचानक स्वत: ही एक परिवर्तन आया। वह वशिष्ठ के वध करने के अपने निर्णय पर पश्चाताप करने लगे कि कितने महान व्यक्ति का जो इतना दयालु और निष्पक्ष है, वह अन्त करने का महापाप करने जा रहे थे। अपने सम्बन्ध में सोचने लगे की कितना नीच हूं मैं कि ऐसा कुत्सित विचार मेरे मन में आया। विश्वामित्र ने तत्काल सोचा कि अपना अपराध स्वीकार करते हुए मुझे वशिष्ठ से क्षमा याचना करनी चाहिए। जब विश्वामित्र ने वशिष्ठ से क्षमा मांगी और हार्दिक पश्चाताप किया तो वशिष्ठ मुस्कुराते हुए बोले, "कहिये ब्रह्म-ऋषि आप कहां से पधारे।" वशिष्ट के मुख से अपने सम्बन्ध में यह सम्बोधन सुनकर विश्वामित्र विस्मित रह गये और उन्हें बहुत ही हार्दिक पश्चाताप हुआ। वशिष्ठ कहने लगे, "आज आप निश्चित रूप से ब्रह्म-ऋषि पद और उपाधि के सर्वथा योग्य हैं क्योंकि आप में वह अहंकार और क्रोध नहीं रहा, आप मेरे चरणों में नत मस्तक हुये, हृदय से पश्चाताप कर रहे हैं।"

हमें सत्य को पहचानना चाहिए। जब तक हमारे हृदयों में क्रोध और अहंकार है अपने जीवन में अच्छी तरह से रह ही नहीं सकते हैं। सदा मानसिक रूप से दुखी और बीमार रहेंगे। क्रोध ही व्यक्ति का प्रबलतम् शत्रु है तथा शान्ति ही व्यक्ति की सबसे बड़ी संरक्षिका है। व्यक्ति का सुख ही उसका स्वर्ग होता है और दुख ही नर्क। जो क्रोधी होगा लोग उससे घृणा करेंगे क्योंकि क्रोध के वशीभूत वह अनेकों ऐसे कार्य कर देगा जो नहीं किये जाने चाहिये, जिन्हें लोग बहुत बुरा समझते हैं। क्रोध ही पापों की जड़ है। इसलिये सबसे पहले क्रोध पर नियन्त्रण करना चाहिए। कभी-कभी क्रोध के साथ अहंकार की भावना भी प्रवेश कर जाती है। धन का अभिमान व्यक्ति के पतन का कारण बनता है। धन के अभिमान के कारण व्यक्ति का अपने सगे-सम्बन्धियों और रिश्तेदारों के बीच भी बहुत अन्तर आ जाता है। इस अभिमान और क्रोध के कारण लोगों को सर्वस्व गंवाना पड़ता है और उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। यदि हम परम सत्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं, देवत्व को प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें क्रोध पर निश्चित रूप से पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करना होगा। क्रोध दुर्बलता के कारण होता है, शारीरिक नहीं बल्कि मानसिक दुर्बलता के कारण होता है, इस मानसिक दुर्बलता को दूर करने और मानसिक शक्ति

प्राप्त करने का उपाय है अपने मन को सद्कार्यों में लगाओ, शुभ विचारों, शुभ भावनाओं उच्च आदर्शों की ओर मन को लगाये रखो और उनसे ही मन को परिपूर्ण रखो। चिता तो मृतक देह को जलाती है किन्तु क्रोधाग्नि और चिन्ता मनुष्य को जीवित ही भस्म कर देती हैं। (चिता दहन निर्जीव को चिन्ता जीव समेत) यदि कोई अहंकार, क्रोध और मोह के वशीभूत हो गया तो समझ लो वह जीवित ही मृत के समान है। जिस स्थिति में पहुंचकर मनुष्य इन तीनों पर पूर्ण नियंत्रण कर लेता है वह स्थिति यज्ञ कहलाती है। स्थिति यज्ञ वह होता है जिसका मन दुखों की प्राप्ति में उद्वेग रहित रहता है, सुखों की प्राप्ति के लिए जिसकी कोई इच्छा नहीं होती, जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गए हों (दुःखेष्वनुद्विग्नमताः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभय क्रोधः स्थितधीर्यमुनिक च्यते ।।)। आप शायद यह सोचते हैं कि इन्द्रियों पर, मन की वृत्तियों पर पूर्ण नियंत्रण पा सकना सरल नहीं है। नियंत्रण पाना सरल न भी हो तो भी उनका दिशा परिवर्तन तो किया ही जा सकता है और उन्हें ईश्वराभिमुख किया जा सकता है। इस प्रकार आत्म नियंत्रण का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण गोपियाँ हैं। अपनी सभी इन्द्रियों की शक्तियों को परमात्मा की ओर लगा देने से इन्द्रियों की सारी अपवित्रतायें इस प्रक्रिया से दूर हो जाती हैं। इसके लिए पहला कदम है समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम पैदा करना। इससे आपको अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण करने और इन्हें प्रेम से श्रेय मार्ग पर लगाने तथा ईश्वराभिमुख करने में बड़ी सहायता मिलती है। यह प्रक्रिया आपको अभी से अपनानी होगी अन्यथा फिर आदतें पड़ जाने पर उनको बदलना बड़ा कठिन हो जाता है।

एक तालाब में तीन मछलियां हैं। एक मछली ने दूसरी मछली से कहा, "इस तालाब का पानी दिन प्रतिदिन सूखता चला जायेगा और एक समय आयेगा जब तालाब बिल्कुल सूख जायेगा। इसलिये यह आवश्यक है कि इसके पूर्व कोई मछुआ आकर हमें पकड़ ले जाये, हम किसी दूसरे तालाब में पहुंच जायें जहां सदा पानी आता रहता हो।" दूसरी मछली ने कहा, "तुम कोरी कल्पना कर रही हो। तुम्हारे मन में मिथ्या भय भरा है। कहीं तालाब थोड़े ही सूख जायेगा। कोई मछुवा आकर नहीं पकड़ने वाला है। अपनी मस्ती के साथ यहीं रहो।" तीसरी मछली ने भी यही कहा। पहली मछली ने जब दोनों मछलियों की बात सुनी तो वह बड़ी निराश हुई और विवश होकर उसने भी अपना भाग्य उनके साथ ही जोड़ दिया जैसा कि होना था वही हुआ। एक दिन मछुआ आया और उन्हें पकड़ कर ले गया और पकाकर खा गया। हमारे जीवन की तुलना पानी के तालाब से की जा सकती है और जीवन की अवधि की पानी से। उसमें तीन मछलियां हैं तम, रज और सत तीन गुण। सात्विक वृत्ति

सदा सत्य के मार्ग को अपनाती है और उसका लक्ष्य होता है सत्य सनातन और स्थायी के साथ सम्बन्ध रखना। इसके पूर्व की पानी का स्तर कम हो वह अपनी और अपने साथियों की रक्षा की चिन्ता करती है। इस प्रकार उसके विचार सदा उत्तम होते हैं। पानी की तुलना जीवन की अवधि से की गई है जो दिन प्रतिदिन जल के स्तर के समान घटती जाती है और किसी भी समय मृत्यु उस पर अपना अधिकार कर सकती है। मछुआ मृत्यु का ही प्रतीक है। रज और तम, सत्व के विरोधी हैं और सबल हैं इसलिए सत्व का भी प्रतिकार कर देते हैं। ये तम और रज ही हमारी वृत्तियों को विचलित करते रहते है और उन्हें गलत मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं। इसलिए इन्द्रियों पर नियन्त्रण पाने के लिए तम और रज पर नियन्त्रण पाना चाहिए, उन पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए। यदि हम अच्छे तरीके अपनायेंगे, अच्छे मार्ग पर चलेंगे तो सत्य के निकट सहयोग से रज और तम पर नियन्त्रण पा सकेंगे। हमें यह विश्वास करके चलना चाहिए कि पवित्र और स्थायी प्रेम प्रत्येक हृदय में होता है जहां परमातमा का वास होता है। हमें यह विश्वास रखना चाहिए कि परमात्मा हृदय निवासी है। इसलिए आपको हृदय से निकलने वाली शिक्षाओं को ग्रहण करना चाहिए सत्य के मार्ग का अनुपालन करना चाहिए जिससे कि उन शिक्षाओं का पालन कर सकें। माता, पिता, भाई, बहिन और मित्र आपको थोड़ा बहुत धन दे सकते हैं किन्तु वास्तविक प्रेम का अनन्त खजाना तो केवल भगवान ही दे सकते हैं।

आप इस समय युवावस्था में हैं और आपको अपने जीवन में रात दिन नये-नये अनुभव होते रहेंगे। एक छोटी सी कहानी है। एक नवयुवक का विवाह प्रातः ९-०० बजे सम्पन्न हुआ। शाम को नवविवाहित पति-पत्नी घूमने गए। युवक का ध्यान अपनी पत्नी के हित-चिन्तन में लगा हुआ था। वे दोनों साथ-साथ चले जा रहे थे। उसने मार्ग में एक कांटा पड़ा देखा। वह नहीं चाहता था कि उसकी पत्नी को उसे पार करना पड़े कहीं चुभ न जाए, इसलिए उसने अपनी पत्नी को उस कांटे के निकट पहुंचते ही अपने हाथ से पकड़कर एक ओर खींच लिया और वह उससे बच कर निकल गयी। छः माह बाद जब वे एक दिन घूमने जा रहे थे, उनके मार्ग में एक कांटा फिर आया किन्तु इस बार उस युवक ने अपनी पत्नी से इतना सा कह भर दिया, "देखो सामने काँटा है, जरा सम्भल कर चलना।" वह जितना पहले दिन उत्साहित, उत्सुक और तत्पर था, छः महीने बाद नहीं था। एक बार फिर कोई एक साल बाद की बात है जब वे दोनों जा रहे थे, उनके मार्ग में एक कांटा पड़ा हुआ था उसकी पत्नी को उस कांटे का कोई ध्यान नहीं था और वह आगे बढी जा रही थी। इस बार उसके पति ने कहा, "अरे देखती नहीं हो सामने कांटा पड़ा है,

क्या अंधी हो गयी हो ?" अब आप देखिए एक वर्ष के समय में ही कितना अंतर आ गया दोनों के पारस्परिक व्यवहार में। इस परिवर्तन का कारण है इन्द्रियों का क्षीण होना। कभी-कभी हम अपनी वृत्तियों को सात्विक मार्ग पर चलाते हैं तो कभी राजसिक और कभी तामसिक मार्ग पर, इसके कारण ही संरेखण बिगड़ता है, सब कुछ उलट-पलट हो जाता है। यदि हम अपनी सात्विक वृत्तियों का विकास करते चले जायें तो राजसिक और तामसिक वृत्तियां स्वतः ही नियन्त्रण में आ जाती हैं।

यदि आपको किसी पर क्रोध आता है तो आप उस व्यक्ति की अच्छाईयों और सद्‌गुणों के सम्बन्ध में सोचना शुरू कर दें। आपका क्रोध धीरे-धीरे शान्त हो जायेगा। यदि दूसरे व्यक्ति की कमजोरियों और दोषों के सम्बन्ध में ही सोचते रहेंगे, तो क्रोध बड़ी तेजी के साथ बढ़ता जायेगा। यदि किसी के रूढ़गुणों और अच्छी विशेषताओं के सम्बन्ध में ही सोचते रहेंगे तो फिर उसके विरुद्ध क्रोध के लिये कोई स्थान नहीं रहेगा। पूर्वजों ने हमें अपनी वृत्तियों पर नियन्त्रण करने के लिए योग और ध्यान के मार्ग बताये हैं। प्राचीन काल में तो ऋषि और मुनिजन नगर और गाँव छोड़कर वनों में कुटिया और आश्रम बनाकर एकान्त वास में रहते थे जिससे कि क्रोध, अहंकार, घृणा, मोह आदि पर पूर्ण नियन्त्रण कर उन पर विजय प्राप्त कर सकें। किन्तु आज क्रोध और घृणा पर विजय प्राप्त करने के लिए वनवास करने की आवश्यकता नहीं हैं। शून्य या रिक्तता की अवस्थायें सद्‌गुणों का, सदाचरण का पालन नहीं हो सकता। जब क्रोध को उत्तेजित करने वाले वातावरण में रहकर भी जब क्रोध पर नियन्त्रण पाने में सफल होते हैं, तो वह एक प्रशंसनीय सफलता है। किन्तु जंगल में रहे जहां इस प्रकार का वातावरण ही नहीं हो तो क्रोध पर नियन्त्रण इतना सार्थक नहीं होगा। इसलिए सांसारिक वातावरण के बीच रहते हुए भी जहां क्रोध और घृणा की भावनाओं के बढ़ने की सम्भावनायें रहती हैं, आपको उन पर नियन्त्रण करने का अभ्यास करना चाहिए और सफलता प्राप्त करनी चाहिए। उस सफलता की प्राप्ति ही प्रशंसनीय उपलब्धि होगी।

ऋषिगण अपनी समस्त इन्द्रियों तथा उनके आवेगों पर नियंत्रण और विजय प्राप्त करने के लिए यज्ञ और यात्रा किया करते थे। यज्ञ का वास्तविक अर्थ होता है समस्त बुरी वृतियों पर विजय प्राप्त करना उनको त्याग और बलिदान की अग्नि में भस्म कर देना। इसे ही भूत-बलि कहते हैं। कुछ लोग भूत बलि के अर्थ लगाते हैं पशु बलि देने से जो सही नहीं है। इस प्रकार के अर्थ लगाने के कारण ही कुप्रथायें चल पड़ी हैं। बलि का अर्थ होता है शुल्क (टैक्स) या कर। आजकल हम अपनी सम्पत्ति पर, मकान पर, आय पर, उत्पादन आदि पर अनेको कर देते हैं। किन्तु

प्राचीन काल में कर लगाने का उद्देश्य आजकल के कर लगाने के उद्देश्य से भिन्न होता था। आजकल तो कर एकत्रित करके सत्ताधारी व्यक्तियों द्वारा उनका दुरूपयोग किया जाता है जबकि प्राचीन काल में ऐसा नहीं होता था और उनका उपयोग लोगों को सुख सुविधायें प्रदान करने और उनके जीवन को विकसित करने में लगाया जाता था। जहाँ जल की व्यवस्था नहीं होती थी वहां जल की व्यवस्था की जाती थी। जहाँ सड़के नहीं होती थीं सड़के बनायी जाती थी। अपनी सारी कुवृत्तियों की जब परमात्मा के नाम पर बलि चढ़ा देते हैं तो फिर उनका आशीर्वाद प्राप्त होता है और उनकी कृपा से वह प्राप्त होता जो मनुष्य की शक्ति के परे है किन्तु जिसकी उसे इस संसार में नितान्त और अनिवार्य रूप से आवश्यकता होती है।

हम भगवान को अनेकों वस्तुएं समर्पित करते हैं क्योंकि उसके द्वारा हमें आनन्द प्राप्त होता है। हम भगवान पर पुष्प चढ़ाते हैं, इसलिये नहीं कि भगवान के पास पुष्प नहीं होते, बल्कि उसके द्वारा हमें प्रसन्नता होती है। अनेकों विद्यार्थी कहते हैं, "यदि हम पास हो जायेंगे तो हे भगवान ! आपके चरणों में पांच नारियल चढ़ायेंगे।" क्या इसका यह अर्थ होता है कि भगवान के पास नारियलों का अभाव है उन्हें नारियल नहीं मिलते ? जितने भी पदार्थ हम देव को समर्पित करते हैं, भगवान के अर्पण करते हैं, चाहे वे पत्र, पुष्प, फल तथा अन्य कुछ भी पदार्थ हों सब प्रतीकात्म हैं। हमारा शरीर पत्र है, इसलिये जब पत्र समर्पित करते हैं तो वह हमारे शरीर के समर्पण का प्रतीक होता है क्योंकि यह शरीर तीनों गुणों से पूर्ण होता है इसलिये बिल्व पत्र की तीन पत्तियां चढ़ाते हैं। पुष्प हृदय पुष्प का प्रतीक है। इस लिये पुष्प चढ़ाकर हम अपने हृदय का भगवान को समर्पण करते हैं। फल मन का प्रतीक होता है। इसका अभिप्राय होता है कि हमें कर्म फल की कामना को त्याग कर करने चाहिये। इस भावना के साथ फल भगवान को चढ़ा कर हम जब कर्म करते हैं तो वे सब पवित्र हो जाते हैं क्योंकि वे सब भगवान के निमित्त होते हैं और उनको पवित्र और पावन बनाये रखना हमारा प्रथम दृष्टिकोण बन जाता है जो जल चढ़ाते हैं उसका अर्थ केवल जल या कुएं से प्राप्त जल से नहीं है बल्कि वह है हमारे आनन्द के अश्रुओं का प्रतीक जो प्रभु की करुणा और कृपा के प्रति अपनी हृदय की कृतज्ञता व्यक्त करने के लिये प्रवाहित होते हैं। इसलिये बगीचे के वृक्ष और लताओं से एकत्रित पत्र, पुष्प और फल, नल, तालाब या कूएं से प्राप्त जल को भगवान के समर्पित मत करो बल्कि उनको चढ़ाओ अपने पावन पवित्र शरीर के पत्र, पुष्प, जल और फल जो प्रभु को प्रिय हैं। ऐसा समर्पण करने पर ही आप भगवद् अनुग्रह प्राप्त करने के अधिकारी बन सकते हैं।

नारियल को 'नरिकेला' भी कहते हैं। प्रत्येक भारतीय को यह भली प्रकार समझ लेना चाहिये कि भगवान को नारियल चढ़ाने के पीछे क्या आन्तरिक भाव है। हम नारियल को जैसा वह होता है उसी रूप में नहीं चढ़ाते। हम पहले नारियल की जटा को हटा देते हैं और जो वास्तव में फल होता है उसे समर्पित करते हैं। तभी नारियल तोड़ सकना सम्भव होता है। नारियल को तोड़ने पर उसके भीतर का पानी बाहर बह जाता है। हृदय ही नारियल है और इच्छायें ही वे जटायें हैं जो उसको पूरी तरह ढके रहती हैं। जो जल नारियल के फल से निकलता है वह संस्कार या शुद्धिकरण का जल है। भगवान को हमें इच्छाओं के जटा जूट से रहित, निर्मल और शुद्ध हृदय का श्रद्धा के साथ समर्पण करना चाहिए जिस प्रकार कि हम नारियल समर्पित करते हैं। तभी समर्पण पूर्ण और सच्चा होता है। यदि हम जन्म, जरा और मृत्यु के चक्र से सदा के लिये मुक्ति चाहते हैं तो गिरी का भिन्न महत्व होगा। यदि हम नारियल को ज्यों का त्यों लगा दें तो कुछ समय में उसको पानी देते रहने पर दूसरा पौधा तैयार हो जायेगा। जब उसमें से अंकुर फूटता है तो उसके भीतर पानी होता है, गिरी खोल के चारों ओर चिपटी रहती है। यदि नारियल रखा जाय तो कुछ समय बाद पानी सूख जाता है और गिरी सिकुड़ती है और खोल को छोड़ देती है। यदि उस समय गिरी को बाहर निकाल कर उसे बोयें तो कुछ नहीं होगा। हमारा शरीर नारियल के खोल के समान है और जीवन गिरी के समान। हमारे संस्कार उस गिरी के भीतर का जल हैं। जब तक ये संस्कारों का जल अन्दर रहता हैं तब तक हृदय शारीरिक चेतना के साथ उसी प्रकार चिपका रहता है जिस प्रकार गिरी खोल के साथ। इन्द्रियों पर नियंत्रण ही वह स्वर्णिम मार्ग है जिसके द्वारा शारीरिक चेतना के साथ चिपकी रहने वाली कुवृतियों से छुटकारा पाया जा सकता है। जब मन में बुरे विचार आवें तो किसी शान्त, एकान्त, स्थान में बैठ जाओ और भगवान का ध्यान करो, आप प्रसन्नता प्राप्त करेंगे, बुरे विचारों के उद्वेग शान्त हो जायेंगे अनेकों महा पुरूषों और संतो ने इन्द्रिय निग्रह के अनेकों साधन बताये हैं। इन्द्रियों से उठने वाली समस्त इच्छाओं को और वृत्तियों को भगवान को समर्पित कर देना चाहिए। इस प्रकार कर्मों के फल का बन्धन नहीं होता, कोई पाप कर्म नहीं होता, कोई बुरा कर्म करने की वृति होती ही नहीं। जब आप कोई कार्य भगवान को अर्पित करने की भावना से करते हैं तो उसको शुद्धता और निर्मलता के साथ करते हैं इस लिये उसका बुरा प्रभाव होने या किसी प्रकार का कष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जो इस निर्मल भावना के साथ भगवान को पूर्ण समर्पण किया जाता है वह समस्त दुर्गुणों से रहित होता है।

चैतन्य महाप्रभु का मूल नाम गौराङ्ग था। जब वह बड़े हुए तो उन्होंने अपने सारे विचार और कार्य भगवान की ओर मोड़ दिये। हाथों में करताल बजाते और भगवान का नाम संकीर्तन करते हुए गोपियों में घूमते रहते थे। उन दिनों इस प्रकार के नाम संकीर्तन के विरोधी लोग भी थे। किन्तु चैतन्य इन विरोधों की बिल्कुल चिन्ता नहीं करते थे, उनको तनिक भी क्रोध नहीं आता था चाहे कोई कितना भी विरोध क्यों नहीं करता। यदि कोई उनके हाथों से करताल छीन लेता तो यही कहते कि प्रभु की ऐसी ही इच्छा है कि मैं बिना करताल बजाये कीर्तन करूं। जो कोई उनका कुछ अहित करता उसको भी वह भगवान की कृपा के स्वरूप में ग्रहण करते और प्रसन्न चित्त हरिनाम स्मरण करते रहते थे। यदि कोई इतनी गालियां देता कि उनका सुनना तक असह्य हो जाता तो कृष्ण नाम की ऐसी रट लगाते थे कि वह अपनी सुध-बुध खो बैठते थे और उन्हें अपने शरीर की चेतना नहीं रहतीं थी। कृष्ण नाम स्मरण से उनकी ऐसी दशा हो जाने के कारण ही उन्हें कृष्ण चैतन्य के नाम से पुकारा जाने लगा था। उन दिनों इस प्रकार का नाम दिया जाना ऐसा नहीं था जैसा कि आज की उपाधि वितरण के कोई योग्य हो या अयोग्य, भला हो या नहीं अपने प्रभाव और तिकड़म के बल पर उपाधि प्राप्त कर लेता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति सांसारिक उपाधि नाम और यश की कभी कामना नहीं करते, वे तो अपने को अमरता का पुत्र समझते हैं। अनैतिकता (Immorality) को मिटाना अमरता (Immortility) को प्राप्त करना है। अन्याय, अयोग्यता, असमानता को मिटाना अत्यन्त अनिवार्य है क्योंकि ये बड़ी दुर्बलतायें हैं। हमें शुद्ध प्रेम से परिपूर्ण हृदय के साथ अपने देश की सेवा के लिए तैयार रहना। जीवन के हर क्षेत्र में यदि आपका हृदय शुद्ध प्रेम से पूर्ण, आप में दया भाव और विनम्रता होगी, प्रत्येक कार्य जो आप करते हैं उसमें सेवा, त्याग और बलिदान की उच्च भावनायें होंगी तो आपको सफलता और यश प्राप्त होगा। भगवान के जिस रूप की भी आप पूजा करते हैं उसीको प्राणियों में देखें, प्रेम और सम्मान करें। इस प्रकार के सार्वभौमिक प्रेम के साथ आप को अपनी समस्त इन्द्रियों पर चित्त की वृत्तियों पर संयम और नियंत्रण करना चाहिए। आप चाहे वेदों और शास्त्रों का अध्ययन न करें, यज्ञ और याग न करें, किन्तु फिर भी अपने शुद्ध सात्विक प्रेम के द्वारा परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त कर सकते हैं।

प्रेम के पोषण के लिए सात्विक आहार-विहार अत्यन्त आवश्यक है। आजकल सात्विक आहार अर्थात् भोजन का अर्थ लगाते हैं दूध, दही, घी, फल आदि। यह सही नहीं है और आप को सात्विक भोजन के सही अर्थ समझना चाहिए। आप अपना

सात्विक भोजन द्वारा करते हैं। मुख मुख पांच इन्द्रियों में से एक है। सात्विक भोजन का अर्थ मुख से खाया जाने वाला भोजन ही नहीं है बल्कि शुद्ध वायु से भी है जो नासिका से लेते हैं, शुद्ध दृष्टि से भी है जो हम नेत्रों से देखते हैं, सात्विक वाणी और शब्दों से भी हैं जो हम कानों से सुनते हैं, सात्विक पदार्थों से भी है जिनका हम स्पर्श करते हैं। इस प्रकार पांचों इन्द्रियों से जो कुछ हम ग्रहण करते हैं वह सात्विक हो यह अर्थ सात्विक भोजन का है। यह नहीं कि मुख से सात्विक भोजन करें और कान अश्लील और तामसिक वृति को भड़कने वाले गाने सुनने को लालायित हो, आँखे इसी प्रकार के अश्लील दृश्य देखें। उस दशा में सात्विक भोजन का कोई अर्थ नहीं होगा। आवश्यक है कि पांचों इन्द्रियों से जो कुछ ग्रहण करें रस, रूप, शब्द, स्पर्श और गंध सब सात्विक हों। जब इस सीमा तक हम सजग रह कर सात्विकता अपनायेंगे तभी हमारी आदतें, आचार, व्यवहार और चरित्र सात्विक होगा, हम सात्विक कहला सकेंगे।

अपनी इच्छाओं के दास मत बनो। यदि आपकी किसी बात या वस्तु के लिए कोई इच्छा होती है तो पहले उसे विवेक बुद्धि से तोलो कि वह अच्छी है या बुरी। यदि वह अच्छी नहीं है तो उसे त्याग दो और यदि अच्छी है तब ही ग्रहण करो। मधुमेह का मरीज मीठे का बड़ा शौकीन होता है जब कि उसे मीठा नहीं खाना चाहिए और यदि फिर भी वह ऐसा करता है तो अपने रोग को बढ़ाने और उसके कारण होने वाले शारीरिक कष्टों के लिए वह स्वयं उत्तरदायी होता है। इसी प्रकार किसी काम को करना चाहिए या नहीं अपनी विवेक की तुला पर तोलो और यदि वह उचित और न्याय संगत हो तभी उसे करो अन्यथा आगे बढ़ जाओ। किन्तु आजकल का युवक तो बड़ा उतावला और अधीर हो जाता है। जैसे ही कोई विचार आया मन को स्वतंत्र ओर उच्छृंखल छोड़ देते हैं जो कि बहुत ही भयंकर बात है। यदि कोई बुरा विचार मन में आता है तो अपने मन की दिशा को बदल दो, उसे दूसरी ओर—विचार की विपरीत दिशा में ले जाओ, भगवान का ध्यान करो। हमारा तो पुनीत कर्तव्य है कि अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करें, उनका सही मार्ग पर विकास करें। आज हमारा भारत देश इसीलिये इतना कमजोर है क्योंकि लोगों में अपनी वृत्तियों पर नियंत्रण नहीं है, इस नियंत्रण के लिए हमारे पूर्वजों ने हमें जो निर्देश दिये हैं, जो मार्ग दिखाया है उसे हम भूल गये हैं और यदि कोई उसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है तो हम उसकी उपेक्षा और अवेहलना करते हैं।

हमें विविधता में एकता लानी चाहिए। एक तिनके से तो छोटी सी चींटी भी नहीं बांधी जा सकती, किन्तु हजार तिनकों को बटकर एक रस्सा बनाया जाये तो हाथी सा विशाल जानवर भी बांधा जा सकता है। इसलिए एकता के द्वारा बहुत कुछ प्राप्त किया जा सकना सम्भव है। इसलिए भारतवासियों को एकता स्थापित करनी चाहिए और उन्हें अपनी संस्कृति के महान मूल्यों और आदर्शों की रक्षा करनी चाहिए, न केवल अपने स्वयं के, और देश के हित में बल्कि सम्पूर्ण मानवता के हित में। क्योंकि भारतवर्ष एक ऐसा महान् देश है जिसने अनेकों शताब्दियों तक विश्व को आध्यात्मिक मार्ग दर्शन किया है आज भी सम्पूर्ण संसार इसकी ओर आशा भरी दृष्टि से देख रहा है। संसार की सारी महान् संस्कृतियों और धर्मों का किसी न किसी रूप में, किसी न किसी समय इस पवित्र देश से ही उदय हुआ था।

१७

भक्ति का मार्ग ही भगवान तक शीघ्रता से पहुँचाने वाला है

पर्दे पर जब आप चित्र देखते हैं और उन्हें सत्य समझने की भूल करते हैं तो उन्हें देखने में आपको बड़ा आनन्द आता है। पर्दे के पीछे जो कुछ है उस पर नजर टिकायें, यदि आप यह जानते हैं कि क्या वास्तविक है और क्या अवास्तविक, तो आपके सारे संदेहों का निवारण हो जायेगा। मूर्ख कौवा सड़े-गले माँस और गन्दे पदार्थों को खाने में रस लेता है इसलिए कर्कश और क्रूर होता है। तोता तथा कोयल फलों और फूलों के रस व माधुर्य का पान करते हैं इसलिये सदा आनन्द से प्रफुल्लित रहते हैं और उनकी वाणी भी मधुर होती है। इसी प्रकार मूर्ख लोग एहिक जीवन सम्बन्धी, सांसारिक वस्तुओं के पीछे दौड़ते हैं और अपनी शक्ति तथा समय को व्यर्थ गँवाते हैं। दूसरी ओर जिनके मन और मस्तिष्क शुद्ध और निर्मल हैं वे परमात्मा के दर्शन का अमृत रस पान करते हैं, उनका अमृत प्रेम छकते हैं और परमानन्द का अनुभव करते हैं। यह तो एक सामान्य सिद्धान्त है कि 'बिना कष्ट के कृष्ण नहीं मिलते' या 'बिना सेवा के मेवा नहीं मिलती' बिना कार्य किये फल प्राप्त नहीं हो सकता। इस सत्य को जीवन के हर क्षेत्र में देखा जा सकता है। बिना मूल्य दिये आप किसी पदार्थ के अधिकारी नहीं हो सकते। केवल अपनी मन की सनक के अनुसार रहना किसी प्रकार उपयुक्त नहीं है। शास्त्रों के निर्देशों के अनुसार ही वास्तविक जीवन है। शास्त्र ही जीवन के लक्ष्य की साधिकारिक रूप से घोषणा करते हैं। यदि आवश्यक नहीं है कि विभिन्न शास्त्रों का हम पूर्ण अध्यन करें ही जिससे कि जीवन का लक्ष्य और महत्व को पूरी तरह से समझ सकें। यदि आप अपने हृदय के अन्तरतम् से निकलने वाले सत्य के स्वाभाविक मूल प्रवाह को पा सकें तो वह ही पर्याप्त होगा, आप पूर्ण प्रशस्त मार्ग पर चल सकेंगे आपको मार्गदर्शन प्राप्त हो जायेगा। आजकल हम यह

विश्वास नहीं करते हैं कि शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है वह सत्य है। शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है उसकी अनेक रूपों में व्याख्या की जाती है, उनके अर्थों को अलग-अलग नाम दिये जाते हैं इसलिये कभी-कभी मतिभ्रम हो जाता है कि क्या सही है और क्या गलत जब किसी एक विषय पर अनेकों अनुभवी पंडितों और विद्वानों के भाषण सुनते हैं और उनमें भिन्नता पाते हैं तो उसमें सन्देह पैदा होने लगते हैं कि किसकी बात को गलत मानें और किसकी बात का पालन करें क्योंकि उनके सत्य और असत्य का निर्णय कर पाने में हम असमर्थ होते हैं। शास्त्रों के एक वाक्य के भी अनेक अर्थ निकल आते हैं जिनमें कभी-कभी विरोधाभास लगता है और इस प्रकार हम संकट में फँस जाते हैं कि क्या किया जाये।

आज एक उदाहरण के द्वारा यह समझने का प्रयत्न करते हैं कि मनुष्य परमात्मा की सेवा करता है या परमात्मा मनुष्य की। हम यह सोचते हैं कि मानव माधव की प्राप्ति के लिये अपनी प्रत्येक वस्तु उन्हें समर्पित करता है। इस मार्ग का पालन कोई कठिन नहीं है। माधव की प्राप्ति का कोई भी मार्ग पालन किये जाने में अति कठिन नहीं होता है। उदाहरण के लिये वैदिक ब्राह्मण गंगा का जल अपनी अंजलि में लेता है और गंगा को ही अर्पित कर देता है। वह कोई अपने द्वारा कमाई गयी सम्पत्ति या अपनी पैतृक सम्पत्ति को अर्पित नहीं करता है बल्कि गंगा का जल ही गंगा को अर्पित करता है। इसी प्रकार जब हम मनुष्य द्वारा परमात्मा को समर्पित पदार्थों को देखते हैं तो पाते हैं कि वे सब तो परमात्मा ने ही मनुष्य को प्रदान किये हैं, उन सब का आदि सृष्टा तो वह ही है। मनुष्य अपने हृदय में उठने वाले भक्ति भावों के, श्रद्धा के अतिरिक्त अपना कुछ नहीं देता, वह जो कुछ पदार्थ अर्पित करता है सब परमात्मा के दिये ही होते हैं। जो भक्त भगवान को अपना पूर्ण समर्पण कर देता है, अनन्य भाव से उनका चिन्तन करता है, सदा उनके चरणों में ध्यान लगाये रहता है, उनका योगक्षेम भगवान वाहन स्वयं करते हैं, उस भक्त को भगवान का पूर्ण संरक्षण प्राप्त हो जाता है। जो दैविक प्रेम के आनन्द में इतना मस्त रहता है कि अपने सारे सांसारिक दायित्वों को भी भुला बैठता है है उसके उन सब उत्तरदायित्व को भी भगवान स्वयं पूरा करते हैं, हमारे शास्त्र अनेकों महापुरुषों, ऋषियों, मुनियों, सन्तों और भक्तों की जीवन गाथायें हमारे सामने रखते हुये हमें अच्छी बातों की शिक्षा देते हैं। एक भक्त ने भगवान को सम्बोधित करते हुए कहा, "मैं कोई रखू बाई नहीं हूं जो आप को खम्भे से अपने स्थान पर बंधवा कर पिटवाऊं और घर का कामकाज करवाऊं। ना मैं रामदास हूं जो आपपर किये गए खर्च को आप से वापस मांगू। ना मैं जय गुरु देव हूं जो अपने टूटे घर की मरम्मत और उस पर छप्पर डालने के लिये आपकी मदद चाहूं।" हमारे देश के

इतिहास में अनेकों ऐसे उदाहरण हैं जिनसे प्रत्यक्ष होता है कि भगवान ने अपने भक्तों की रक्षा के लिये उनके स्थान पर स्वयं कष्ट उठाये हैं और उनके कार्यों और उत्तर-दायित्वों को पूरा किया है हमारे सभी शास्त्र एक साथ मिलकर यह उद्‌घोष करते हैं कि प्रेम ही एक मात्र अनिवार्य आवश्यकता है जिसके पूर्ण विकास के साथ निश्चल भक्ति प्राप्त होती है। जो उपलब्धि तर्क से, बलिदान से, त्याग से, तपस्या से, ज्ञान आदि से भी सम्भव नहीं होती वह प्रेम से प्राप्त हो सकती है। इसलिये हमें यह भलीभांति समझ लेना चाहिए, खूब अच्छी तरह से इसकी परीक्षा कर लेनी चाहिये कि हम अपने में प्रेम को उत्पन्न करें और उसका विकास करें।

शरीर, मन और इच्छाओं की प्रकृति और स्वभाव ईश्वर साक्षात्कार के लिये अनुकूल नहीं होता। हम सुनते हैं कि भगवान क्षीरसागर में शेष शय्या पर शयन करते हैं। हमारा अन्त:करण ही क्षीरसागर है। जो ध्यान के बाद शेष रहता है वह ही आदिशेष नाग है जिस पर भगवान की शय्या है। इन दोनों के बीच जो चेतना है वह ही भगवान विष्णु है। जो भगवान विष्णु की सेवा-पूजा करता है वह भक्त ही देवी लक्ष्मी के समान है। अनेकों विद्वानों और महापुरुषों ने हमें बताया कि हम अपने अन्त:करण के क्षीर सागर में अर्थात् हृदय में भगवान को कैसे शयन करवायें। साधक को लक्ष्मी के रूप में मानने के भी आन्तरिक अर्थ हैं। जब तक कि जड़ प्रकृति को बिल्कुल नहीं निकाल दिया जाता तब तक जीवी पुरुष नहीं कहला सकता। उस पुरुष तत्व को प्राप्त करने के लिये स्त्री तत्व की आवश्यकता होती है। हमें यह जानना चाहये कि यह जड़त्व क्या है। जड़त्व को समझने के लिए पांच आकाश भेदों को लें क्योंकि यह सब जड़ हैं। प्रथम 'घटाकाश अर्थात् वह आकाश जो हमें किसी घट या पात्र में दिखाई देता है, द्वितीय 'जलाकाश' अर्थात् वह जो जल में दिखाई देता है, तृतीय 'दहराकाश' जो हृदय में दिखाई देता है, चतुर्थ 'चिदाकाश' और पंचम 'मदाकाश' आप में से प्रत्येक का एक नाम है जो केवल शरीर से सम्बन्धित है न कि आत्मा से 'घटाकाश' वह स्थिति है जो कहती है "यह मैं हूं। यह मैं हूं।" मनुष्य अपने शरीर को मैं कहता है। जबकि उसके अन्तरमय है वह सर्वोच्च तत्व जिसे आत्मा कहते हैं। जब हम केवल शरीर तक ही सीमित रह कर उसको ही सर्वोच्च समझ लेते हैं तो भी हमारे अन्दर आत्मा के लिए भावना तो रहती ही है। 'जलाकाश' वह स्थिति है जिसमें पूर्ण संकल्प रहता है। एक छोटे से जलाशय में भी जब नीले आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उसमें चमकता हुआ चन्द्रमा भी होता है तो हमें यह भ्रम होता है, उस जलाशय में प्रतिबिम्ब से लगता है कि आकाश और चन्द्रमा चल रहे हैं या हिल रहे हैं। आकाश और चन्द्रमा न तो चलते हैं और न हिलते हैं

बल्कि हवा से तालाब का पानी हिलता है और उसके कारण हमें ऐसा लगता है। हमारे अन्दर के संकल्प और विकल्प ही जल हैं। 'दहराकाश' वह स्थिति है जब संकल्प और विकल्प को देखता रहता है और उसे यह भान रहता है कि वह ऐसा कर रहा है।

एक उदाहरण लें। एक टब में पानी डालते हैं और फिर देखते हैं। आपको अपना ही चेहरा दिखाई देता है और आप कहते हैं कि यह तो हमारी छाया या प्रतिबिम्ब है। छाया को कितना भी क्यों न मारे-पीटे किन्तु आपको याने शरीर को तनिक भी आघात नहीं लगेगा, कोई स्पर्श तक अनुभव नहीं होगा। यदि प्रतिबिम्ब और पदार्थ एक होते तो प्रतिबिम्ब पर किया गया आघात पदार्थ को भी अनुभव होना चाहिये। आपका चेहरा पानी में दिखाई पड़ता है किन्तु उस प्रतिबिम्ब का अच्छा या खराब होना आपको, पदार्थ को प्रभावित नहीं करता है। आप प्रश्न कर सकते हैं, "क्या यह मेरा प्रतिबिम्ब नहीं है?" हां यह आपका प्रतिबिम्ब होता है। जब उस प्रतिबिम्ब पर प्रहार किया जाता है और आप उससे अप्रभावित रहते हैं तो यह निश्चित हो जाता हैं कि आप प्रतिबिम्ब नहीं हैं। किन्तु जब आपसे अपशब्द कहे जाते हैं, गाली दी जाती है, तो आप और प्रतिबिम्ब एक हो जाते है और शब्द का प्रहार आपको आघात पहुंचाता है। इससे यह प्रकट होता है कि शब्द में वह शक्ति है जो एकता स्थापित कर सकती है शब्द के कारण ही प्रतिबिम्ब और पदार्थ में एकता स्थापित हो जाने के कारण आपके प्रतिबिम्ब को सम्बोधित अपशब्द आपको आघात पहुंचाता है। शब्द में एकता है, क्रिया में नहीं है क्योंकि शब्द में 'शब्द ब्रह्म तत्व' छिपा रहता है। इस प्रकार जलाकाश में दहराकाश का भाव भी पाते हैं। 'चिदाकाश' वह स्थिति है जिसमें मनुष्य केवल द्रष्टा बना रहता है। वह किसी भाव, विचार, आवेग, संवेग से अप्रभावित और अविचलित रहता है और सारी क्रियाकलापों तथा गतिविधियों को द्रष्टा बना देखता रहता है। शरीर को कुछ भी क्यों न हो-उसको कोई अपमानित करे या उसको चोट पहुंचाये, वह अप्रवाहित रहता है, वह तो उच्च चेतना में लीन रहता है, ऐसी स्थिति होती है चिदाकाश। घट टूटता है, जलाशय सूख जाता है, काल पर्दा-फट कर चीर-चीर हो जाता है, किन्तु आकाश बना रहता है। घट में दिखाई देने वाला आकाश, जलाशय में, पर्दे पर चित्रित आकाश केवल मूल आकाश को इंगित करने के माध्यम हैं किन्तु वे स्वयं महदाकाश नहीं हैं। यद्यपि वह हमारे शरीर में, मन में और इन्द्रियों में प्रतिबिम्बित होता है किन्तु यह तत्व ऐसा है जो इन सबसे परे हैं, इन्द्रियांतीत हैं। जब इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण पा लिया जाता है, चित्त की वृत्तियों का

पूर्ण निग्रह हो जाता है और 'निरविकल्प' स्थिति तक पहुंच सकते हैं, तभी आत्म साक्षात्कार की सर्वोच्च स्थिति में पहुंचते हैं। उस स्थिति में ही 'मध्याकाश' की प्रकृति का अनुभव किया जा सकता है। निरविकल्प का अर्थ है सम्पूर्ण इन्द्रियों की क्रियाओं का पूर्ण निग्रह और पूर्ण नियन्त्रण। फिर चेतना का शरीर या फिर उसके अंग में ह्रास नहीं होता बल्कि वह अपने पूर्ण और समग्र रूप से परम स्थिति को समर्पित होती है। (और अन्त में निरोध संस्कारों के क्रम की समाप्ति होने से चित्त भी अपने कारण में लीन हो जाता है, प्रकृति के संयोग का अभाव हो जाने पर द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है)। 'मध्याकाश' को भी आकाश कहते हैं क्योंकि उसमें जड़-तत्व रहता है।

कभी-कभी हम बादलों के एकत्रीकरण को ही आकाश कहते है, किन्तु आकाश का कोई अलग से अस्तित्व नहीं है। इसका कोई रूप नहीं है जो कि पंचभूतों से निर्मित हो। इसकी एक विशेषता या गुण है 'शब्द' जो सर्वत्र व्याप्त है। आकाश, अनेकों नामों से जाना जाता है जैसे आकाश, गगन, अन्तरिक्ष, शून्य आदि। आकाश, में कुछ नहीं होता इसलिये शून्य नाम से भी पुकारा जाता है। हम कभी-कभी अपने हृदय के सम्बन्ध में भी हृदयाकाश कहते हैं क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से हृदय का भी कोई रूप नहीं होता है। आकाश को संकल्पों और विकल्पों से रहित रखने की आवश्यकता है। जल में प्रतिबिम्बित आकाश, पर्दे पर चित्रित आकाश केवल समझने के लिए प्रारम्भिक चरण है, उनका कोई अन्य महत्व या अस्तित्व नहीं है।

जब किसी बालक को स्कूल में भर्ती करवाते हैं तो वह पढ़ाई में धीरे-धीरे प्रगति करता है। प्रारम्भिक बाल कक्षा—नर्सरी से पहली, दूसरी, तीसरी और इसी प्रकार की आगे की कक्षाओं में बढ़ता चला जाता है। वह नर्सरी से उछल कर एकदम उच्चतम् कक्षा में नहीं पहुंच जाता। जब स्कूल के क्रम को देखते हैं तो पाते हैं कि बालक एक साल के समय में एक कक्षा का पाठ्यक्रम पूरा करके और परीक्षा में पास हो कर अगली कक्षा में जाता है। यदि उस बालक को घर पर ही पढ़ाया जाता है, घर पर पढ़ाने के लिए एक अध्यापक रखा जाता है जो उस अकेले बालक पर अपना ध्यान केन्द्रित करके पढ़ाता है तो यह सम्भव हो सकता है कि कम समय में ऐसी अवस्था में पहुंच जाये कि स्कूल में उसे सीधे छठी कक्षा में भर्ती करवा दिया जाये। जब हमें भगवान का अनुग्रह और प्रेम प्राप्त हो जाता है तो यह सम्भव हो सकता है कि घटाकाश, जलाकाश आदि की स्थितियों में होकर निकलने की आवश्यकता

न पड़े और सीधे 'मध्याकाश' की उच्चतम् स्थिति में पहुंचा देने की वह हम पर कृपा कर दें। हमें उस मार्ग की खोज करनी चाहिए जो हमें इस प्रकार परमात्मा का प्रेम और अनुग्रह पाने और सीधे उन तक शीघ्रता के साथ पहुंचा देने में समर्थ हो।

विद्वान पंडित जन कहते हैं कि यह संसार माया है और केवल ब्रह्म सत्य है वे यह भी कहते हैं कि जीवन रस हीन है, सार हीन है और आमर्षण हीन है। जो विद्वान इस संसार को माया जाल बताते हैं वे स्वयं इसकी माया में फंसे हैं और इससे निकल नहीं पा रहे हैं। यद्यपि यह अनित्य, क्षणिक, मिथ्या और नष्ट होने वाली स्थिति है किन्तु फिर भी हमें इसको एकदम निरस्त करना, अपने आप को इससे तत्काल मुक्त कर लेना सम्भव नहीं होता है। हम यह जानते हैं कि इस शरीर का नाश होना निश्चित है, यह दुर्बलता, क्षीण और शक्ति हीन होता जाता है और अन्त में इसका पात होता है, मृत्यु होती है, किन्तु फिर भी इसकी रक्षा करना, इसका पोषण करना इसको सजाना-संवारना, रूप को निखारना अपना कर्तव्य समझते हैं यद्यपि कि हम यह जानते हैं कि मृत्यु निश्चित आती है, उसे टाला नहीं जा सकता, फिर भी हम सदा उससे बचने का प्रयत्न नहीं करते क्यों ? यद्यपि कि हम जानते हैं कि यह संसार मिथ्या है असत्य है किन्तु फिर भी हम सत्य क्या है, नित्य क्या है जानने का प्रयत्न करते हैं क्या ? हमें सावधानी के साथ देखना चाहिए कि इसमें सत्य क्या है। बाल्यावस्था में भी हम में वे सब छिपे हुए गुण मौजूद रहते हैं जो बूढ़ापे में प्रकट होते हैं। मूल रूप से कोई परिवर्तन नहीं होता केवल बाल्य में युवा, युवा में प्रौढ़,, प्रौढ़ से वृद्धावस्था की स्थितियों में पहुंचते रहते हैं और सभी स्थितियों में वही एक शरीर मौजूद रहता है। कोई भी इस बिन्दु या सीमा को निर्धारित कर स्पष्ट विभाजन नहीं कर सकता जब बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से प्रौढ़ावस्था आती है और अन्त में वृद्धावस्था आ जाती है। ये परिवर्तन एक ही शरीर में धीरे-धीरे होते रहते हैं। इन सब बातों पर हम जब गहराई के साथ विचार करते हैं तो हम वस्तुतः मिथ्या को सत्य में, सत्य को मिथ्या में, सत्य को सत्य में, मिथ्या को मिथ्या में पाते हैं। इस मिथ्या संसार में हम जो जीवन बिता रहे हैं वह भी मिथ्या है इसलिये यह जीवन जो हम बिता रहे हैं वह सत्य नहीं है। यदि संसार सत्य होता तो फिर जब रात को हम भोजन करने के पश्चात सोते हैं तो दिन में जो भाषण सुना था, अन्य कार्य किये थे उन सारे दिन भर के अनुभवों को हम क्यों भूल जाते हैं ? हमारे मन में कुछ भी नहीं रहता है। हम वास्तव में भूलते नहीं है केवल उस दिन भर के अनुभव से उस समय अचेत या बेखबर रहते हैं। आपका शरीर चाहे वृन्दावन के शैड में आराम कर रहा हो किन्तु रात में आपका मन दिल्ली की सड़कों पर घूमता है,

स्वप्न में आप अनुभव करते हैं कि आप सशरीर दिल्ली की सड़कों पर घूम रहे हैं। आप यहां रहते हुए भी दिल्ली में पहुंच जाते हैं। जो बात जागृत अवस्था में सत्य होती है वह स्वप्नावस्था में मिथ्या हो जाती है और जो बात स्वप्नावस्था में सत्य लगती है जागृत में मिथ्या हो जाती है। इसलिए यह मिथ्या में मिथ्या है। जब आप कोई चित्र देखते हैं तो आप एक चित्र में भी दूसरा चित्र देखते हैं जब पहला ही चित्र मिथ्या है तो फिर उसके भीतर वह दूसरा चित्र कैसा हो सकता है ? पर्दे पर हम देखते हैं कि चित्र में भी दर्शक एक और चित्र देख रहे हैं। पर्दे पर दिखाई देने वाले चेहरे और दृश्य तेजी के साथ घूमती हुई फिल्म पर पड़ने वाले प्रक्षेपित प्रकाश के कारण चलते फिरते दिखाई देते हैं। संसार में जो भी चेहरे, रूप, आकार और दृश्य ये 'चिदाकाश' का ही प्रक्षेपण है। प्रकाश से ही चलते फिरते चेहरे और रूप स्थायी पर्दे पर दिखाई देते हैं। पर्दे पर वास्तव में न तो कुछ वास्तव में है ही और न ही कुछ घटता है। वह तो सब छाया होती है, एक माया जाल जो हम पर्दे पर देखते हैं और उसका आनन्द लेते हैं।

आप प्रश्न कर सकते हैं कि वह प्रकाशवान चित्त शक्ति जिसे आत्मा कहते हैं कहां निवास करती है ? यह आत्मा ही उन अनेकों चलायमान चेहरों, रूपों तथा दृश्यों को पर्दे पर प्रक्षेपित करती हैं। जब हम अपनी आंखों को बन्द कर लेते हैं, हम किसी को नहीं देखते। जब हम आँखें खोलते हैं हमें असंख्य लोग दिखाई देते हैं ये सारे लोग आपके नेत्रों से उपजते हैं किन्तु वे बाहर से आपकी आंखों के अन्दर प्रवेश नहीं करते। जब हम इसे समझना चाहते हैं तो उत्तर मिलता है, हां, वे सत्य हैं। जब आंखें बन्द कर लेते हैं तब भी वे लोग तो रहते ही हैं। जब आंखे खोलते हैं तब जो सामने उपस्थित रहते हैं वे नेत्रों के द्वारा ही देखे जाते हैं किन्तु वे चमक कर नेत्रों के भीतर नहीं घुस जाते ? नेत्रों से होकर ज्योति प्रक्षेपित होती है और वह सामने के पदार्थ पर पड़ती है। पदार्थ नेत्रों को प्रकाशित नहीं करते हैं सूर्य सारे संसार को प्रकाशित करता है, न कि पदार्थ सूर्य को।

आन्तरिक दृष्टि को साधना से सहायता प्राप्त होती है या ऐसे उपायों से जो पर्याप्त सीमा तक बाहरी होते हैं। जब कोई बाधा या रुकावट नहीं होती, चारों ओर सूर्य का प्रकाश फैलता है, किन्तु जब हम मकान बनवाते हैं, दीवारें खड़ी करते हैं खिड़की दरवाजे लगवाते हैं। जब खिड़की और दरवाजों को बन्द कर लेते हैं तो कमरों में अन्धकार हो जाता है, उस मकान में प्रकाश नहीं रहता। जब हम चाहते हैं कि सूर्य की किरणें प्रवेश करें तो हमें दो में कोई एक कार्य करना चाहिए। हमें

छत को हटा देनी चाहिए या हमें 'देह भ्रांति' त्याग देनी चाहिए। यह छत 'अहंकार' और 'ममकार' की है। दूसरा विकल्प है एक शीशा लगा लिया जाये और फिर देखें कि उस पर सूर्य की किरणें पड़े। फिर वह शीशा भी सूर्य के प्रकाश को फैलायेगा। उस शीशे को घुमा-फिरा कर प्रकाश मकान के अन्य अन्धेरे भागों में भी फैलाया जा सकता है। वह प्रकाश उस शीशे से आता है या सूर्य से ? शीशा तो जड़ है प्रकृति के अनुसार उसमें कोई प्रकाश नहीं होता। चन्द्रमा भी शीशे के समान है, उसमें भी उसका स्वयं का प्रकाश नहीं होता। सूर्य का प्रकाश ही चन्द्रमा के धरातल पर पड़ता है और चमकता है इसलिए चन्द्रमा का प्रकाश शीतल और सुहावना होता है। हमारे वेदों में कहा गया है कि मन भी चन्द्रमा के समान है और वह आत्मा के प्रकाश को ही फैलाता है। यदि आत्मा का प्रकाश बुद्धि के शीशे पर पड़ कर चमक कर फैले तो अंधेरे से पूर्ण मन भी प्रकाश से चमकता हुआ देखा जा सकता है। यद्यपि की हम अज्ञान की स्थिति में होते हैं किन्तु प्रज्ञान की प्राप्ति के लिए मन ही उत्तरदायी होता है। यदि मन को प्रकाशित कर सकें तो फिर अज्ञान के अंधकार के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। जब हम बुद्धि को आत्मा की ओर मोड़ देंगे तो हम मन के अन्धकार को मिटा सकेंगे। मन ही सारी इन्द्रियों का स्वामी है। आत्मा बुद्धि की स्वामी है। जो कुछ बुद्धि प्राप्त कर सकती है वह इंद्रियों की पहुंच के परे होता है। इन सब बीच की स्थितियों से होकर निकलते हुए अन्त में मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्नों को ही 'मोक्ष मार्ग' कहा जाता है।

कुछ दिनों पहले मैंने कहा था कि मैं आपको विभिन्न युगों में विभिन्न पदों के विषय में बताऊंगा और समझाऊंगा कि महान् अवतारों के प्रकट होने पर भी धर्म का कैसे लोप हो गया। मैं यह आज आपको बताता हूं। कृत युग में धर्म अपने चारों पादों अर्थात् पैरों पर था। धर्म के ये चार पाद हैं यज्ञ, याग, योग और तप। मैंने आपको यह बताया था कि हृदय से जो शब्द निकलता है उसे 'ऋत' कहते हैं। ऋत (Truth) का ही रूप बन गया है Rutha अर्थात् सत्य। इसलिए कहा जाता है कि सत्य से बढ़ कर कोई धर्म नहीं है। सब धर्मों का आधार सत्य ही है और सत्य आधारित रहता है ऋत या संकल्प पर इसलिए तीनों ऋत, सत्य और धर्म एक दूसरे से अनुन्मोचनीय रूप से और अविभाज्य रूप से ऐसे रूप में कि जो अलग नहीं किये जा सकते, सम्बन्धित और जुड़े हुए हैं। कृत युग में ऋषि गण द्वारा धर्म के इन चार पादों का, जिनका अभी वर्णन किया गया है, पालन किया जाता था जिससे कि मन, कर्म और वचन में पारस्परिक सामन्जस्य और सरसता बनी रह सके।

त्रेता युग में धर्म के एक पाद का कम होना एक साधना अर्थात तपस् कम हो गई, पाद का अर्थ होता है पैर जिसकी सहायता से मनुष्य चल सकता है। तपस् भी कर्म करने की एक विधि है। त्रेता युग में बिना तप के यज्ञ, याग और योग के द्वारा ही धर्म की उपलब्धि सम्भव हो सकती थी और द्वापर में याग और योग के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त कर सकना सम्भव था। कलियुग में केवल एक पाद योग ही रह गया। आप प्रश्न करेंगे कि कौन सा योग ? तो वह योग है भक्ति योग। इस युग में भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है जिसके द्वारा मुक्ति प्राप्त की जा सके। त्रेता युग में तो तीन मार्गों यज्ञ, याग और योग द्वारा ईश्वर की प्राप्ति हो जाती थी, द्वापर में याग और योग से तथा कलियुग में केवल एक 'योग' से। इसका आन्तरिक अर्थ यह है कि कलियुग में भगवान ने अपनी प्राप्ति का सरलतम साधन उपलब्ध करा दिया है भक्ति योग और अन्य तीनों ही कठोरतम् मार्गो को ही छोड़ दिया गया है (१)

लोगों को ५० वर्ष पूर्व वाराणसी पहुचने में दो महीने लग जाते थे। दस वर्ष पूर्व रेल गाड़ी से वहां पहुंचने में ३ दिन लग जाते थे। अब तो हवाई जहाज से ३ घण्टों में ही पहुंचा जा सकता है। वाराणसी में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। बंगलौर भी वहीं का वहीं है। पहले जहां यात्रा करने में चार कदम चलना पड़ता था तो अब केवल एक ही कदम चलना पड़ता है। हमारे साधनों को सुविधाजनक बना दिया गया है। हम जीवन के उदाहरण को ही लें। जब तक आप एक साल के होते हैं अपने चारों हाथ पैरों पर चलने लगते हैं और कुछ महीनों बाद दोनों पैरों पर चलने लगते हैं किन्तु हाथों से दिवार का सहारा लेते हैं। उन दिनों कभी-कभी आपको माँ के हाथ पकड़ कर सहारा लेना पड़ता है इस प्रकार आप उन दिनों आप तीन अंगों पर चलते हैं। कुछ महिनों बाद न तो आपको माँ की उंगली पकड़ने की आवश्यकता पड़ती है और न ही दीवार का सहारा लेने की और आप अपने दोनों पैरों पर चलते हैं। फिर बड़े हो जाने पर तो जल्दी में आप एक

---

(१) ऐसा माना जाता है कि युगों की उत्तरोत्तर घटती हुई अवधि के अनुसार शारीरिक व नैतिक शक्ति भी मनुष्यों में गिरती गई है। इसलिए भगवान ने अपनी प्राप्ति के उपायों को घटा कर चार से एक कर दिया और सरल बना दिया है। चारों युगों सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग की क्रमशः काल अवधि है १७,२८,०००, १२,९६,०००, ८,६४,००० और ४,३२,००० वर्ष और चारों का योग है ४३,२०,००० वर्ष।

ही उछाल कर चलते हैं कभी-कभी । फिर जब तेज दौड़ते हैं तो पंजे जमीन पर पैर भी पूरे नहीं टिकते केवल एक पैर ही टिकता है कभी-कभी तो इसके द्वारा आप अपने गन्तव्य स्थल पर जल्दी पहुंचते जाते हैं । धर्म नहीं बदला, उसकी उपलब्धि के साधन बदल गये हैं । धर्म कभी नहीं बदलता वह तो नित्य और सनातन है । जब श्री कृष्ण ने कहा कि धर्म ग्लानि हुई है तो इसका अर्थ था कि धर्म पर विपत्ति आई है क्योंकि धर्म का क्षय या नाश नहीं होता है धर्म अमर व अविनाशी है । इसलिए राम को धर्म का स्वरूप माना गया है, वह धर्म जो अमर है ।

———

१८

द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत

आत्म-तत्व नित्य (अनन्त) और अनादि (सनातन) है जब कि संसार अनित्य और नाशवान है। हम यह जानते हुये कि यह शरीर, ये इन्द्रियाँ और यह संसार सब क्षणभंगुर हैं, इनका नाश होना निश्चित है, किन्तु फिर भी हम इन्हें स्थाई समझने की त्रुटि करते हैं। आत्म-तत्व ही जो कि ज्ञान है, स्थाई है; इसे हम स्वीकार करें या न करें, इसका स्थायित्व रहता है। यह सभी लाभ-हानियों, क्षति-विक्षतियों, संकट-कठिनाइयों से अविचलित और अप्रभावित, अडिग रहता है। यह ही आनन्द स्वरूप है।

गीता में आत्मा की नित्यता और अनन्तता का अनेकों स्थानों पर सन्दर्भ आया है और उसका इसी रूप में वर्णन किया गया है। "न त्वे वाहं जातु नासं" (१) प्रथम कथन है जिसका शब्दार्थ है कि "न तो ऐसा ही (है कि) मैं किसी काल में नहीं था" अर्थात् मैं ईश्वर स्वरूप सदा रहता हूं। इसी में आगे है 'न त्वं' अर्थात् तुम जीव स्वरूप भी सदा रहते हो। कोई ऐसा समय नही था जब तुम नहीं थे। ये भीष्म द्रोण तथा अन्य लोग भी सदा से रहे हैं। यह संसार सदा रहता है। "मैं ईश्वर तुम जीव, और यह जगत तीनों सदा से रहे है और रहेंगे" ये तीनों ईश्वर, जीव और प्रकृति सदा से रहे हैं, सृष्टि में सृजन से पूर्व भी इनका अस्तित्व था और आगे भी

---

(१) न त्वे वाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधियाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ गीता २।१२

"न तो ऐसा ही (है कि) मैं किसी काल में नहीं था (अथवा) तू नहीं था (अथवा) ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।"

ये रहेंगे। ये भौतिक शरीर बदलते रहते हैं, इनमें रूपान्तरण होता रहता है, किन्तु आत्म-तत्व नित्य, अपरिवर्तनीय, नित्य और सनातन रहता है।

इस तत्व को समझने के लिए तीन दृष्टिकोण हैं या यों कहें कि इसको समझाने के लिए तीन दर्शन प्रतिपादित किये गये हैं। तीन दर्शन हैं(१) द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत। सबसे पहले द्वैत को समझें। द्वैत मत के अनुसार, जीव और प्रकृति सदा रहते हैं और ये दोनों एक नहीं होते। इस सिद्धान्त में जीव और प्रकृति को अलग-अलग और स्थाई माना गया है।

यदि हम विशिष्टाद्वैत (१) पर विचार करें, तो पायेंगे कि वह इस दृश्य रूप संसार में चित् (जीव) और अचित (भूत) के आधार भूत तत्व को मान कर चलता है तथा ब्रह्म और प्रकृति को समरूप और वास्तविक सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। वह जगत और जड़ को मूलतः एक ही मानता है। विशिष्टाद्वैत कहता है कि जड़ और चेतन्य एक ही ब्रह्म तत्व के प्रकट अंश हैं इसलिए समरुप हैं। ये दोनों आपस में मिल नहीं सकते, इसलिए इन्हें एक ही तत्व के दो परिवर्तित रुप माना गया है।

जगत, जीव और पुरुष तीनों अलग-अलग तत्व नहीं हैं बल्कि अन्तिम दृष्टि से तीनों एक ही हैं। विशिष्टाद्वैत की महानता इन तीनों की एकता की घोषणा में है कि ब्रह्म ही परम सत्य है। भूत (अचित) और जीव (चित्) इसके विशेषण या अंश हैं। यद्यपि वे लगते भिन्न हैं किन्तु मूल रुप में एक ही हैं। विशिष्टाद्वैतवादी स्वर्ण का उदाहरण देते हैं स्वर्ण के अनेकों आभूषण होते हैं किन्तु स्वर्ण तो वही एक होता है। वे एक कदम और आगे जाते हैं। यदि ब्रह्म के ये चित् (सक्ष्म) और अचित् शरीर न हो, तो ब्रह्म अपूर्ण रहेगा। इसके सम्बन्ध में, मैं एक उदाहरण देता हूं। एक राजा है, उसका राज्य है और उसकी प्रजा है। राजा के बिना राज्य नहीं हो सकता; राज्य के बिना प्रजा नहीं हो सकती; प्रजा के बिना राज्य नहीं हो सकता और राज्य के बिना राजा नहीं हो सकता। वे सब एक दूसरे पर आश्रित है। चूंकि ये तीनों आपस में अनुन्मोचनीय रूप से अन्तर सम्बन्धित हैं। विशिष्टाद्वैत

---

(१) द्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक माध्वाचार्य, अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक शंकराचार्य और विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक रामानुजाचार्य माने जाते हैं।

(२) इस दर्शन में अद्वैत की जगह अनेक की कल्पना है। अनेक से विशिष्ट अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण इसे विशिष्टाद्वैत कहा जाता है।

ने तीनों की एकता की घोषणा की है। जब राजा और प्रजा के लक्षणों और स्वभावों पर विचार करते हैं, अद्वैत का सिद्धान्त ही समझ में आता है और हम पाते हैं कि राजा भी तो एक मनुष्य है और प्रजा भी मनुष्य है। तो वह प्रजा में से ही एक हुआ। राजा नियम बनाने वाला है और प्रजा नियमों से शासित है और विधि-विधानों से आबद्ध है। यद्यपि राजा और प्रजा लगते अलग-अलग हैं, किन्तु मानवीय आधार पर वे सब एक ही हैं।

जिस प्रकार हमें यह बताया जाता हैं कि जड़ और चेतन एक है, उसी प्रकार हम जड़ में चैतन और चैतन में जड़ तत्व पाते हैं। इस प्रकार एक तरह से जड़ और चैतन्य अविभाज्य या अभेद्य हैं। जड़ का अस्तित्व चेतन के बिना रह ही नहीं सकता, इसी प्रकार चेतन का अस्तित्व जड़ के बिना नहीं रह सकता। इस दैनिक व्यावहारिक जगत में हम चाहे यह सोचें और मानें कि चेतन शक्ति जड़ पदार्थ में नहीं प्रवेश कर सकती और न ही जड़ पदार्थ चेतन शक्ति में, किन्तु यह एक भ्रमित धारणा है। हम यह मानते हैं कि सम्पूर्ण जगत शब्द से परिव्याप्त है, किन्तु जब कोई क्रिया या गति होती है तभी शब्द पैदा होता है। हम एक मिनट में अनेकों बार आँखों की पलकें झपकातें हैं। हम जब-जब पलक झपकाते हैं तब-तब ध्वनि भी होती है किन्तु वह इतनी सूक्ष्म होती है कि हमें बिल्कुल सुनाई नहीं देती। हमें यह सुनाई नहीं देती, इस आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि पलक झपकने से कोई ध्वनि नहीं होती है। जिस प्रकार हम अश्रव्य ध्वनि को नहीं सुन सकते, इसी प्रकार जड़ में चेतन के अस्तित्व को और चेतन में जड़ के अस्तित्व को नहीं जान पाते।

इस भ्रान्ति के दो भेद हैं। एक तो 'परिणाम' या विकास और दूसरा 'विवर्त'। विवर्त में हमें यह भ्रान्वि होती है कि कोई परिवर्तन हुआ है यद्यपि पदार्थ नहीं रहता है। वह हमें भिन्न रूप में दिखाई देता है। जब हम मार्ग पर चल रहे होते हैं तो किसी रस्सी के टुकड़े को देखकर हमें सर्प का भ्रम हो जाता है। न तो रस्सी जाती है और न ही सर्प आता है केवल हमारा भ्रम रहता है। 'विवर्तवाद' में सत्य वस्तु को भूल जाते हैं और उसको दूसरी वस्तु समझ लेते हैं जो वास्तव में वह होती नहीं है। यह सब माया का प्रभाव है। परिवर्तन 'परिणामवाद' है जैसे दूध का दही बन जाना यदि दूध ही न हो तो दही कैसे बनेगा। माया विवर्त और परिणाम दोनों में रहती है।

आज कल हम विवर्त के प्रभाव में रहते हैं यद्यपि हम हैं आतम स्वरूप, किन्तु हम परम सत्य को भूल जाते हैं और देह भ्रान्ति में रहते हैं। हम अपनी अनित्य और नश्वर स्थिति को नित्य और स्थायी समझने की भूल कर बैठते हैं। हम रस्सी से तो

नहीं डरते हैं किन्तु सर्प से बहुत भयभीत होते हैं। हम आत्मा से तो भयभीत नहीं होते, किन्तु जीवन से बहुत डरते हैं। हम आत्म-स्वरूप हैं इसलिए हमें अभय होना चाहिये किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि हम भय और माया से ग्रसित रहते हैं।

उपाधियों से रहित केवल एक ही सत्य है जिस प्रकार आकाश में केवल एक सूर्य ही चमकता है किन्तु जब हम एक हजार घड़ों में पानी भर कर रख देते हैं और उन एक हजार घड़ों में एक ही सूर्य का प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है। एक सूर्य हजार सूर्यों में विभाजित दिखाई देता है। यह केवल एक भावना है। सूर्य केवल एक ही है और वह आकाश में चमकता रहता है इसी प्रकार शरीरों के घड़ों के समान माना जा सकता है जो पानी से भरे हैं और उन सब में एक ही आत्मा के सूर्य का प्रकाश पड़ रहा है केवल ऐसा भासित होता रहता है कि सब भिन्न हैं जबकि है वास्तव में सूर्य एक ही है।

अनेक लोग प्रश्न करते हैं, "स्वामी ? शरीर की मृत्यु के बाद आत्मा कहां जाती है ?" जब घड़ा टूट जाता है, पानी फैल जाता है तो उसमें प्रकाशित होने वाला सूर्य कहां चला जाता है ? सूर्य न तो आता है और न ही जाता है, वह तो वहीं का वहीं रहता है। वह तो घड़े और उसमें पानी के अस्तित्व के कारण प्रतिबिम्बित होता है। जब न घड़ा रहता है और न पानी ही, तो फिर प्रतिबिम्ब भी नहीं रहता।

एक और प्रश्न है। यदि एक ही सूर्य सब ही घड़ों में प्रतिबिम्बित होता है, तो क्या सभी प्रतिबिम्बों का एक समान मूल्य नहीं होगा ? प्रतिबिम्बों का मान या मूल्य तो समान ही रहता है, किन्तु घटों का मूल्य अलग-अलग हो सकता है। एक घट मिट्टी का हो सकता है; दूसरा लोहे का, तीसरा ताम्बे का, चौथा चांदी का, पांचवाँ स्वर्ण का और इसी प्रकार उनके आकार-प्रकार भिन्न हो सकते हैं जिसके अनुसार उनका मूल्य अलग-अलग होता है, किन्तु उनमें पड़ने वाले प्रतिबिम्ब का तो एक ही मूल्य होता है। इस शरीर का मूल्य और मान उसके धन, स्थिति, शिक्षा, सत्ता और अधिकार पर अवलम्बित रहते हैं, किन्तु आत्म-स्वरूप का मूल्य एक ही रहता है। इसलिए यह सब भेद मिथ्या है। ये सब शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं के कारण निर्मित होते हैं और बदलते रहते हैं। आत्म-तत्व एक है, अविभाज्य और अपरिवर्तनीय है।

एक नदी के किनारे ग्वाल बालों का एक दल अपनी गायें चरा रहा था। बरसात के दिन थे, नदी में अचानक पानी का प्रवाह बढ़ गया। पानी का बहाव तीव्र

था, इसलिए उसमें फँसा एक रीछ धारा के बीच में बहा चला जा रहा था। एक ग्वाले ने जब नदी की धारा में कुछ काला-काला बहते देखा, तो उसे ऐसा लगा कि कम्बलों की एक गांठ बही जा रही हो। उसने अपने साथियों से कहा, "मैं नदी में कूद कर उस गांठ को निकाल कर लाता हूं" और वह पानी में कूद गया। वह तो उसे भ्रम से कम्बल का बण्डल समझता था, इसलिए उसको अपने दोनों हाथों से पकड़ा और अपनी ओर खींचना चाहा। उस रीछ ने भी उस ग्वाले को दोनों हाथों से पकड़ लिया। वह लड़का रीछ से अपने को छुड़ाने के लिए बहुत प्रयत्न करता रहा, किन्तु रीछ ने उसे नहीं छोड़ा। किनारे पर खड़े उसके साथी चिल्लाये, "अरे छोड़ो कम्बलों के उस बन्डल को और बाहर आओ, नहीं तो डूब जाओगे।" लड़का पानी में रीछ से अपने आपको छुड़ाने के लिए भरसक प्रयत्न करता हुआ बोला, "मैं तो इसे छोड़ कर आना चाहता हूं और इसके लिए बहुत कोशिश भी कर रहा हूं, लेकिन यह मुझे छोड़ ही नहीं रहा है। इसी प्रकार इस जीवन की नदी-धारा में माया, रीछ के समान हमें कम्बलों की गांठ के समान आकर्षित कर लेती है और हम यह सोचकर कि कम्बल पाकर आराम और सुविधा रहेगी हम उसको पकड़ लेते हैं और इस प्रकार स्वयं ही उसकी पकड़ में ऐसे फंस जाते हैं कि अपने आप को उससे मुक्त करवाने के प्रयत्न करके भी सफल नहीं होते। ये सब भ्रांतियां माया के कारण होती हैं किन्तु ब्रह्म तत्व सदा एक ही रहता हैं। विशिष्टाद्वैत की सदा से यही शिक्षा रही है कि यद्यपि रूप भिन्न हैं, किन्तु पुरुष एक ही है; ब्रह्म विविधता और अनेकता में एकता स्थापित करने वाला सूत्र है।

अद्वैत को समझने के लिये पहले हमें इसके शाब्दिक अर्थ को समझना चाहिये। 'अ' अर्थात् नहीं, 'द्वैत' अर्थात् दो। इस प्रकार अद्वैत के अर्थ हुए दो नहीं। वह क्या है जो दो नहीं है? केवल ब्रह्म ही है जो दो नहीं है। केवल एक ही है। गीता में भगवान ने श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अनेकों स्थलों पर इस सिद्धान्त की शिक्षा दी है उदाहरण के लिए—

"वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानाम धनंजयः" "वृष्णि वंशियों में वासुदेव अर्थात् मैं स्वयं तेरा सखा, पाण्डवों में धनंजय अर्थात् तू—मैं ही हूं।" यद्यपि वह एक है, यहां अपने को दो रूपों में प्रगट करते हैं। भगवान आगे कहते हैं, "मैं ईश्वर हूं, तुम जीव हो और ये योद्धा जो यहां तुमसे युद्ध करने के लिए एकत्रित हुए हैं, जगत हैं। जगत दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है। तुम सोचते हो कि तुम अलग हो, ये सब लोग तुमसे अलग हैं। तुम सोचते हो कि तुम और ये भिन्न हैं। ईश्वर जीव

और प्रकृति तो सदा से, अनादि काल से रहे हैं।" अर्जुन ने प्रश्न किया, "यदि ईश्वर, जीव और प्रकृति सदा से अस्तित्व में हैं तथा जीव और ईश्वर एक है तो फिर आप जगत के सम्बन्ध में सब कुछ कैसे जानते हैं और मैं इसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानता, ऐसा क्यों है? जब आप और मैं एक हैं, जो कुछ आप जानते हैं, वह मैं क्यों नहीं जानता? कृपया मुझे इसका रहस्य समझावें।" श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन, तुम भी सब कुछ जान सकते हो, किन्तु तुम अपना मन लक्ष्य पर केन्द्रित ही नहीं करते हो। इसलिये तुम नहीं जानते हो। किन्तु मेरा मन सदा परम सत्य में स्थिर रूप से स्थापित रहता है, इसलिये मैं सब कुछ जानता हूं और यही हम दोनों के बीच अंतर है।" अर्जुन कुछ समझ नहीं सका और उसने भगवान से कहा, "हे भगवन्, आप तो मुझे अपनी बातों से मूर्ख बना रहे हैं।" श्री कृष्ण ने उन्हें समझाया, "अर्जुन, मैं कभी असत्य नहीं कहता, मैं तो सत्य स्वरूप हूं। यह सम्पूर्ण जगत मेरे संकल्प से उत्पन्न है। इसलिए मेरे शब्दों में कोई धोखा या भ्रम नहीं है। यह तो माया का प्रभाव है कि तुम भ्रमित हो गये हो, मुझ पर ये आरोप लगा रहे हो।"

फिर भगवान ने अर्जुन को एक उदाहरण देकर समझाना चाहा। उन्होंने अर्जुन से उसकी आयु पूछी तो उसने बताया कि वह अस्सी वर्ष का है। श्रीकृष्ण ने उससे फिर प्रश्न किया, "अच्छा बताओ तीन वर्ष पूर्व तुम अमुक दिन कहाँ थे?" अर्जुन को याद नहीं आया और उसे कहना पड़ा, "भगवन, मुझे याद नहीं कि तीन वर्ष पूर्व उस दिन मैं कहां था।" श्री कृष्ण ने कहा, "अच्छा तो तुम्हें याद नहीं कि तुम कहां थे। अच्छा तो बताओ कि तीन वर्ष पूर्वं उस दिन उस स्थान पर थे, या नहीं? यदि तीन वर्ष पूर्व उस स्थान पर वहाँ नहीं थे, तो फिर आज यहां कैसे हो सकते थे? तुमने स्वीकार किया है न, कि तुम तीन वर्ष पूर्व कहां थे, तुम्हें याद नहीं था।" श्रीकृष्ण ने अर्जुन की पीठ थपथपायी और आगे कहा, "मैं तुमसे एक और प्रश्न करता हूं। यह बताओ कि उस समय तुम्हारी क्या आयु थी जब तुम द्रुपद राज को बांध कर अपने राज्य में लाये थे?" अर्जुन ने उत्तर दिया, "भगवन उस समय मैं सोलह वर्ष का था।" सुभद्रा के साथ विवाह के समय तुम्हारी आयु क्या थी?" श्रीकृष्ण का अर्जुन से दूसरा प्रश्न था जिसके उत्तर में उसने कहा, "मुझे अच्छी तरह याद है, उस समय मैं २२ वर्ष का था।" श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, "५८ वर्ष पूर्व शादी की बात तुम्हें याद है, उसके भी छः वर्ष और पूर्व की द्रुपद राज को बाँध कर लाने की बात तुम्हें याद है, किन्तु तीन वर्ष पूर्व की बात तुम्हें याद नहीं। ऐसा क्यों है? इसका रहस्य है कि यह भी सब माया का ही प्रभाव है कि तुम शादी और जन्म-दिन सदृश अवसरों को

अधिक महत्व देते हो, इसलिए याद रह जाते हैं, अन्य को महत्व नहीं देते, इसलिए याद नहीं रहती है ।"

समाधि का गुप्त रहस्य सुख और दुख, हर्ष और शोक को समान भावना के साथ सहन करना है । राम ही सदा समाधि में रहने की स्थिति को अपने व्यवहार से प्रकट कर सके थे । राम ही नहीं, अन्य सभी अवतारों ने समाधि में सदा रहने की स्थिति को अपने व्यवहार से प्रकट किया है । राम राज्याभिषेक के लिए ७ बजे तैयार थे और उसी समय उन्होंने वन जाने का निर्णय लिया और वन को चल दिये । न तो उन्हें राज तिलक होने का कोई हर्ष था और न ही उस समय कोई शोक हुआ जब राजतिलक नहीं मिला और उल्टे उसके स्थान पर वन जाना पड़ा और इस प्रकार हर्ष और शोक पैदा करने वाली चरम स्थितियों में अविचलित समान स्थिति में बने रहे । श्री कृष्ण भी इसी प्रकार सदा समत्व की स्थिति में सदा मुस्कुराते रहते थे चाहे रूद्र-भूमि हो या युद्ध-भूमि । कहीं भी और कैसी भी परिस्थिति में क्यों न हों, वह सदा आनन्द की प्रतिमूर्ति ही बने रहते थे । इसीलिये जो शब्द श्री कृष्ण ने अर्जुन को समझाने के लिए युद्ध-भूमि में कहे थे ,वे गीता कहलाये । गीता का अर्थ है जो गाया जा सके अर्थात् गीत । क्या जब हम प्रसन्न नहीं होते, दुखी या शोक में होते हैं, गीता गा सकते हैं ? श्री कृष्ण युद्ध-भूमि में, जब कि उनका मित्र अपने आप को बहुत ही संकटपूर्ण स्थिति में अनुभव कर रहा था, गा सके तो इससे स्पष्ट होता है कि वह हर समय प्रसन्न मुद्रा में रहते थे और कैसी भी विषम स्थिति हो, अविचलित रहते थे । यह तो अवतार का स्वभाव ही होता है कि वे सर्वदा आनन्द से प्रफुल्लित रहते हैं सब को आनन्द प्रदान करते हुए । जैसे पूर्ण चन्द्रमा को देख कर सागर में ऊंची-ऊंची लहरें उठती हैं, ज्वार आ जाता है, इसी प्रकार जब मैं भक्तों को देखता हूं, तो मेरा हृदय उनके लिये असीमित अपार प्रेम से उमड़ पड़ता है । प्रत्येक वस्तु रस स्वरूप है । भगवान के दृष्टिकोण, प्रेम और विचारों में कभी कोई परिवर्तन नहीं आता, किन्तु अज्ञानी अपनी छुद्र-बुद्धि की कल्पनाओं से और अन्तर आरोपित करते रहते हैं ।

जब ईश्वरीय शक्ति हमारी कुछ इच्छाओं की पूर्ति कर देती है तो हम बड़े प्रसन्न होते हैं और हम भगवान की बड़ी प्रशंसा करते हैं किन्तु जब वही दैविक शक्ति हमारी इच्छाओं को पूरा नहीं करती है तो फिर हम उनकी निन्दा करने लगते हैं । मनुष्य पाप करता है तो उसको उसका फल भोगना ही पड़ता है । किन्तु वह कहता है, "हे भगवान ! आप में दया नहीं, आप मुझे यह दंड दे रहे हैं ।" लोग परीक्षा का सामना नहीं कर सकते । वे मेरे सामने तो मीठे-मीठे शब्द बोलते हैं, किन्तु

वे बहुधा होते हैं बनावटी और बहानेबाज, सत्य नहीं होते। हमारा स्वभाव है आनन्द। 'स्व' ब्रह्म तत्व है इसलिए स्वभाव का अर्थ हुआ। भगवान का भाव और स्वेच्छा से अभिप्राय होता है, भगवान की इच्छा।

जिन दिनों को लोग अधिक महत्व देते हैं, उनको तो याद रखते हैं, किन्तु जिनको कोई महत्व नहीं देते उनको भूल जाते हैं। बस यही जीव और देव का अन्तर है। जीव कुछ को आवश्यक समझ कर अधिक महत्व देता है और कुछ को अनावश्यक समझकर भुला देता है और इस प्रकार वह भेद पर रहता है। जहाँ तक देव का सम्बन्ध है, उनके लिए कुछ भी ऐसा नहीं है जो आवश्यक हो और कुछ भी ऐसा नहीं है जो अनावश्यक है। वह तो सबके दृष्टा बन कर सबसे निर्लिप्त रहते हैं। एक दृष्टा के लिए किसी प्रकार का भेद नहीं होता, न देश का न काल का। दृष्टा के लिए भूत, वर्तमान और भविष्य का कोई अन्तर नहीं, सब समान हैं। उनके सामने तीन काल एक समान स्पष्ट होते हैं और वह तीनों कालों में एक आत्मा-स्वरूप में सर्वदा विद्यमान रहते हैं।

यह एक तकिया है। मैं यदि आप से यह प्रश्न करूं कि इसके ऊपर क्या है तो आप कहेंगे कि कपड़े का गिलाफ है। यदि मैं पूछूं कि तकिये के भीतर क्या है तो आप कहेंगे रूई। किन्तु मैं यह नहीं कहता कि यह कपड़ा है और यह रूई है। मैं कहता हूं कि यह रूई है। रूई और कपड़ा मूल तत्व रूप से दोनों एक ही हैं और इनके वास्तविक मूल रूप में जहाँ से इनका वर्तमान रूप स्थिति में आया है, दोनों एक ही हैं। प्रत्येक वस्तु रूई है। जीव अपने कुछ कार्यों के लिए रूई का उपयोग करता है और कुछ कार्यों के लिए रूई के बने कपड़े का। आप नाम और रूप में भेद स्थापित करते हैं, आप मूल पदार्थ का भी विभिन्न उद्देश्यों के लिए उपयोग करते हैं। वास्तव में देखें तो एक नाम और दूसरे नाम में कोई अन्तर नहीं होता और न ही एक रूप और दूसरे रूप में कोई अन्तर होता है ; देव के लिए सब कुछ एक ही है। इसलिये उनके उपयोग में भी कोई अन्तर नहीं है। इसको समझाने के लिए दूसरा उदाहरण देते हैं। जब कभी हमारे घर में उत्सव होता है या त्यौहार मनाया जाता तो मिष्ठान तैयार होते हैं और पायसम बनता है। चावल, चने और गेहूं के आटों का अलग-अलग मिठाईयों में उपभोग होता है किन्तु कोई आटा मीठा नहीं होता। मिठास होता है चीनी में जो कि मिठाई में पड़ती है। आप को एक तत्व देखना चाहिए मिठास का। वही सब को मिष्ठान्न बनाता है और अन्य भेदों को आपको नहीं देखना चाहिए इस भ्रांति के कारण हम भगवान को विभिन्न नाम और रूप देते हैं।

एक और उदाहरण लीजिये । एक परिवार है और उसका मुखिया है । उसकी पत्नी उसे पतिदेव कहती है, पुत्र उसे पिता जी कहता है, पोता उसे दादा जी कहता है, पुत्र-वधू उसे श्वसुर जी कहती है । व्यक्ति एक ही है किन्तु विभिन्न लोग विभिन्न सम्बोधनों, अपने व्यक्तिगत सम्बोधन के अनुसार पति, पिता, श्वसुर, दादा आदि से पुकारेंगे । इसी प्रकार परमात्मा एक ही है किन्तु हम अपने प्रेम के अनुसार उनके साथ अपने नाते-रिश्ते स्थापित कर लेते हैं और तदानुसार उन्हें पुकारते हैं—कोई मां के रूप में, कोई पिता के रूप में, कोई स्वामी के रूप में, कोई गुरु के रूप में, कोई राम या कृष्ण के रूप में, कोई ईसा के रूप में, तो कोई साई के रूप में । यह सब भी भ्रांति के कारण हैं, अन्यथा वास्तविक रूप में सब एक हैं, कोई भेद या अन्तर नहीं है । केवल एक परमात्मा है, इस विभिन्न रिश्तेदारी और नातेदारी के पीछे ।

मैं एक और उदाहरण देता हूं जो सबके ही अनुभव में आता है । हम रोज ही घी, दूध, दही, छाछ आदि कुछ न कुछ खाते हैं । ये सब प्राप्त होते हैं दूध से ही । दूध अद्वैत है, मक्खन विशिष्टाद्वैत है और छाछ द्वैत है । अद्वैत और विशिष्टाद्वैत दोनों की ही उत्पत्ति अद्वैत से हुई है । इसलिये कहा गया है कि ज्ञान ही अद्वैत दर्शन है । ज्ञान से ही ब्रह्म-तत्व की प्राप्ति होती है । इसीलिए ब्रह्म के लिये कहा गया है, "सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म ।" अर्थात् ब्रह्म वह जो सत्य है, जो अनन्त है जो ज्ञान है । ब्रह्म का अर्थ है जो अपरिवर्तनीय है और अनन्त है । ब्रह्म-तत्व को प्राप्त करने के लिये हमें "रसोवै सः"—रस ही ब्रह्म है—का सिद्धान्त अपनाना चाहिये । सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति रस से ही हुई है । ब्रह्म रस-स्वरूप है । जो रस से उत्पन्न है वह नीरस अर्थात् रस से हीन कैसे हो सकता है ।

पंडित रस के नौ भेद करते हैं और उन्हें नव रस (१) कहते हैं । मेरी दृष्टि में नौ रस नहीं हैं । केवल दो ही रस हैं एक तो करुणा रस और दूसरा शृंगार रस । दया, प्रेम और अनुग्रह के भाव करुण रस में मिल जाते हैं तथा काम, क्रोध और लोभ शृंगार में । शृंगार जहां हम को प्रेयगामी बनाता है; गलत रास्ते पर ले जाता है; वहाँ करुणा रस हमें श्रेय गामी बनाता है, उच्च पथ पर ईश्वराभिमुख बनाता है और हमें उन तक पहुंचा भी देता है । उनका सान्निध्य प्राप्त होते ही वास्तविक आनन्द प्राप्त हो जाता है । करुण रस से ही हमें शुद्ध निस्वार्थ प्रेम प्राप्त

(१) नव रस—१, शृंगार, २, हास्य, ३, करुण, ४, रौद्र, ५, वीर, ६, भयानक, ७, वीभत्स, ८, अद्भुत और ९, शांत ।

होता है। स्वार्थपूर्ण प्रेम से शृंगार रस की प्राप्ति होती है और उससे उत्पन्न होता है मोह जिसकी तुलना एक तालाब में एकत्रित जल से की जा सकती है जो प्रवाह रुकने के कारण रुक जाता है और फिर सड़ता और सूखता है; दूषित हो जाता है और फिर उसमें कीड़े भी पड़ जाते हैं। करुण रस नदी के प्रवाह के समान सतत् बहने वाला है। इसलिए सार्वदेशिक है, बहते रहने के कारण दूषित नहीं होता, बल्कि जो दूषित जल आकर उस प्रवाह में मिल जाता है, वह भी शुद्ध हो जाता है जैसे नदी का प्रवाह अन्त में समुद्र में जाकर मिल जाता है वैसे ही करुण रस का प्रवाह अन्त में भगवत्-अनुग्रह सागर में मिलता है। मोह से इच्छायें पैदा होती हैं, जिनका अन्त नहीं होता।

मैं आपको एक और उदाहरण देता हूं। एक घर में एक लड़की रहती है। एक दूसरे घर में एक नवयुवक रहता है। दोनों के मकान एक दूसरे के मकान से लगे हुए है। युवती और युवक एक दूसरे के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते हैं, जब कि वे एक-दूसरे के पड़ोस में रहते हैं। एक दिन युवती गम्भीर रूप से बीमार पड़ती है, घर के सारे लोग घबड़ा जाते हैं, दौड़-धूप होती रहती है, कई डाक्टर आते हैं। जब पड़ोस में रहने वाले ने यह सब घबड़ाहट और आवाजें सुनीं तो उसने सोचा कि पढ़ाई-लिखाई के बारे में आपसी बातें होंगी, इस लिए उसने अपनी खिड़की बन्द कर ली और अपनी पढ़ाई में लग गया। भाग्य का खेल कि कुछ समय बाद उस युवक की उससे पड़ोस में रहने वाली उसी युवती के साथ शादी हो जाती है। जिस दिन प्रातः उनकी शादी होती है, उसी दिन दोपहर में ही उस युवती के पेट में कुछ दर्द हो जाता है। यह युवक जो दूल्हा बना था, उस युवती और उसके पेट के दर्द के सम्बन्ध में बड़ा चिन्तित होता है। युवक का उस युवती के प्रति यह मोह कब से उत्पन्न होता है ? उसी समय से जब उनकी शादी होती है। वही युवती जब कुछ समय पूर्व गम्भीर रूप में बीमार हुई थी, तो उसको उसके सम्बन्ध में तनिक भी चिन्ता नहीं हुई; उसने कुछ भी जानने का प्रयत्न नहीं किया, क्योंकि उस समय उसका उस युवती के साथ कोई लगाव नहीं था; कोई सम्बन्ध नहीं था। इसलिए अभिमान, अहंकार ही सब सुखों-दुखों के, हर्ष-शोक के कारण हैं। यह सब माया का फल है; किन्तु हम सब मूल रूप में आनन्द स्वरूप हैं। हमें अपने मन को ऐसा निर्मल और स्थिर बनाना चाहिए कि न तो हम में दुःख और शोक के कारण उद्विग्न हो, न सुख और हर्ष की इच्छा रहे, बल्कि सारे राग, भय और क्रोध मिट जायें और हम स्थिर बुद्धि वाले बनकर समत्व में स्थित हो सकते हैं और समाधि की स्थिति प्राप्त कर सकते हैं। समाधि का विद्वानों ने अनेकों प्रकार

से वर्णन किया है। कभी-कभी जब कोई कीर्तन में अचेत हो जाता है, या योग में तन कर स्थिर हो जाता है, तो लोग कहने लगते हैं कि वह समाधि है। किन्तु यह वास्तविक समाधि नहीं है। समाधि का अर्थ तो शब्द से स्वयं ही स्पष्ट हैं। 'सम' और 'धी' शब्द के क्रमश: अर्थ होते हैं समत्व और बुद्धि। इस प्रकार हर्ष और शोक से अविचलित और अप्रवाहित रह कर जो सदा स्थिर बुद्धि रहता है। द्वैत में सदा दो की स्थिति रहती हैं। विशिष्टाद्वैत के अनुसार नाम और रूप के भेद तो रहते हैं, किन्तु सब के पीछे पुरुष एक ही है। विशिष्टाद्वैत जड़ और चैतन्य के स्थायित्व को स्वीकार करता है; किन्तु यह भी मानता है कि जड़ चैतन्य के समान सत्य है और चैतन्य भी जड़ के समान सत्य है; क्योंकि हम एक पक्षीय दृष्टि से सोचते हैं, इसलिए दूसरे पक्ष की ओर नहीं देख सकते। जब हम दोनों को पहचान जाते हैं, तब ही हम वास्तविक एकता को समझ पायेंगे। द्वैत के माध्यम से ही हमें अद्वैत की एकता तक पहुंचना चाहिए। इसलिए द्वैत के बिना भी हम नहीं रह सकते हैं।

मैंने एक बार आपको पहले पुरुषार्थ के सम्बन्ध में बताया था कि चार पुरुषार्थ होते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन्हें सीढ़ी के पार्श्वों और डंडों के समान समझो। धर्म सीढ़ी के उस भाग के समान है, जो धरती पर टिका होता है और जिसके सहारे सीढ़ी खड़ी होती है और अर्थ तथा काम बीच के डंडे हैं जिनके एक पार्श्व (बाजू) में पुरुष है और दूसरे में प्रकृति। अन्तिम लक्ष्य जहां इस सीढ़ी से पहुंचना होता है, वह है मोक्ष। धर्म के आधार के बिना आप चरम लक्ष्य अर्थात मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते। हम चारों पुरुषार्थ की एकता को तब ही प्राप्त कर सकते हैं जब कि प्रत्येक की प्रकृति और स्वभाव को समझ लें। हम धर्म और अर्थ को एक साथ लें तथा मोक्ष और काम को भी एक साथ लें। अर्थ को धर्म के लिए अपनाओ और काम का विकास मोक्ष के लिए करो। हमारा काम या इच्छा मोक्ष की ओर प्रेरित हो और अर्थ का अर्जन, प्राप्ति और संचय सब धर्म की स्थापना के लिए धर्म के आधार पर हो। जब धर्म और मोक्ष को प्राथमिकता देंगे तो अन्य और काम भी शुद्ध हो जायेंगे।

अद्वैत पर केवल भाषण सुनते रहने का कोई उपयोग नहीं। इसकी तो व्यावहारिक रूप में अनुभूति की जानी चाहिये। यह आपके आचरण पर और व्यवहार में क्रियागत रूप से प्रकट होना चाहिये। आपको यह सुनिश्चित करना चाहिए कि आप किसी का अपमान नहीं करेंगे, किसी को कष्ट या पीड़ा नहीं पहुंचायेंगे तथा अद्वैत

दर्शन को व्यावहारिक रूप में अपनायेंगे। आज कल तो देश में युवकों में एक भूचाल सा आया हुआ है और विस्फोट हो रहे हैं। यह विद्यार्थियों के लिये बिल्कुल उपयुक्त नहीं कि वे अविवेकपूर्ण अंधे आवेगों के वशीभूत होकर अपना रोष और विरोध प्रकट करने के लिये इस प्रकार के उपद्रवपूर्ण हिंसात्मक आन्दोलन करें। आज से विद्यार्थियों को इस अशान्ति को पैदा करने वाले नेताओं की मुंदी आँखों को खोलने के लिये तैयार हो जाना चाहिये और उन्हें अद्वैत दर्शन और उसके आध्यात्मिक संदेश को भली प्रकार समझा देना चाहिये। जब कोई हिंसात्मक और ध्वंसात्मक कृत्य में लग जाता है, तो उस समय क्षणिक आवेगों को संतोष भले ही मिल जाये, किन्तु अन्त में आगे चल कर उस कार्य के परिणाम हानिकारक ही होंगे। आप कोई भी कार्य क्यों न करें, यदि उसे आप शुद्धता, सरसता, सहयोग, समन्वय और एकता की भावना से करेंगे, तो आपको उसके शुद्ध, सरस, सात्विक और सुखद परिणाम प्राप्त होंगे।

———

१६

भगवान का प्रेम सूर्य के प्रकाश के समान है

कर्म या कर्त्तव्य सर्वोपरि है, उससे बढ़ कर अन्य कुछ भी नहीं है। अपने कर्त्तव्य कर्म को निष्काम भावना, निर्लिप्तता और बिना किसी फल की इच्छा के साथ करना चाहिये। इस प्रकार किया गया निष्काम कर्म हमें इस संसार में अधिक आनन्द और सन्तोष प्रदान करता है। आपको कर्म, भक्ति और ज्ञान के अर्थ को भली प्रकार समझ लेना चाहिये। लोग इनमें सर्वनिष्ठ हैं। पातंञ्जलि ने योग के लिये कहा है, "योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः" चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग कहलाता है। मन पर पूर्ण नियंत्रण के पश्चात् ही उपरोक्त तीनों मार्गों भक्ति, ज्ञान और कर्म में से किसी एक को अपना सकते हैं। कर्म किये बिना कोई नहीं रह सकता, कर्म ही हमारे अस्तित्व का आधार है। यह शरीर हमें दिया ही इसलिये गया है कि हम कर्म करें —मनुष्य जीवन कर्मयोगी कहलाता है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्य अपने जीवन को सत्य कर्मों के द्वारा पावन और पवित्र बनावें और जीवन के वास्तविक उद्देश्य को पूर्ण करें। कर्म की यह धारा ज्ञान से प्रवाहित होती है और हमें अनुभूति की चरम स्थिति तक ले जाती है। हम यह सोचते हैं कि कर्म भक्ति और ज्ञान अलग-अलग हैं किन्तु हमारे दर्शन के अनुसार वे अविभाज्य हैं और अलग-अलग नहीं हैं। वे चाहे दिखाई अलग-अलग पड़ें किन्तु मूल रूप, काल, नाम और स्वभाव में एक ही हैं। एक उदाहरण है। हम वृक्ष में पहले एक कली देखते हैं, इस कली के कुछ समय तक सुरक्षित बने रहने पर वह एक कच्चे फल के रूप में विकसित हो जाती है। यही कच्चा फल पकता है और रस से पूर्ण मधुर-फल बन जाता है। कली, कच्चा फल और पक्का फल एक ही सत्य के तीन व्यक्त रूप हैं। कर्म के मार्ग की तुलना ऐसे मार्ग से की जा सकती है जिसमें कुछ कठिनाईयाँ होती हैं। जब भक्ति के मार्ग को देखते हैं तो वह कुछ कम कठिन लगता है और अधिक आनन्ददायक, ज्ञान के मार्ग की योग्यता प्राप्त करने के लिए कर्म का मार्ग अपरिहार्य है अर्थात् आप कर्म को

नहीं त्याग सकते। इसको एक और समता से समझें। कर्म का मार्ग रेल की ऐसी यात्रा के समान है जिसमें हमें रेलगाड़ी बदलने के लिए एक स्टेशन पर उतरना पड़ता है और दूसरी गाड़ी में चढ़ना पड़ता है और विभिन्न गाड़ियों से यात्रा करनी होती है। भक्ति का मार्ग ऐसी यात्रा के समान है जो हम सीधे डिब्बे में करते हैं, हमें गाड़ी बदलने के लिए स्टेशनों पर उतरना नहीं पड़ता, हम डिब्बे में बैठे रहते हैं, डिब्बा वाँछित गाड़ी में लग जाता है। ज्ञान का मार्ग सीधी गाड़ी में यात्रा करने के समान है, एह गाड़ी सीधी गन्तव्य तक पहुंचती है।

यद्यपि कि कर्म का मार्ग कठिन अवश्य है किन्तु वह विभिन्न अनुभव प्रदान करता है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं, कर्म, विकर्म और अकर्म। गीता के अनुसार यह कर्म का श्रेणी या शाखा विभाजन है। कर्म को साधारणतया निर्दिष्ट या निर्धारित शास्त्रनिहित कर्त्तव्य समझना चाहिए। साधारतणतया निषिद्ध कर्मों को विकर्म कहते हैं। किन्तु यह ही कर्म जब ईश्वर प्राप्ति के लिये किये जाते हैं तो शुद्ध कर्म हो जाते हैं, भाव के भेद से विकर्म भी कर्म बन जाता है। अकर्म का अभिप्राय कर्म न करना, आलस्य या निष्क्रियता है। कर्मों का स्पष्ट रूप से गीता में निरूपण किया गया है। गीता में मनुष्य को कर्मज कहा गया है। मनुष्य की उत्पत्ति कर्म से है और कर्म के लिए है। मोक्ष और जन्म दोनों ही कर्म से प्राप्त होते हैं। एक मिनट भी बिना किसी कर्म के बिता सकना सम्भव नहीं है। कर्म के द्वारा हम समय का सदुपयोग कर सक सकते हैं। जब तक हमारी पाँचों इन्द्रियाँ सुचारु रूप से कार्य करती हैं हम कोई न कोई कर्म करने को बाध्य हैं। कर्म का फल अदृश्य होता है। क्रिया का फल प्रतिक्रिया है जो क्रिया की ही प्रतिच्छाया और प्रतिध्वनि होती है। गीता का हमें उपदेश है कि ईश्वरानुभूति के लिये जो कर्म किये जायें वे बिना किसी फल की इच्छा के होने चाहिये। (१) गीता का उपदेश करने वाले कहते हैं कि मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है फल की प्राप्ति का अधिकार नहीं है। किन्तु गीता में यह नहीं कहा है कि मनुष्य को कर्मफल प्राप्त होने पर उसे भोगने का अधिकार नहीं है। गीता में जो कुछ कहा गया है उसका अर्थ है कि मनुष्य जो कर्म करता है उसके फल के लिये कोई आसक्ति या वासना नहीं होनी चाहिये। उसमें 'ना फलेषु' नहीं कहा

---

(१) कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्मुर्मा ते सङ्गोऽस्त्वर्मणि॥ —गीता २/४७

(तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फल में कभी नहीं। इसलिये तू कर्मों के फल हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो)।

गया है बल्कि 'मा फलेषु' कहा गया है । वेदों में भी यही कहा गया है कि मनुष्य को वास्तविक सुख की प्राप्ति कर्मफल की प्राप्ति की इच्छा का त्याग करने से होती है । विचार उठता है कि कोई त्याग करके सुख और सन्तोष कैसे पा सकता है । किन्तु यह अच्छी प्रकार समझ लिया जाना चाहिये कि त्याग के बिना न तो योग सम्भव है और ना ही भोग बल्कि त्याग के अभाव में केवल रोग ही रोग । श्वास प्रक्रिया का ही उदाहरण ले लें । जब हम सांस लेते हैं यदि उसे बाहर नहीं त्यागें, अपने भीतर ही रखे रहें तो आप सोच सकते है कि उसके कितने भयंकर परिणाम होते हैं; फेफड़े खराब हो जायेंगे, सांस बाहर नहीं आवे तो दम घुट जायेगा और फिर प्राण ही त्यागने पड़ सकते हैं । इसी प्रकार पाचन क्रिया को देखें । यदि जो कुछ भोजन हम करते हैं उसका यथा समय मल रूप में त्याग नहीं करें और पेट में ही इकट्ठा करते रहें तो कितने भयंकर परिणाम हो सकते हैं । इसलिए हमारा हर दृष्टि से कल्याण त्याग में है और हम त्याग से अपरिहार्य रूप से आबद्ध हैं। यदि बालक स्वाभाविक रूप से नहीं बढ़ता है तो माता-पिता के लिए चिन्ता का कारण बन जाता है । जन्म के समय जिस रूप में शरीर होता है उसकी उस स्थिति को विकास के द्वारा त्यागते जाते हैं और बढ़ते हुये नया आकार ग्रहण करते जाते हैं । चाहे हमें यह ज्ञात रहे या नहीं किन्तु त्याग से ही हमें परम सन्तोष मिलता है। जान बूझकर हम शायद त्याग नहीं कर पायें किन्तु वास्तव में तो प्रसन्नता आनन्द स्वेच्छा से, समझ बूझ के साथ किये गए त्याग से मिलता है । इसलिए हमें इन्द्रिय लिप्साओं और भोग-विलास का त्याग करना चाहिये और इस शरीर का भी त्याग करना चाहिये । इस प्रकार के त्याग के लिए उच्च-आधार होना चाहिए ।

हम यह नहीं जानते कि पंचभूतों से निर्मित इस शरीर का कब पात हो जाये। यद्यपि आयु की सीमा एक सौ वर्ष तक कही गयी है किन्तु इस पर भरोसा मत करो क्योंकि मृत्यु शैशवास्था, बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था या वृद्धावस्था में कब और किस समय हो यह हम नहीं जानते हैं। हम यह भी नहीं जानते कि मृत्यु कहां होगी, अपने जन्म स्थान में, स्वदेश में या विदेश में । मृत्यु तो ध्रुव सत्य है। बुद्धिमान आदमी को, ज्ञानी पुरुषों को अपनी मृत्यु के सत्य को जीवन काल में ही समझ लेना चाहिये और अनुभव भी कर लेना चाहिये । यदि आप अपने जीवन काल में ही 'देह भ्रांति' को त्याग देंगे तो उच्चतर आचार विचारों का, जैसे 'त्याग' का विकास कर सकेंगे । इस शरीर का, जिसकी तुलना एक नाव से की जा सकती है, आपको एक निश्चित सीमा तक ही पोषण करना चाहिये । आपका जीवन एक सरिता है जिसको पार करने के लिये आपको शरीर रूपी नौका प्राप्त है । आपका गन्तव्य नदी

के उस पार है इसलिये वहां तक पहुंचने तक आपको इसको उपयुक्त दशा में रखना होगा। इस शरीर को इस प्रकार अपनी जीवन यात्रा का एक साधन समझो न कि ध्येय।

'विक्षेप' और 'समाधि' बहुत महत्वपूर्ण हैं ये मन की स्थितियां या विशेषतायें हैं न कि आत्मा की। जब आप अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर लेते हैं तो विक्षेप की स्थिति को पार कर ऊंचे उठते हैं। दूसरी विधि भी है। जब आप भगवान के किसी नाम का उच्चारण करते रहें और सुनते रहें। जब नाम सुनें तो यह प्रश्न करें कि यह ध्वनि कहां से आयी और मैं इसे कहां से सुनता हूं ? इसके द्वारा भी आप अनूभूति की उच्चतर स्थितियों में पहुंच जाते हैं। जब आप नियन्त्रण की उस स्थिति में पहुंच जाते हैं जब संकल्प भी रुक जाते हैं तो विकल्प के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता हैं। उच्च स्थितियों तक पहुंचने के लिये त्रिगुण का मार्ग बताया जाता है। सात्विक ज्ञान परमात्मा की अमरता की अनुभूति है। हमें इस चकाचौंध कर देने वाली विविधता और अनेकता के पीछे छिपी एकता पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करनी चाहिये। यह सात्विक ज्ञान कहलाता है। राजसिक ज्ञान में भेद बुद्धि भरी रहती है। आप स्त्री और पुरुष, पशु और पक्षी, हर्ष और शोक, सुख और दु:ख में अन्तर करते हैं। इस प्रकार द्वैत को बनाये रखकर हम राजसिक स्थिति में रहते हैं। तामसिक ज्ञान, सात्विक ज्ञान का बिल्कुल उल्टा है। तामसिक ज्ञान एकता में विश्वास नहीं रखता बल्कि विविधता और अनेकता पर ही बल देता है और जो कुछ दृश्यमान आता है उसके परे जो कुछ भी है उस पर विश्वास नहीं करता है। हम अनेकों बार द्वैत शब्द का उपयोग कर रहे हैं, द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के सम्बन्ध में विचार करते समय किन्तु मुझे कहना चाहिये कि इस संसार में एक या तीन के लिए स्थान है किन्तु दो के लिये नहीं है। हम मन को द्वैत में फंसा देते हैं जैसे सर्दी-गर्मी, अन्धकार-प्रकाश, हर्ष-शोक आदि किन्तु ये दो विरोधी स्वरूप नहीं हैं। जब प्रकाश और अन्धकार, गर्मी और सर्दी का विचार करते हैं तो तीसरा व्यक्ति भी तो होना चाहिये जिसकी हम उपेक्षा कर रहे हैं और इनका साक्षी है जब हम हर्ष और शोक की बात करते हैं तो तीसरा व्यक्ति भी तो होना चाहिये जो इसका अनुभव करता है। जब हम भौतिक संसार के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार करते हैं तो हमें तीन का अस्तित्व दिखाई देता है न कि दो का। वास्तव में यह प्रकाश और अंधकार, हर्ष और शोक, सर्दी और गर्मी का भेद दिखायी देता है, वास्तव में होता नहीं है. वह केवल समय के द्वारा पैदा किया गया है। जब हम भले और बुरे की बात करते हैं तो लगता है कि वे अलग-अलग हैं किन्तु वे तो हैं एक ही। केवल समय के प्रवाह के

कारण हम उन्हें अलग-अलग समझ लेते हैं। जैसे ही किसी का जन्म होता है हम कहते हैं कि बच्चा पैदा हुआ है। दस बर्ष बाद वह बालक बन जाता है हम उसे लड़का कहते हैं, तीस वर्ष बाद हम उस बालक को आदमी कहते हैं और जब वह सत्तर वर्ष का वृद्ध हो जाता है हम उसे बूढ़े दादा कहते हैं। एक ही व्यक्ति को हम उसकी अवस्था के अनुसार बच्चा, लड़का, युवक, प्रौढ़, और वृद्ध कहते हैं।

शाम को हम बहुत से फल खाते हैं। जो फल हम खाते हैं वे दूसरे पल हमारे पेट से मल के रूप में बाहर आ जाते हैं। हम फल को बहुत अच्छा मानते हैं और परित्यक्त मल को सबसे खराब, किन्तु हैं वे एक ही पदार्थ के दो प्रकट रूप। शोक और हर्ष दो विलग अस्तित्व नहीं हैं। जब पीड़ा का अन्त होता है, हर्ष का प्रारम्भ होता है और जब हर्ष का अन्त होता है पीड़ा का प्रारम्भ होता है। जैसे ही सूर्योदय होता है दिन का प्रारम्भ होता है और जैसे ही सूर्यास्त होता है रात्रि का आरम्भ होता है। रात और दिन के अन्तर को प्रकट करने के लिये दो सूर्य नहीं होते हैं। यदि हम गहराई के साथ सोचें तो हमें ज्ञात होगा कि न तो सूर्य उगता है न अस्त होता है केवल पृथ्वी के घूमने के कारण हमें लगता है कि सूर्य आता है और जाता है। यदि ज्ञान के आधार पर द्वैत के सिद्धान्त पर विचार करें तो पायेंगे कि इस द्वैत के परे एकता है। यह तो केवल एक ब्रह्म ही है अथवा फिर तीन हैं ईश्वर, जीव और प्रकृति। अद्वैत ईश्वर, जीव और प्रकृति की एकता का उपदेश देता है। प्रकृति उसका स्थूल रूप है और जीव उसका सूक्ष्म रूप है। एक ही जीवन स्थूल और सूक्ष्म में स्पंदित है।

एक और आधार यहाँ आपको बता दिया जाये। हमारे शरीरों की प्राण वायुओं से उत्पादित महा अग्नि में जब हम कोई भी पदार्थ डालते हैं तो बह किसी पवित्र रूप में परिवर्तित हो जाता है। समर्पण की इस प्रक्रिया के द्वारा जीव ईश्वर में रूपान्तरित हो जाता है और आनन्द की चरम स्थिति में पहुंच जाता है और परमानन्द में लीन हो जाता है। परमानन्द की स्थिति को जानने के लिये भागवत् गीता को हम आधार बना सकते हैं। ईश्वर जो महाकर्म स्वरूप है, वह कर्मरूप धारण करके कृष्ण बन कर प्रकट होता है। जब कृष्ण कर्मरूप संदेश देता है, अर्जुन स्थूल रूप धारण करता है। जब तक अर्जुन स्थूल रूप बना गीता सुनता है तब तक वह उसके पूर्ण महत्व को नहीं समझ पाता है। अर्जुन जब भगवान से प्रार्थना करता है कि उसके स्थूल रूप में जो ऊपर से महान् पर्दा पड़ा है उसे हटा लिया जाये और जब वह पर्दा हटा लिया जाता है तब ही उपदेश को समझ पाता है और फिर उसे

अपने व्यावहारिक जीवन में आत्म-सात कर लेता है। अर्जुन ने जो कुछ विषाद का पहले अनुभव किया वह सब उसके स्थूल रूप के कारण ही था। अर्जुन को उस रण-क्षेत्र में घोर मानसिक संताप भुगतना पड़ा क्योंकि उसने अपने सामने खड़े लोगों को अपने परिवार के सगे-सम्बन्धी, नाते रिश्तेदार और दादा व गुरुजनों के रूप में महत्वपूर्ण समझा। बाद में जब अर्जुन गीता के महत्व को समझ गया, उसके सब संशयों का नाश हो गया क्योंकि उसने भगवान के विश्वरूप दर्शन किए। धृतराष्ट्र ने भी वही गीता सुनी थी किन्तु उसे ज्ञान की उपलब्धि नहीं हुई क्योंकि धृतराष्ट्र ने उसे केवल अपने स्थूल रूप में सुना। हम जो बात सुनें उसे हमें अपनी सजग चेतना के साथ सुनना चाहिए। केवल कानों से सुन लेना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि उस पर हमें चिन्तन, मनन और निध्यासन करना चाहिये और फिर उसे अपने व्यवहारिक जीवन में इस प्रकार व्यवहार में लाना चाहिये कि वह हमारी स्वाभाविक आदत बन जाये। तब ही जो कुछ हम सुनते हैं उससे पोषण, मनोरंजन और सुख प्राप्त हो सकता है। हमारा जो कुछ भी सुख-भोग है उसे हम तीन भागों में बांट सकते हैं, प्रिय, प्रमोद और मोद। जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं जो हमारी रुचि का होता हैं तो हमें बड़ी प्रसन्नता होती है, वह प्रिय है। जब हमें वह रुचिकर प्रिय पदार्थ प्राप्त होता है तो हमें जो प्रसन्नता होती है वह मोद है। प्रमोद वह सर्वोच्च प्रसन्नता है जो हमें इस अनुभव के साथ होती है कि हमने वह प्रिय पदार्थ वास्तव में प्राप्त कर लिया है। आजकल हम प्रिय का प्रयोग अर्थहीन रूप में करते हैं। प्रिय होता है किसी पदार्थ को केवल देखना किन्तु उसको प्राप्त करके उसका आनन्द नहीं लेना। हमें प्रमोद के भाव का विकास करना चाहिये और प्रमोद के माध्यम से पदार्थ के लिए प्रिय का भाव विकसित करना चाहिये। हम केवल प्रिय और मोद की अभितृप्ति के द्वारा ही वास्तविक आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते। आप भगवान के रूप का दर्शन करना चाहते हैं। जब आप केवल देखते हैं तो वह केवल प्रिय है और आपको अधिक सन्तोष नहीं प्राप्त होता। यदि प्रिय पदार्थ को आप प्राप्त करके उस पर अधिकार कर लें तो आपको अधिक प्रसन्नता होती है, सुख मिलता है। जब आप उसका पूर्ण आनन्द लेते हैं तो आप उसके और वह आपका अंग बन जाता है। यदि आप दुकान पर मिष्ठान्न देखें तो वह प्रिय होता है किन्तु उससे आपकी तृप्ति नहीं होती, आपका पेट नहीं भरता इसलिए उसका सुख नहीं मिलता। किन्तु जब आप उसे प्राप्त कर लेते हैं तो आपको मोद होता है कि आप किसी भी समय उसे खा सकते हैं। किन्तु यह अधूरी ही स्थिति है। मिठाई आपके हाथ में है, आप अपने मित्र से बात कर रहे हैं, कोई बन्दर आकर मिठाई आपके हाथ से छीन कर ले जा सकता है। आप उसको खा सकेंगे। निश्चित रूप से नहीं कह

सकते । आपको पूर्ण सन्तोष और तृप्ति तो तभी हो सकती है जब आप उसे खा लें—वह आपके पेट में पहुंच जाये और आपका ही एक अंग बन जाये । तब ही आपको पूर्ण प्रसन्नता और सुख का अनुभव होता है । आपको अपनी पूर्ण परिपृच्छा और अन्वेषण के बाद स्वीकार्य सत्य को इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि वह आपका अभिन्न और अविभाज्य अंग बन जाये । यह क्रमिक अनुशासन कहलाता है । उचित अनुशासन के पालन से कर्त्तव्य तक पहुंचते हैं । यदि आप मिठाई देखकर उसको प्राप्त करने के लिए वैसे ही उठा लेते हैं या छीनते हैं तो वह चोरी कहलाती है । यदि आपकी जेब में पैसे हैं, आप मिठाई का मूल्य चुका कर उसे ग्रहण करते हैं तो आप उसको खाने के अधिकारी बनते हैं । यदि आपकी मिठाई खाने की इच्छा प्रबल है और उसके बिना नहीं रह सकते किन्तु आपके पास पैसे भी नहीं हैं तो फिर आप को मिठाई दुकानदार से मांग कर लेनी होगी । वह आपको दे सकता है । इसी प्रकार यदि आप मोक्ष का आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु साथ में यह भी अनुभव करते हैं कि आप में उसकी प्राप्ति के लिए शक्ति और सामर्थ्य नहीं है जो उसकी प्राप्ति के लिये आवश्यक है तो आपको ईश्वर से प्रार्थना करनी होगी और ईश्वर अपनी दया के वशीभूत आप पर अनुग्रह करके आपको वांछित योग्यता व सामर्थ्य प्रदान कर सकते हैं । इस प्रकार आप जो कुछ प्राप्त करते हैं वह सत्य है । सत्य ही ईश्वर है । सत्य को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है । दुर्भाग्यवश आजकल अपने अज्ञान के कारण आप मिथ्या उद्यम आरम्भ कर देते हैं । आपको वास्तव में किसी भी दशा में अनुशासन का त्याग नहीं करना चाहिये । जब आप पूर्णता की स्थिति में आ जायें तभी आप नियम और अनुशासनों को सिथिल करने या छोड़ने की बात सोच सकते हैं ।

आपको अपने जीवन में ब्रह्मचर्य से सन्यास आश्रम तक अपने सम्पूर्ण कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए । यदि आप अपने गांव में कोई मकान बनवाना चाहते हैं, तो सबसे पहले गांव के सम्बन्धित अधिकारी से इसके लिए अनुमति लेनी होगी, नक्शे पास करवाने होंगे । यदि आपको जंगलों में घूमते ही रहना है तो फिर बात दूसरी है—फिर उसमें किसी अधिकारी की सामान्यतः कोई आवश्यकता नहीं होती जब तक आप समाज में हैं अपको समाज के समस्त नियमों का, कर्त्तव्यों का, उत्तरदायित्वों का पालन करना होगा । प्रत्येक आश्रम में चाहे ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो या सन्यासी हो सबके कर्त्तव्य निर्धारित हैं जिनका उन्हें निश्चित रूप से पालन करना चाहिये । यह भली प्रकार याद रखना चाहिए कि जब आप अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का सूचारु रूप से पूरी तरह पालन करते हैं तभी आप कोई अधिकार प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा नहीं । आपको सदा उस स्थिति

में रहना चाहिये कि आप अपने माता-पिता, भाई-बहन व समाज को अपना पूर्ण सम्मान प्रदान करें और उनसे भी सम्मान और प्रेम प्राप्त करें। सम्मान प्राप्त करना एकपक्षीय नहीं होता, इसमें पहले देकर ही आप कुछ प्राप्त कर सकते हैं, यह आदान प्रदान का व्यवहार है। यदि आप सम्मान प्राप्त करने के इच्छुक हैं तो आपको दूसरों को सम्मान देना होगा। अर्जुन पहले श्री कृष्ण से तर्क करता है जो कि केवल एक बौद्धिक खेल है। बुद्धि कुछ सीमा तक ही पहुंचती है। बुद्धि तो हाथ में तलवार के समान है जिसका आप अच्छे और बुरे दोनों रूपों में उपयोग कर सकते हैं। अब यह किस व्यक्ति के हाथ में है, उस पर ही उसका भला या बुरा उपयोग निर्भर करता है। ईश्वर को समझने और प्राप्त करने के लिए साधना आवश्यक है, उसके लिये हमें दैविक मार्गों पर चलना पड़ेगा। यही मुख्य शिक्षा अर्जुन को भगवान ने दी थी। अर्जुन ने प्रश्न किया था, "अपने ही बन्धु-बान्धवों तथा स्वजनों को मार कर यह राज्य प्राप्त करके मैं क्या करूंगा? ऐसे राज्य से तो अच्छा है कि मैं भिक्षा के अन्न पर ही निर्भर रहूं।" श्री कृष्ण ने अर्जुन से पूछा, "यह बताओ कि तुम अपनी इच्छा के अनुसार काम करना चाहते हो या मेरी इच्छा के अनुसार? यदि तुम अपनी ही इच्छा के अनुसार काम करना चाहते हो तो तुम स्वतंत्र हो, कुछ भी करो और यदि मेरी इच्छा के अनुसार काम करना चाहते हो तो फिर तुम्हें जैसे मैं कहता हूं वैसा करना होगा।" यह तो केवल भगवान के निर्णय पर अवलम्बित रहता है कि क्या सही है और क्या गलत है। अर्जुन का चिन्तन उस समय भौतिक सम्बन्धों तक सीमित था, मनुष्य के साथ दैविक सम्बन्धों के आधार पर नहीं था। शारीरिक सम्बन्धों पर आधारित और सीमित प्रेम में स्वार्थ निहित होता है। उसकी तुलना हम कमरे में लगे विद्युत बल्ब के साथ कर सकते हैं। बल्ब का प्रकाश कमरे की दीवारों तक सीमित रहता है और इस प्रकार वह एक देशीय और स्वार्थपूर्ण होता है। अधिक उच्च धरातल पर प्रेम की तुलना चन्द्रमा के प्रकाश से की जा सकती है। उसमें प्रकाश भीतर और बाहर चारों दिशाओं में फैलता है। विशुद्ध प्रेम जो कि पूर्ण रूप से निःस्वार्थ होता है, सूर्य के प्रकाश के समान होता है। सूर्य के प्रकाश से हमें सारे पदार्थों का स्पष्ट स्वरूप दिखायी देने लगता है। ईश्वर का प्रेम सूर्य के प्रकाश के समान है। व्यक्ति का प्रेम कमरे में विद्युत बल्ब के समान है। व्यक्ति-गत प्रेम की स्थिति से आपको परमार्थिक प्रेम की ओर ऊपर उठाना चाहिए। श्री कृष्ण ने कहा, "यदि तुम मेरी इच्छाओं का पालन करते हो तो याद रखो मैं सत्य की रक्षा, असत्य का नाश और धर्म की स्थापना करने के लिए ही आया हूं।"

इन्द्रियों से परे (श्रेष्ठ) बुद्धि होती है और बुद्धि से परे आत्मा। एक गांव में दो भिखारी थे। एक अन्धा था और एक लंगड़ा। वे आपस में मित्र बन गये। लंगड़े की आंखें ठीक थीं तो अंधे की टांगें। इसलिए दोनों में समझौता हो गया कि दोनों एक दूसरे की कमी को पूरा करेंगे। लंगड़ा अंधे की पीठ पर लद गया और अंधे को इधर-उधर चलने के निर्देश-आदेश देने लगा। एक गाँव से दूसरे गांव को जाते समय मार्ग में एक ककड़ियों का खेत पड़ा। लंगड़े ने कहा कि वहां रुक कर खेत में से ककड़ियां खायी जायें। अंधे ने पूछा कि कहीं खेत का रखवाला तो नहीं है वहां लंगड़े ने कहा कि वहां कोई नहीं है। अंधे ने कहा कि यदि ककड़ियां अच्छी होतीं तो खेत का रखवाला अवश्य होता उसके चारों ओर बाड़ होती। चूंकि न खेत के चारों ओर सुरक्षा की व्यवस्था है और न ही उसकी कोई रक्षा करने वाला है, इसका अर्थ स्पष्ट है कि ककड़ियाँ कड़ुवी हैं। अंधा होते हुए भी वह अपनी बुद्धि के बल पर जान गया कि ककड़ियाँ खारी हैं। इन्द्रियां भले और बुरे का निर्णय नहीं कर सकती हैं यह तो कार्य बुद्धि का ही है। किन्तु बुद्धि उसको कार्य रूप में परिणित नहीं कर सकती। अर्जुन केवल बुद्धि के सहारे तर्क करता था। श्री कृष्ण ने उसके अज्ञान के मोटे आवरण को हटा दिया।

एक प्रश्न सदा पूछा जाता है। श्री कृष्ण सम्पूर्ण संसार के स्वामी हैं, जगत-पति हैं। वह सर्वव्यापक हैं किन्तु फिर भी वही श्री कृष्ण युद्ध भूमि में चालीस लाख मनुष्यों के विनाश के लिए उत्तरदायी हैं। यह हिंसा है या अहिंसा ? मेरा इस प्रश्न का उत्तर है :—एक व्यक्ति को समझिये पीठ में कैंसर हो गया है। कैंसर के फोड़े में लाखों किटाणु हैं। डाक्टर रुक कर यह विचार करता है मैं इन कीटाणुओं को मारूं या नहीं ? क्या यह डाक्टर का कर्तव्य नहीं कि वह रोगी के प्राण की रक्षा करे ? एक रोगी और लाखों कीटाणुओं में कौन डाक्टर के लिए अधिक महत्व का है। उसे किस की रक्षा करनी चाहिये ? डाक्टर उन किटाणुओं को भयंकर विपत्ति का कारण समझता है और संख्या का कोई विचार न करके गुण-दोषों पर विचार करते हुए कैन्सर का आपरेशन कर देता। इसी प्रकार उस समय संसार में कौरवों का उभ्युदय विषाक्त कैंसर वृद्धि के समान था जिसकी चीरफाड़ आवश्यक थी। इसलिए श्री कृष्ण ने एक योग्य शल्य चिकित्सक के रूप में वह शल्य क्रिया करवा डाली। स्वयं एक मुख्य शल्य चिकित्सक (चीफ सर्जन) बने, अर्जुन को अपना सहायक बनाया ओर शल्यकर्म (आपरेशन) किया जिसमें चालीस लाख कीटाणु मारे गये। इसलिये हमें सदा धर्म संरक्षण की बृहत्तर आवश्यकताओं पर विचार करना चाहिये क्योंकि धर्म संरक्षण किसी भी अन्य बात से अधिक महत्वपूर्ण होता है और हम

नैतिक जीवन बिता कर ही उसे पूर्णता तक पहुंचा सकते हैं। जीवन की महानता धन-सम्पत्ति के संचय में नहीं है। सदा याद रखो कि धन आता है और जाता हैकिन्तु नैतिकता आती है और बढ़ती है। नैतिकता का यह दृष्टि कोण ही भारत वर्ष की अनादिकाल से रक्षा करता चला आ रहा है। किन्तु खेद है कि आज समाज में नैतिकता का अभाव होता चला आ रहा है। जीवन का कोई भी क्षेत्र, आर्थिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक और अन्य क्षेत्र भी नैतिकता के इस अभाव से ग्रसित हैं। आज मैं चाहता हूं और आशा करता हूं कि विद्यार्थीगणों को यह याद रखना चाहिये कि उन्हें नैतिकता द्वारा अपने जीवन को ऊंचा उठाना है क्योंकि उसके बल पर ही वे भारत की महान् संस्कृति को ऊंचा उठा सकते हैं। यदि धर्म के मार्ग का पालन करेंगे तो उज्ज्वल भविष्य उनकी प्रतीक्षा में खड़ा होगा।

———

२०

सुख और दुख साथ-साथ आते हैं

यदि डंडे से अपने पैर के टखने ही ठकोरते रहें तो आप सर्प को नहीं मार सकते हैं। बिना शरीर पर विजय प्राप्त किये आप सत्य को नहीं जान सकते हैं। इसी प्रकार भूख और प्यास पर विजय प्राप्त किये बिना आप परम सत्य को नहीं जान सकते हैं। यदि आपको अपने स्वयं का ही ज्ञान नहीं है तो आप मानव नहीं कहला सकते। नवयुवक विद्यार्थियों! गत एक माह से आप बड़े उत्साह-वर्धक भाषण और पवित्र और प्रेरक वार्तायें सुनते रहे हैं तथा यह एक माह आपके जीवन का एक स्वर्णिम और चिरस्मर्णीय काल बन गया है। इतना ही पर्याप्त नहीं है कि केवल आप इन सब भाषणों को सुनकर भगवान का पूर्ण अनुग्रह पा जायेंगे और उससे आपको अध्यात्म की प्राप्ति हो जायेगी। सत्य के अमूल्य रत्नों को, जो आपको यहां प्राप्त हुये हैं, अपने हृदय की तिजोरी में सुरक्षित रूप से रखने चाहिये और सदा के लिए स्थायी रूप से उन्हें अपना कर रखना चाहिए। इतना ही पर्याप्त नहीं है कि इस ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रम में सम्मिलित हो जाने के लिये अपने भाग्य को सराहते रहें। अनेकों पक्षी हरे रंग के होते हैं किन्तु क्या वे सब तोते के समान मधुर बोल सकते हैं? अनेकों प्रकार की मक्खियां व कीड़े होते हैं, किन्तु क्या उन सबको शहद की मक्खी कह सकते हैं? क्या कोई गधा शेर की खाल ओढ़ लेने से शेर बन सकता है? नहीं, वह शेर नहीं बन सकता इस संसार में कुछ भी ऐसा नहीं है जो जाना या समझा नहीं जा सके। जिन बहुमूल्य उपदेशों और शिक्षाओं को प्राप्त करने का आप को यह महान् सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उसके द्वारा कोई भी अपने जीवन, शरीर और समय को पवित्र और महान् बना सकता है। किन्तु यदि मनुष्य अपने वास्तविक स्वभाव को नहीं समझता है और उसका अनुभव नहीं करता है और अपने निज के स्वत्व को ही भुला देने वाली गतिविधियों और क्रिया-कलापों में लीन रहता है तो उसे कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। सबसे पहले मनुष्य को यह जानने के प्रयत्न

करने चाहिये कि वह स्वयं कौन है ? केवल तब ही वह सरलता के साथ अपने प्रयत्नों के सुफल प्राप्त कर सकता है । मनुष्य की गणना भी जीव के रूप में पशुओं के साथ होती है । मानव के रूप में जन्म लेना बड़ा दुर्लभ होता है । क्योंकि पशुओं में उसका सर्वोच्च स्थान होता है । यह तो सभी जानते हैं कि पशु केवल अपने पेट की पूर्ति के लिए चिन्तित रहता है । पशु के लिए यही सबसे बड़ा और प्रमुख कार्य है ।

आपने अपने घरों में गाय देखी होंगी कि जैसे ही उसकी रस्सी खोली जाती है वह सीधी उस स्थान पर जाती है जहाँ उसे हरी घास चरने को मिलती है और वह वहाँ पहुंचते ही खाना शुरू कर देती है । अपने खाने के समय पशु कभी देर नहीं करता है और जो कुछ उसके सामने आता है, वह उसे जल्दी से जल्दी खाने का प्रयत्न करता है । पशु को खाते समय इस बात की चिन्ता नहीं होती है कि जो कुछ वह खाता है उसका साथ साथ पाचन होता है या नहीं । जब पशु खा कर कहीं बैठ जाता है या अपने बन्धने के स्थान पर वापस आता है तब पागुर (जुगाली) करता है और खाये हुए को पचाता है । गाय भी इसी प्रकार पहले जो कुछ उसे खाना होता है, खा लेती है और फिर उसके बाद उसे पागुर करके पचाती है । इसी प्रकार जिन्हें इस ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रम से प्रातः से सायंकाल तक प्रति दिन लाभ उठाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे भूखे पशु के समान जो कुछ सुनते हैं, उसे अपने अन्तर में इकट्ठा करते जाते हैं और उनकी दशा उस पशु के समान होती है जो चारा सामने होने पर खाता चला जाता है । आप सब लोग पूरे एक माह से इसी प्रकार खाते चले आ रहे हैं । किन्तु यह ऐसा भोजन है जो हर किसी को चाहे जिस स्थान पर नहीं मिल सकता है । आपको एक माह तक शिक्षित अनुभवी पुरुषों और विद्वानों के भाषणों के रूप में शुद्ध सात्विक और पोषक भोजन प्राप्त होता रहा है । इस आध्यात्मिक भोजन को पचाने और आत्म-सात करने के लिए आपको अपने-अपने नगरों को वापिस लौटने पर गहराई के साथ चिन्तन मनन करना होगा । यदि कोई पशु खाने के बाद पागुर नहीं करता है तो समझा जाता है कि वह बीमार है । आपको भी चाहिये कि यहां एक माह तक जो कुछ सुना है उसे मनन करके पचायें, उस पर अपना पूर्ण अधिकार कर लें, उसे अपने जीवन का अंग बना लें, तब ही वास्तव में आपका यहां आना और ठहरना पूर्ण रूप से सफल होगा । इसके विपरीत यदि आपने जो कुछ यहां सुना है उसे यहीं छोड़कर जिस रूप में आप थे उसी रूप में लौटते हैं, आप यहां से ग्रहण करके कुछ भी अपने साथ नहीं ले जाते हैं, आप में कुछ भी परिवर्तन नहीं आता है तो फिर आपका जीवन आकर्षणहीन और अरुचिकर होगा । किन्तु खेद की बात तो यह है कि आजकल युवकों की दशा तो ऐसी है कि वे सत्य-असत्य, शुद्ध-अशुद्ध, भले-बुरे के

बीच के अन्तर को नहीं समझते हैं। नवयुवक ही क्या आजकल बड़े लोग भी इस कलियुग में मतिभ्रम में पड़े है क्योंकि वे भी यह नहीं जानते हैं कि भले और बुरे, सत्य और असत्य, शुभ और अशुभ, सुख और दुख में वास्तविक रूप में क्या अन्तर है। हमारे विवेक की उस समय कठिन परीक्षा होती है जब एक बात जो किसी समय ठीक लगती थी किसी अन्य समय गलत लगती है, जो कुछ उचित समझा जाता है, अन्य समय अनुचित हो जाता है, एक समय जो वस्तु हमारे स्वास्थ्य के लिए अतिहितकर समझी जाती है, किसी अन्य समय वह ही हमारे स्वास्थ्य के लिए घातक बन जाती है।

हम शुद्ध और पवित्र भोजन करते हैं, शुद्ध और पवित्र जल पीते हैं किन्तु वह भोजन और जल कुछ समय के बाद हमें अपवित्र और दूषित मल और मूत्र के रूप में त्यागना पड़ता है। यह कहना बड़ा कठिन होता है कि क्या शुद्ध है और क्या अशुद्ध चाहे वह भोजन हो या अन्य कोई वस्तु। हमें इसे प्रकृति-धर्म कह कर यों ही नहीं छोड़ देना चाहिए। प्रकृति में पहले तो कुछ अपवित्रता होगी और उसे हमें उपयुक्त प्रक्रिया के द्वारा शुद्ध करना होगा। भूगर्भ-विज्ञान से सम्बन्धित वैज्ञानिक इस बात को भली प्रकार जानते हैं जब वे भूगर्भ में छिपे स्वर्ण का पता लगाते हैं तो पहले तो उस स्थान की खोज करते हैं जहां सोने के प्राप्त होने की सम्भावना होती है, फिर पृथ्वी को खोदते हैं, अशुद्ध स्वर्ण से युक्त ढेले निकालते हैं जिनमें अन्य धातुओं के अंश और तत्व मिले हुए होते हैं। मूल प्राकृतिक रूप में प्राप्त स्वर्ण में अनेकों अशुद्ध तत्व मिले होते हैं। उसका फिर शोधन किया जाता है और सारी अशुद्धियां और अवांछित पदार्थों को उससे अलग कर दिया जाता है और शुद्ध और पवित्र स्वर्ण प्राप्त करते हैं। सारे प्राकृतिक नियम इसी प्रकार के होंगे। प्रकृति के नियमानुसार, हमें उसके द्वारा निर्धारित आवश्यकताओं को पूरा करना पड़ता है जैसे निद्रा, भोजन आदि। किन्तु केवल इन प्राकृतिक नियमों का पालन करके ही किसी उच्च स्थिति में नहीं पहुंच सकते हैं। एक ही दृश्य से क्रोध भी उत्पन्न होता है तो दया भी। इस प्रकार प्रकृति के विरोधाभास को समझना बड़ा कठिन मालूम पड़ता है। हृदय ही सब भावों और आवेगों का, चाहे वे अच्छे हों या बुरे, उद्गम है; इसलिये विद्यार्थियों का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वे इस बात का पता लगायें और समझें कि हमारे पूर्वज किस प्रकार अपनी दृष्टि और विचार सदा शुभ पर ही केन्द्रित रखते थे। कुछ लोगों का तर्क होता है कि मनुष्य का जन्म ही कामनाओं की पूर्ति, इन्द्रियों की तृप्ति के लिये ही हुआ है। कुछ सोचते हैं सुख और संतोष के लिये धन और धान्य का संचय किया जाना चाहिये। यदि मनुष्य केवल पशुओं के समान अपने जीवन की गतिविधियों को

अपनी उदरपूर्ति में ही लगा देता है तो फिर उसमें और पशु में क्या अन्तर हुआ। क्या मानव-जीवन की सार्थकता धन-धान्य के संचय में ही है? पक्षियों को देखें जो कुछ भी खाने के लिए एकत्रित करके नहीं रखते किन्तु अपनी भूख मिटाने के लिये सीधे अपने खाद्य पदार्थ पर ही पहुंचते हैं। इसके विपरीत मनुष्य अपनी भावी संतति तक के लिए संचय करके रखता है। मनुष्य का जन्म उदर की भूख मिटाने के लिये नहीं हुआ है बल्कि उसका जन्म हुआ है आत्मा की भूख मिटाने के लिए।

हमें अपनी बुद्धि का विकास करना चाहिए क्योंकि बुद्धि की सहायता से ही सतत् विचार और विवेक के द्वारा हम भले और बुरे को, अच्छे और खराब को पहचान सकते हैं। हमें अपने मस्तिष्कों को केवल सांसारिक बातों से ही नहीं लादे रखना चाहिए बल्कि जो अच्छे सिद्धांत और उच्च विचार हमारे मन और मस्तिष्क में संचित होते हैं उन्हें क्रियान्वित करना चाहिए। विद्वान अनुभवी बड़े लोगों के भाषणों, पावन ग्रंथों और शास्त्रों के संदेशों से हमें उन सिद्धांतों का पता लगता है जिसके द्वारा विविधता और अनेकता में एकता को समझा और प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु ये सिद्धान्त केवल बातों और किताबों तक, केवल सिद्धान्त रूप में ही सीमित रह जाते हैं और दैनिक व्यवहारिक जीवन में उनका उपभोग नहीं होता है। ऐसे लोग ढूंढ़े भी नहीं मिलते जो इस प्रकार के उच्च पावन सिद्धान्तों को अपने जीवन में क्रियान्वित करके उनके सत्य को प्रत्यक्ष रूप में हमें समझा सकें। यदि हम विविधता और अनेकता में एकता को समझना चाहते हैं, तो हमें पहले इन शब्दों के अर्थों को समझना होगा। हम बड़ी सरलता के साथ कह सकते हैं कि शोक को मिटा कर हर्ष को प्राप्त करना ही सरल मार्ग है जो हमें आध्यात्मिक प्रकाश की ओर ले जाता है। इस सम्बन्ध में हमें शोक का स्वरूप भी समझना होगा तभी हम उसे मिटा सकेंगे। कभी-कभी हम किसी घटना या बात को बड़ा खेद पूर्ण मानते हैं किन्तु वही किसी समय हमें हर्ष प्रदायक होती है। इसी प्रकार कोई घटना जो एक समय हमें प्रसन्नता प्रदान करती है वही कुछ समय बाद हमारे दुःख का कारण बन जाती है। इसे एक उदाहरण से समझें। एक स्त्री को सन्तान प्राप्ति की बड़ी मनोकामना थी उसके एक पुत्र हुआ किन्तु दुर्भाग्य से दूसरे दिन ही उसे तीव्र ज्वर हुआ और उसका देहान्त हो गया। अब इसे हर्ष कहेंगे या शोक? पुत्र का जन्म जो हर्ष का कारण था, वही उसके दुःख का कारण बन गया। पुत्र के जन्म से पूर्व उसे अपार पीड़ा सहन करनी पड़ी। जब उसका जन्म हुआ तो पुत्र का मुख देख कर वह सारी वेदना भूल गयी और उसे अपार प्रसन्नता हुई, किन्तु वही पुत्र जो उसकी खुशी का कारण था, शोक का कारण बन गया। इस प्रकार शोक हर्ष में और हर्ष शोक में बदलता चला

गया और उसका कारण था एक ही। हम आये दिन अखबारों में अनेकों घटनायें पढ़ते हैं। एक नवविवाहित युगल अपने विवाहित जीवन के प्रारम्भिक दिनों में उत्तेजनापूर्ण उत्साह और आनन्द के दिन बिताते हुए एक दिन अपने कुछ मित्रों और सम्बन्धियों के साथ एक बस में यात्रा कर रहे हैं। दुर्भाग्य से बस दुर्घटनाग्रस्त हो जाती है और उनका उत्साह और आनन्द घोर दुख और शोक में परिणित हो जाता है। किसी की लाटरी का टिकट खुल जाता है और उसे एक लाख रुपया मिल जाता है। उसकी खुशियों का ठिकाना नहीं रहता—वह फूला नहीं समाता। किन्तु रात को डाका पड़ता है और सारा धन लुट जाता है। उसे जितना हर्ष नहीं हुआ था वह उससे कहीं अधिक दुख में डूब जाता है। कभी-कभी धन प्राप्त करके भी आदमी इस चिन्ता में पड़ जाता है कि वह उसको कैसे खर्च करे। जहां धन प्राप्त करने में एक ओर हर्ष होता है वहां दूसरी ओर उसके कारण चिन्ता भी बहुत बढ़ जाती है।

अनेकों व्यापारी बड़े-बड़े लाभ कमाते हैं और बड़े प्रसन्न होते हैं किन्तु जब उस लाभ की कमायी से आयकर देना पड़ता है तो वे उसे अपना नुकसान समझ कर दुखी होते हैं। इसलिए जीवन हर्ष-विषाद, सुख-दुख का मिला जुला तराना (संगीत) है। मनुष्य स्वयं यह निर्णय नहीं कर सकता कि हर्ष और विषाद में क्या अन्तर है। यह याद रखना चाहिए कि हर्ष के बिना शोक नहीं होता और शोक के बिना हर्ष नहीं होता। हमें यह दृष्टि अपनानी चाहिए कि जो दुख आता है वह अवश्य ही एक दिन सुख में बदल जाता है और जो सुख आता है वह दुख में बदल जाता है इसलिए दुख होने पर शोक और सुख मिलने पर हर्षित नहीं होना चाहिये बल्कि दोनों ही दशाओं में एक समान स्थिति में रहना चाहिए, समत्व बनाये रखना चाहिए। यह समत्व की स्थिति, स्थितिप्रज्ञता केवल आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण प्राप्त करके ही की जा सकती है।

एकता के इस ज्ञान का विकास और उसके द्वारा हर्ष और विषाद के प्रति यह समत्व का दृष्टिकोण प्राप्त करना कोई असम्भव नहीं है। आप लोग देश के विभिन्न भागों से आये है किन्तु यहां भाई-बहिनों के समान एक ही परिवार के सदस्यों के रूप में रह रहे हैं क्योंकि आपके अन्तर में एक ही समान धारा प्रवाहित है कि आप सब साई भक्त हैं। यहां साई एक है किन्तु व्यक्ति अनेक हैं। साई तत्व इस विविधता और अनेकता में एकता स्थापित करता है। मेरे हाथ में यह माला अनेकों प्रकार के रंग-बिरंगे और अलग-अलग खुशबू वाले फूलों की बनी है। फूल अनेकों हैं किन्तु माला एक है और उसकी एकता का सूत्र है वह धागा, जिसमें ये सब फूल पिरोये गये हैं। साई इस धागे के समान है जो सबको एक सूत्र में पिरोकर एक करता है। हम एक

दूसरी दृष्टि से विचार करें। कुछ पुष्प आज कली की ही अवस्था में हैं। कल उनका विकास होगा और अध खिले होंगे तथा परसों पूरी तरह से खिलकर पूर्ण विकसित पुष्प बन जायेंगे। आज आप युवक हैं, दस वर्ष बाद आप घरबार वाले गृहस्थ होंगे तथा पचास वर्ष बाद आप वृद्ध हो जायेंगे। विकास की यह प्रक्रिया अटल है। फूलों में परिवर्तन आता है किन्तु धागा वैसा ही रहता है। यह सूत्र अपरिवर्तनीय, सनातन और अनन्त है इसलिए ब्रह्म सूत्र कहलाता है। तत्व जो अपरिवर्तनीय, सनातन और अनन्त होता है ब्रह्म तत्व कहलाता है। मानव जीवन की अनेकों स्थितियां होती हैं यथा-जन्म, वृद्धि, विकास, क्षय और मृत्यु। यह शरीर विकारी है किन्तु इसमें निवास करने वाली आत्मा निर्विकारी है। गीता में इसको 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है। शरीर क्षेत्र है और परमात्मा क्षेत्रज्ञ है। हम प्रश्न करते हैं कि हम क्षेत्र में क्यों आते हैं। क्षेत्र को केवल देखने के लिए नहीं जाते बल्कि उसके स्वामी के दर्शन करने उनसे मिलने जाते हैं। जब हम काशी की तीर्थ यात्रा पर जाते हैं तो उद्देश्य काशी नगर को देखना नहीं होता बल्कि काशीपति भगवान विश्वनाथ के दर्शन करना होता है। क्योंकि भगवान विश्वनाथ काशी में विराजते हैं इसलिए काशी तीर्थ स्थान हो गया है। हम शरीर का, जो क्षेत्र है, क्यों पोषण करते हैं ? क्योंकि इसमें क्षेत्रज्ञ का वास है। जो केवल क्षेत्र को देखते हैं और केवल उसी के साथ सम्बन्ध रखते हैं, क्षेत्रज्ञ को नहीं देखते उन्हें व्यापारी कहा जा सकता है। अनेकों व्यापारी काशी जाते हैं साड़ियां आदि खरीदने के लिए किन्तु वे कभी भगवान विश्वनाथ के दर्शन के लिये मंदिर नहीं जाते। किन्तु जो भगवान विश्वनाथ के दर्शन के लिए काशी जाते हैं पहले मंदिर जाते हैं दर्शनों के लिए और भगवान के दर्शन करने के पश्चात् काशी के बाजारों में भी जाते हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को यह भली प्रकार याद रखना चाहिये कि क्षेत्र का अन्तिम लक्ष्य उसमें वास करने वाले क्षेत्रज्ञ का दर्शन प्राप्त करना है।

गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों ही हैं। क्षेत्रज्ञ के बिना क्षेत्र का और क्षेत्र के बिना क्षेत्रज्ञ का कोई अर्थ नहीं रहता। दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। इस कारण भगवान श्री कृष्ण ने कहा था कि मैं क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों ही हूं। उन्होंने कहा था कि वह दोनों में ही व्याप्त हैं किन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है। शब्दों को लें तो क्षेत्र में दो अक्षर हैं जबकि क्षेत्रज्ञ में तीन अक्षर। मुख्य अन्तर 'ज्ञ' का है जिसका अर्थ होता है 'ज्ञान स्वरूप'। क्षेत्रज्ञ का अर्थ है 'ज्ञान स्वरूप' और उसके अभाव में वह केवल क्षेत्र रह जाता है। यदि हम इस बात को सदा स्मरण रखें कि क्षेत्र, जो कि जड़ है, इसमें क्षेत्रज्ञ के निवास के कारण पवित्र है तो फिर कोई बुरा विचार नहीं आवेगा, कोई बुरा कर्म नहीं करेंगे।

जब कोई यह कहता है कि वह भगवान है तो हम यह आशा करते हैं कि वह समस्त मानव प्राणियों से तो ऊपर है ही। जब भगवान कोई गलती करते हैं तो हमें बड़ा आश्चर्य होता है कि भगवान होकर भी वह गलती करता है क्योंकि हमारे विचार में भगवान सदा सही कार्य करते हैं कभी गलत कार्य नहीं करते। मनुष्यों के विषय में ही जब हम किसी व्यक्ति को, जिसको हम उसके स्वभाव और व्यवहार के आधार पर सज्जन पुरुष मानते हैं, यदि कभी क्रोधित होते हुए देख लेते हैं तो हमें सन्देह होने लगते हैं कि क्या हम उसे सात्विक कह सकते हैं ? हम उसकी निन्दा करने लगते हैं और सोचते हैं कि यदि वह वास्तव में सज्जन होता तो ऐसा कभी नहीं करता। तो फिर क्या आप उस समय कोई बुरा कार्य करने की सोच सकते हैं जब आपको यह स्मरण हो कि परमात्मा का हमारे हृदय में वास है, जब आप अपने अन्तर में निवास करने वाले आत्म तत्व को पहचान लेंगे तो आप स्वतः ही सदा अच्छे कार्य करेंगे, सही दिशा में ही आपके कदम उठेंगे। आपको इस शरीर को भगवान के मन्दिर के समान समझना चाहिये और उस मन्दिर में भगवान की उपस्थिति का सदा स्मरण रखना चाहिये। किन्तु इस शरीर को देव-मन्दिर के स्थान पर दानव का वास स्थान बना लिया गया है, यह शरीर शैतान का घर बन गया है। आपको देव और दानव के निवास स्थानों के अन्तर को समझना चाहिए। ईश्वर के वास स्थान में सदा अखण्ड ज्योति नित्य निरन्तर जलती रहती है। जहां प्रकाश होता है वहां चमगादड़ नहीं आते हैं। जहाँ प्रकाश नहीं होता, सदा अंधकार रहता है, वहां चमगादड़ों की दुर्गन्ध से वातावरण दूषित रहता है। यदि आप अपने हृदय मन्दिर में शुद्ध विचारों की ज्योति नहीं जलायेंगे तो वह अंधकार से पूर्ण होगा, उसमें चमगादड़ अपना घर बसायेंगे और उसे दूषित कर देंगे। आपको यह सुनिश्चित करना चाहिये कि अन्तर में यह पावन ज्योति नित्य जलती रहे। अपने हृदय में प्रेम की ज्योति प्रदीप्त रखो, ज्ञान की ज्योति जलाये रखो भक्ति की ज्योति प्रज्ज्वलित रखो। जब तक यह ज्योति देदीप्यमान रहेगी, कुप्रवृत्तियों, बुराइयों रूपी चमगादड़ों का वहां प्रवेश नहीं हो सकेगा। साई कार्यों में नाम संकीर्तन एक मुख्य कार्यक्रम होता है। भगवान का नाम आपकी जिह्वा पर सदा नर्तन करते रहना चाहिये। आपकी गतिविधियों में नाम-संकीर्तन और नगर-संकीर्तन का मुख्य स्थान है। आप लोगों में से कुछ ऐसे भी हैं जो यह सोचते हैं कि हम अपनी जिह्वा से भगवान का नाम क्यों लें ? क्या मन में ही उनके नाम का स्मरण पर्याप्त नहीं है ? भगवान का नाम शक्तिशाली प्रकाश के लैम्प के समान है जिससे चारों ओर दूर-दूर तक प्रकाश फैल जाता है। भगवान का नाम कामधेनु के समान है जो मनवांछित फल प्रदायक है। अपने ईष्ट देव भगवान को नाम रूपी रस्सी से अपने हृदय रूपी खंभे से बांधे रखो। आपका मुख शरीर रूपी

घर का प्रवेश द्वार है जब आपके मुख्य द्वार पर नाम रूपी दीप जलता रहेगा तो फिर उसका प्रकाश बाहर भी रहेगा और भीतर भी। इसलिये पावन नाम की पवित्र ज्योति भीतर और बाहर प्रज्ज्वलित रखो (१)।

यदि हम अपने जीवन की एक वृक्ष के साथ तुलना करें तो पायेंगे कि जिस प्रकार वृक्ष पर बहुत से पक्षी आकर बैठते हैं इसी प्रकार हमारे जीवन रूपी वृक्ष पर अनेकों पक्षी आकर बैठते हैं। कुछ पक्षी वहां आकर विश्राम करते हैं, कुछ अपना भोजन करते हैं, और कुछ वैसे ही आकर चीखते-चिल्लाते और वातावरण को अशाँत करते हैं। हमारे घर के आंगन में यदि कोई वृक्ष होता है तो उस पर बैठे पक्षियों के शोर को बन्द करने के लिए हम बाहर जाते हैं, तालियां बजाकर उन पक्षियों को डरा कर उड़ा देते हैं। हमारे जीवन रूपी वृक्ष पर भी कुप्रवृत्तियों के उदंड पक्षी आकर बैठते हैं और हमारे विचारों को दूषित करते हैं। हमें उन्हें 'नाम' और 'ताल' के द्वारा उड़ा देना चाहिए। किन्तु ऐसा करके हमें क्या लाभ होगा? जब तक पक्षी वृक्ष पर बैठे रहते हैं, वातावरण तो अशान्त होता ही है, वृक्ष की छाया का क्षेत्र भी गंदा हो जाता है। जब पक्षी उड़ जाते हैं फिर गंदगी नहीं फैलती, स्थान स्वच्छ और पवित्र रहता है। शायद आप यह सोचें कि पक्षी तो उस पर फिर आ जायेंगे तो क्या होगा? यदि आप अपने मुख से नाम की ध्वनि करते हुये हाथों से ताली बजाते रहेंगे, तो पक्षी नहीं आयेंगे। इसलिए अपने मन को पवित्र बनाना और कुप्रवृत्तियों को अपने विचारों में आने से रोकना आपके जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। आपको सतत् रूप से नाम का जाप करते रहना चाहिए जिससे कि ये पक्षी फिर लौटें ही नहीं। मनुष्य की जिह्वा वह पवित्रतम उपकरण है जिसके द्वारा भगवान का मधुर और कोमल नाम लिया जा सकता है। इसलिए आपको अपनी जिह्वा से कोई अप शब्द, कुवचन या गंदी बात नहीं कहनी चाहिये क्योंकि वह बहुत ही पावन और पवित्र है। आपको इस ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रम में जो पवित्र और पावन बातें सीखने को मिलीं हैं उसमें एक यह बहुत ही महत्वपूर्ण सीख है कि अपनी जिह्वा को पवित्रता से पूर्ण तथा पवित्र पदार्थों, ध्वनियों और शब्दों से ही पोषित रखना चाहिये। इसी प्रकार आपको नेत्रों से बुरी वस्तुएं नहीं देखनी चाहियें, आपकी दृष्टि सदा अच्छी और उपयोगी वस्तुओं पर ही पड़े।

---

(१) रामनाम मणि दीप धरि, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरो जो चाहिय उजियार॥ —तुलसीदास

आप में से अनेकों सूरदास की कथा तो जानते होंगे। सूरदास अंधे थे। अपनी असीम अहेतु की कृपा के वशीभूत एक दिन भगवान श्री कृष्ण ने सूरदास से पूछा कि क्या तुम्हें अपने नेत्रों की दृष्टि चाहिए तो सूरदास ने उत्तर दिया, "यद्यपि लोगों के नेत्र होते हैं फिर भी वे अज्ञान में पड़े रहते हैं और आपके दर्शन करके भी आपके वास्तविक महान् रूप को नहीं पहचान पाते हैं। लोगों के कान होते हैं फिर भी वे बहरे ही बने रहते हैं वे आपके नाम के माधुर्य को नहीं सुनते और इसलिए उसके आनन्द से वंचित रह जाते हैं। किन्तु मुझे तो वह दृष्टि चाहिये जिसके द्वारा मैं आपके दिव्य रूप को देखता रहूं, मुझे ऐसे कान चाहियें जिससे आपके दिव्य नाम का रस पान करता रहूं।" प्रह्लाद कहता था, "इन कानों का क्या उपयोग यदि ये केवल पर्वत की गुफा के समान सदा शरीर में बने रहें। नेत्रों का बकरी की आंखों के समान सदा खुले रखने का क्या उपयोग यदि उनमें संसार के वास्तविक सत्य को जानने की उत्सुकता और ज्ञान का प्रकाश नहीं है। हमें अपने नेत्रों को बुरी बातों और दृश्यों को देखने के लिए खुले नहीं छोड़ देना चाहिये बल्कि उनका उपयोग अपने सम्माननीय माता-पिता, गुरुजनों और भगवान के दर्शन करने में करना चाहिये, शुभ वस्तुओं के देखने में करना चाहिये। किन्तु आजकल के विद्यार्थियों की दृष्टि तो गलियों की दीवारों पर चिपके सिनेमा के तथा अन्य अश्लील विज्ञापनों और पोस्टरों पर ही टिकती है। यदि आपकी दृष्टि इस ओर केन्द्रित रहती है तो आप अपने आपको ही खोदेंगे और आपका हृदय मानवीय गुणों से शून्य रह जायेगा। यदि आप अपने हृदय में बुरे विचारों को कोई स्थान देते हैं, तो आप अपने हृदय मंदिर को ही तुच्छ बनाते हैं, अपमानित करते हैं तो आपके जीवन का वास्तविक लक्ष्य समाप्त हो जायेगा।

प्रिय विद्यार्थियों! जब आप अपने-अपने स्थानों को लौट कर जायें तो कुसंगति का त्याग करें, खराब मित्रों की संगत में न रहें, सदा अपने मन और मस्तिष्क को ऊंचे उठाने वाले उत्तम विचारों से पूर्ण रखें। प्रतिदिन प्रातःकाल ब्रह्म-मुहूर्त में भगवान के नाम का जाप और संकीर्तन करने और दिन भर नाम स्मरण रखने का अभ्यास करना चाहिए। यहाँ आप लोगों ने प्रातः ४ या ५ बजे उठने का अभ्यास किया है किन्तु यदि घर लौटकर आप फिर वही दिन में नौ बजे सोकर उठने की लत पकड़ लेंगे तो आपसे बढ़कर कोई आलसी नहीं होगा। आप स्वयं अपने आपको ही अपमानित और लज्जित करेंगे। प्रातः जब उठें तो बिस्तर में ही बैठ जायें और भगवान का स्मरण करें और ऐसा सोचें कि सोकर उठना ऐसे ही है जैसे गर्भ से अभी बाहर आये हैं, अभी आपका जन्म हुआ है। जैसे ही उठो अपना अपना बोझ और भार भगवान के चरणों में डाल दें और उनसे प्रार्थना करें कि वे

आपके जीवन का मार्ग-दर्शन करें, आपको उच्च विचार, उत्तम कल्पनायें प्रदान करें, जिससे जीवन को उन्नत करने में सहायता प्राप्त हो। रात में सोते समय यह विचार करें कि दिन तो भगवान के आदेशों के अनुसार बिताया है या नहीं और फिर भगवान से अपनी दिन भर की गलतियों के लिये क्षमा याचना करें और आगे से धर्म के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरणा और मार्ग-दर्शन के लिए विनती करें। प्रात:काल संसारिक कामों में लगने से पूर्व ही भगवान में अपनी आस्था और विश्वास को दृढ़ करें और रात को सोते समय फिर यह प्रार्थना करें कि भगवान धर्म के मार्ग पर चलाते रहें उससे डिगने न दें और सहारा प्रदान करते रहें। यदि प्रात: उठते समय और रात्रि सोते समय इस प्रकार से प्रार्थना करते हुए दिन का प्रारम्भ और अन्त करेंगे तो उससे आपको जीवन के उच्चतर स्तरों तक पहुंचने में बहुत सहायता प्राप्त होगी। यदि स्नान करते समय आप भगवान के नाम का स्मरण करते हैं तो भगवान को ही स्नान कराने के समान होता है।

जब आप भोजन करें और आप पहले भगवान का स्मरण करें प्रथम ग्रास उन्हें समर्पित करें तो सारी बुराइयाँ दूर हो जायेंगी। भोजन भगवान का प्रसाद बन जायेगा। प्रसाद तो स्वयं ही स्वास्थ्य वर्धक रसायन या औषधि के समान होता है। शायद इन सब बातों का भली प्रकार पालन नहीं हो सकता है कि भोजन बनाने के बर्तन साफ, स्वच्छ और पवित्र हों, इसी प्रकार रसोई बनाने वाला हो, किन्तु आप यदि प्रथम ग्रास भगवान के नाम से अर्पित करेंगे, तो वह बिल्कुल पवित्र हो जायेगा। आप जब अपने नगर में जायेंगे तो वहां सेवा-समिति और सेवा-दल होंगे, उनमें आपको सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए। जो संकट में पड़े हों, कष्ट पा रहे हों और गरीब हों उनकी सदा सहायता करने की कोशिश करो। किसी समय में तमिलनाडु में एक कवि और पवित्र व्यक्ति रहता था। उसका नाम था मानिक वाची। वह अपने घर में वरण्डे में भगवान की मूर्ति के सामने बैठ जाता था और सुन्दर, मधुर गीत गाता था। उसके गीत यथा नाम तथा गुण के अनुसार थे; अर्थात् माणिक के समान आकर्षण, सुन्दर और उपयोगी। माणिकवाची अपने गीतों के माध्यम से मानवता की सेवा का संदेश देता था। एक दिन बड़े जोर की बरसात हो रही थी और वह गाँव में किसी अन्य के घर के छोटे से वरण्डे में बैठा था। एक आदमी आया और उसने भी उस वरण्डे में शरण लेने की इच्छा व्यक्त की और माणिकवाची ने स्वीकृति दे दी और कहा, "भाई यहां केवल एक व्यक्ति के लेटने के लिये जगह थी किन्तु जब तुम आ गये हो तो दोनों बैठे रहें।" थोड़ी देर बाद एक और आदमी आ गया। उसने भी वहां स्थान की मांग की और माणिक वाची ने उसे भी स्वीकृति दे दी और

कहा, "यहां केवल दो के बैठने के लिये जगह थी, अब चूंकि तुम भी यहां आ गये हो इसलिये तीनों खड़े हो जायें, तभी काम चल सकता है।" इस प्रकार माणिकवाची ने पारस्परिक सहयोग और सहायता की शिक्षा अपने व्यवहार के द्वारा दी और उसने किसी को भी वापस नहीं किया। यदि आपके पास तीन रोटियां हैं और कोई भूखा आपके पास आ जाता है तो एक रोटी आपको उसको दे देनी चाहिए। आपको इस प्रकार आवश्यकता में पड़े, जरूरतमंदों की अपनी योग्यता के अनुसार मदद करनी चाहिए, उन्हें भी जहां तक सम्भव हो अपनी अच्छी वस्तुओं के भागीदार बनाना चाहिए। तब ही फिर आप ईश्वर को प्रत्येक प्राणी और पदार्थ में खोजने के महान् सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप में अपना सकते हैं। इस सिद्धान्त का आपको दैनिक जीवन में अभ्यास करना चाहिए। आप सब लोगों का स्वामी के प्रति अपार प्रेम है, आप सब स्वामी की पूजा और प्रशंसा करते हैं किन्तु उस प्रेम, पूजा और प्रशंसा का कोई महत्व नहीं है यदि आप स्वामी के उपदेशों का पालन नहीं करते हैं, उनका उल्लंघन करते हैं तो आप चाहे पूजा न करते हों किन्तु स्वामी के शब्दों में विश्वास रखते हुए उनका पालन करते हैं तो तुम्हारे जीवन में स्वामी का अनुग्रह सदा बना रहेगा। यदि आप केवल भगवान का नाम लेते रहें और उनके आदेशों का पालन न करें तो ऐसे नाम लेने का क्या लाभ। यदि आप को तेज बुखार है और आप पैनिसिलिन इंजेक्शन का नाम लेते रहें तो उससे बुखार उतरेगा नहीं, वह तो पेनिसिलिन इंजेक्शन के लग जाने पर ही उतरेगा। जब आप भूखे हों और केवल आलू की सब्जी और चपाती या दाल-भात का नाम लेते रहें तो भूख मिटेगी नहीं, वह तो खाने पर ही मिटेगी। इसी प्रकार यदि आप केवल सुनते ही रहेंगे तो उसका कोई उपयोग नहीं होगा। आपने जो एक महीने तक भाषण सुने हैं वे आपको याद होने चाहियें, उन्हें जीवन में व्यावहारिक रूप में अपनाने के प्रयत्न किये जाने चाहिये और अपना आत्म-निरीक्षण करते रहना चाहिए कि उनको किस सीमा तक आप अपने व्यावहारिक जीवन में अपना सके हैं। आपके माता-पिता आप में आये परिवर्तन को स्पष्ट पहचान सकें और कह सकें। आपको चाहिये कि अपने अन्दर आये वास्तविक परिवर्तन का अपने कार्य और व्यवहार के द्वारा सबको परिचय करवा दें कि भारतीय संस्कृति के महान सिद्धान्तों और उनकी सार्थकता का आप कितना पालन करते हैं?

२१
विद्या ददाति विनयम्

भारतवर्ष एक पवित्र देश है और इस पवित्र देश में सहिष्णुता सदा से प्रधान गुण रहा है। सभी व्रतों में, आचरण के लिए मान्य नियमों में सत्य का व्रत सर्वोपरि महत्व रखता है। सर्वोच्च और मधुरतम् भाव मातृ-प्रेम अर्थात् वात्सल्य होता है। भारतवर्ष में सदा से जीवन से अधिक महत्व सम्मान को दिया जाता रहा है। खेद है कि आज इन मूल्यवान प्रशंसनीय आदर्शों को भुला दिया है और पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण कर रहे हैं। हमने अपनी शक्ति और सामर्थ्य को इसी प्रकार भुला दिया है जैसे हाथी अपनी शक्ति को भुलाये रहता है। आज यहां प्रथम पंक्ति में वे विद्वत्जन बैठे हैं जिन्होंने एक माह तक, पाठ्यक्रम में भाग लेने वाले युवा विद्यार्थियों को आत्म-ज्ञान का उपदेश दिया है। इन्होंने आपको हमारे प्राचीन पवित्र धर्म ग्रंथों, शास्त्रों, उपनिषदों और वेदों के ज्ञान और उपदेशों को समझा है और हमारी महान् भारतीय संस्कृति का आपको स्मरण करवाया है। आज यहां से एक दूसरे से अलग होने के अवसर पर बिछोह की भावना सता रही है किन्तु साथ ही अध्यापक और विद्यार्थी के बीच एकता की भावना भी है। आजकल हम मकान, सम्पत्ति, भौतिक पदार्थों को धन मानते हैं और अस्थायी मूल्यों के इन पदार्थों के पीछे पागलों की तरह दौड़ते हैं किन्तु वह पदार्थ वास्तविक अर्थों में धन नहीं होता जो हमें केवल इन्द्रिय सुख प्रदान करे। चरित्र हमारा धन है और अच्छा आचरण खजाना। ईश्वरीय ज्ञान इन दोनों का मूल आधार है। हमें इस चिरस्थायी मूल्यवान और अनन्त अपार धन को, अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान-प्राप्ति के स्थान पर बादलों के समान क्षणिक सुख के अनित्य और अस्थायी साधनों के पीछे नहीं भागना चाहिये। हमें यह भी जान लेना चाहिए कि जो लोग हमारे देश में किसी समय धन सम्पत्ति और वैभव के अधिपति राजा थे वे आज सामान्य व्यक्ति बन गए

हैं और दूसरी ओर कुछ ऐसे भी हैं जो अति सामान्य स्थिति से हटकर राजाओं के समान स्थिति में पहुंच गये हैं और भौतिक सुख साधनों और सम्पत्ति का सुख भोग रहे हैं। इसलिये हमें स्थायी सुख और वास्तविक आनन्द को अनित्य, अस्थायी और बदलते रहने वाले सुख के समान नहीं समझना चाहिए और वास्तविक सच्चे सुख को प्राप्त करने के ही प्रयत्न करने चाहिये।

बरसात के दिनों में जब तालाब पानी से भरा होता है, उसमें हजारों मेंढ़क होते हैं, किन्तु जब पानी सूखता है तो मेंढ़क उछल कर बाहर भाग जाते हैं। इस प्रकार इस संसार में जब किसी के पास धन और सत्ता होती है तो लोग उसके चारों ओर एकत्रित हो जाते हैं किन्तु जब वही व्यक्ति मुसीबत में फंसा होता है, उसके दिन फिर जाते हैं तो उसके घनिष्टतम मित्र भी उसका साथ छोड़ देते हैं। मनुष्य का यही परम कर्त्तव्य है कि वह इस बात को जाने कि वह क्या है जो उसका कभी साथ नहीं छोड़ेगा ओर फिर उसे उसी निधि को प्राप्त करने के प्रयत्न करने चाहिए। भारत के इतिहास ने महान् घटनाओं और विख्यात व्यक्तियों के उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत किये हैं। हमें रावण, हिरण्यकश्यप और अनेकों दूसरे लोगों के उदाहरण हमारे सामने आते हैं जो भौतिक वैभव, धन, सम्पत्ति और सत्ता के मद में सबको अपमानित करने पर उतारु रहते थे। उन सब का अन्त में घोर पतन हुआ। आज तो लोग भौतिक और सुख-साधनों के संचय के अभिमान में गर्त है और जीवन के उच्चतर मूल्यों की उपेक्षा और निरादर करते हैं उन्हें यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि वही विनाश उनकी भी प्रतीक्षा में है। विश्वामित्र को अपनी तपस्या और भौतिक शक्ति का बड़ा अभिमान था। उन्होंने वसिष्ठ सदृश्य ब्रह्म ऋषि तक को ललकारा था अन्त में विश्वामित्र को यह अनुभव हुआ कि जो दैविक या आध्यात्मिक शक्ति वसिष्ठ में थी वह उनमें नहीं थी और वही शक्ति सब शक्तियों से श्रेष्ठ और सर्वोच्च होती है। हमारे यहां की एक परम्परा है जिसे विद्यार्थियों को सदा याद रखना चाहिये। श्रीकृष्ण ने अर्जुन और दुर्योधन से एक प्रश्न किया, "देखो ! मेरे पास दो चीजें हैं। एक तो है मेरी सेना और दूसरे मैं स्वयं हूं। आप को इन दोनों में से क्या चाहिए ?" दुर्योधन तो दुर्बुद्धि था ही, उसका विश्वास भौतिक बल में था, उसे संख्या में शक्ति दिखाई दी इसलिये उसने श्रीकृष्ण अकेले के अपने पक्ष में लेने के स्थान पर उनकी सेना को लेने के लिये अपनी सम्पत्ति दी। किन्तु अर्जुन चतुर और दूर की सोचने वाला विवेकी था इसलिए उसने सोचा कि यदि श्रीकृष्ण उसके पक्ष में रहे तो वह सब कुछ प्राप्त कर सकता है। इसलिये अर्जुन ने कहा, "भगवान, आप तो मेरे रथ के सारथी बनने की कृपा करें न केवल मेरे रथ

के बल्कि आप मेरे जीवन-रथ के सारथी बन जायें। आपका सान्निध्य ही मेरी अनन्त निधि है।" दुर्योधन को संख्या का प्रलोभन था तो अर्जुन को सारथी का। आज हमको जीवन के उच्चतर मूल्यों की ओर अपनी दृष्टि केन्द्रित करनी चाहिए न कि मिथ्या आकर्षण में फ़ंस कर निम्नतर मूल्यों के पीछे पागलों की तरह भागना चाहिए। ईश्वर की इस सृष्टि में मनुष्य श्रेष्ठतम प्राणी है, किन्तु आजकल वह पशुओं, बन्दरों के समान इस प्रकार का नीच व्यवहार कर रहा है कि उसमें देवत्य का अंश भी दिखाई नहीं देता, जीवन के उच्चतर मूल्य उसकी दृष्टि से बिल्कुल ओझल और स्मृति पटल से साफ हो गये लगते हैं। मनुष्य के जीवन-रथ के, जिस पर बैठ कर वह अपने लक्ष्य तक सुरक्षित पहुंच सकता है, चार पहिये हैं चरित्र, सत्य, त्याग और सहिष्णुता। मनुष्य इन सब बातों को, जीवन के वास्तविक अर्थ को अपने सत्य स्वरूप को बिल्कुल भुलाये बैठा है। अच्छी शिक्षा ही मनुष्य को उसके अन्तर में छिपी शक्तियों का बोध कराती है किन्तु आजकल शिक्षा के नाम पर केवल पुस्तकें पढ़ कर जीवन के बहुमूल्य समय को व्यर्थ गवाया जा रहा है। किताबी ज्ञान तो बढ़ता जा रहा है किन्तु उसी अनुपात में अनुभव नहीं बढ़ रहा है, वास्तविक सत्य का बोध नहीं हो रहा है। यदि हम किसी भी कॉलेज का लेखा-जोखा लें तो पायेंगे कि विद्यार्थी जितने अंक प्राप्त करते हैं उससे अधिक संख्या में वे अपने विरुद्ध टीका-टिप्पणियां भी प्राप्त करते हैं। वास्तविक अंक तो इसमें है कि विरोध में कोई टिप्पणी हो ही नहीं।

वास्तविक शिक्षा चाहती है विनम्रता का भाव उत्पन्न करना। "विद्या ददाति विनयं—विद्या विनयशील बनाती है। जिसमें विनय नहीं वह विद्या नहीं। किन्तु विनयशीलता का तो आज के विद्यार्थी में नितान्त अभाव है। शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच, विद्यार्थियों और शिक्षा संस्थाओं के बीच अनेकों भेद-भाव और झगड़े रहते हैं और संघर्ष चलते हैं। जब हम इन सब समस्याओं पर विचार करते हैं कि ये भेद क्यों हैं, ऐसी संघर्ष पूर्ण स्थितियाँ क्यों पैदा होती हैं और बढ़ती जाती हैं इसके लिये कौन उत्तरदायी है, तो अधिकतर यह देखने में आता है कि न तो इसमें अध्यापक दोषी हैं और न विद्यार्थी और सारे झगड़े की जड़ पाये जाते हैं राजनीतिज्ञ जो अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करते हैं। विद्यार्थी तो मूल रूप से पवित्र होता है, उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। आज इन विद्यार्थियों ने जो श्वेत पोशाक धारण कर रखी है वह युवक की नैसर्गिक पवित्रता की प्रतीक है। वे गत एक माह से 'व्हाईट फील्ड' (बृन्दावन) में रह रहे हैं और यह व्हाइट ड्रेस (सफेद पोशाक) इस स्थान के नाम के अनुरूप भी है। आपका

हृदय फील्ड अर्थात् क्षेत्र है। आप जब तक बृन्दावन में है तब तक पवित्र रहें इतना ही आवश्यक नहीं है बल्कि आपके हृदय ही 'व्हाइट फील्ड' अर्थात् पवित्र क्षेत्र— वृन्दावन बन जाने चाहिए। जैसा अभी बताया अनेकों लोग विद्यार्थियों के पास पहुंचते हैं और उन्हें गुमराह करते हैं, पथभ्रष्ट बनाते हैं तथा अपने स्वार्थों को सिद्ध करने के लिये विद्यार्थियों को अपना हथियार बनाते हैं। विद्यार्थियों को ऐसे स्वार्थी तत्वों के चंगुल में नहीं फंसना चाहिए, राजनीतिज्ञों की चालबाजियों के शिकार बनकर अपने भविष्य को नहीं बिगाड़ना चाहिये। सर्व-प्रथम आपको अपने निर्माण का कार्य करना चाहिये और अपने स्वयं के लिये सच्ची प्रसन्नता और सुख अर्जित करने चाहिये। पहले आत्म-संतोष के लिए कार्य करना प्रारम्भ करो। आत्म-संतोष होने पर ही आप में आत्म-विश्वास पैदा हो सकता है। विद्यार्थी के रूप में आपको अपना सारा समय अध्ययन में बिताना चाहिए। जब अपना शिक्षण पूर्ण कर लें और शिक्षा संस्थान की चार दीवारी के बाहर हो जायें तो फिर अपने कार्य-क्षेत्र को विस्तृत कर आप देश सेवा के कार्य कर सकते हैं। जब तक आपका हृदय पवित्र नहीं है, आपकी शक्तियां विकसित नहीं हैं तब तक आप अपने देश के नेता नहीं बन सकते हैं। जब पानी की टंकी भरी हो तब ही उसका पानी नल में खोला जा सकता है। जब आप अपने हृदय को उत्तम विचारों, शक्तिशाली आदर्शों और विनम्र भावनाओं से भर लेंगे तब ही आप उन्हें अपने देश में उसी प्रकार प्रवाहित और वितरित कर सकेंगे जिस प्रकार भरी हुई टंकी का जल नल के द्वारा प्रवाहित और वितरित होता है और सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जब कभी विद्यार्थियों और शिक्षा संस्थानों के बीच कोई मत-भेद पैदा हो तो सम्बन्धित अधिकारियों के सामने अपनी बात शान्ति पूर्ण और विनम्र ढंग से रखना विद्यार्थियों का कर्त्तव्य है। विद्यार्थियों की विनम्रता के सामने प्राधिकारियों को भी विनम्र होना पड़ेगा और विद्यार्थियों के प्रतिवेदनों पर विचार करना पड़ेगा। यदि इसके विपरीत विद्यार्थी उपद्रव करते हैं, उग्र विरोध और प्रदर्शन नारे बाजी और तोड़-फोड़ का मार्ग अपनाते हैं तो वे अपने जीवन के मुख्य कर्त्तव्य भूल जाते हैं। विद्यार्थी को जिसका मुख्य कर्त्तव्य विद्योपार्जन और ज्ञानार्जन है, अविद्या और अज्ञान के मार्ग को नहीं अपनाना चाहिए। यदि आन्दोलन और उपद्रव करके अपनी कोई बात मनवाने में सफलता भी प्राप्त कर ली तो इस प्रकार प्राप्त उपलब्धि विद्यार्थियों के लिये स्थाई रूप से लाभदायक नहीं हो सकती है। इसलिये विद्यार्थियों को अपनी बातें शान्ति और विनम्रता के साथ प्रस्तुत करने की आदत होनी चाहिये जिससे कि उनके गुरुजन उनकी बातों पर शान्ति और विनम्रता के साथ विचार कर सकें। कुछ लोग क्रान्ति लाने की बात करते हैं किन्तु वे यह नहीं जानते हैं कि वे क्या प्राप्त

करना चाहते हैं। इसके विपरीत प्रेम, सहिष्णुता ग्रौर शान्ति से जितना कुछ प्राप्त किया जा सकता है वह हिंसात्मक उपायों से कभी नहीं प्राप्त हो सकता। यदि हम कोई अच्छी वस्तु प्राप्त करना चाहते हैं तो स्वाभाविक है कि हमारे सामने कठिनाइयां भी ग्रायेंगी किन्तु हमें इन बाधाओं से विचलित नहीं होना चाहिए और अपने लक्ष्य पर दृष्टि लगाये हुए ग्रागे बढ़ते चले जाना चाहिये। जिन वृक्षों पर ग्रच्छे फल लगे होते हैं उन्हीं पर लोग पत्थर फेंकते हैं। यदि किसी वृक्ष पर ग्रच्छे फल नहीं लगे होते तो उस पर कोई पत्थर नहीं फेंकता। हम अपने ग्रन्तर में छिपे ग्रात्म-तत्व के तभी दर्शन कर पायेंगे जब मार्ग में ग्राने वाली समस्त कठिनाइयों और बाधाग्रों को सहन करते हुए पार करने में सफल होंगे ग्रौर इस प्रकार की सहनशीलता परिणाम स्वरूप उपलब्ध परम फल का दूसरों को भी आस्वादन करवा सकेंगे।

ग्रध्ययन काल में ग्रापको विद्यार्थी के रूप में अपने उत्तरदायित्वों को भली प्रकार से समझ लेना चाहिए। ग्रापको ग्रपने माता-पिता और गुरुजनों का पूर्ण सम्मान करना चाहिये ग्रौर उसके द्वारा अपने मन को ग्रानन्द ग्रौर शान्ति प्रदान करनी चाहिये। प्राचीन काल में गुरुकुल में गुरु और शिष्य के बीच इतना ही प्रेमपूर्ण ग्रात्मीय सम्बन्ध रहता था जितना माता-पिता का ग्रपनी सन्तान के प्रति। शिष्य का सदा प्रयत्न होता था कि वह ग्रपने गुरु को शारीरिक ग्रौर मानसिक सुख पहुंचाये। गुरु अपने शिष्य की सेवा से प्रसन्न होकर उसे ज्ञान की बहुत ही रहस्यमय बातें सिखा देते थे। गुरुकुलों ग्रौर ग्राश्रमों में बड़ा शान्त और पवित्र वातावरण रहता था। ग्रर्जुन ने द्रोणाचार्य की ग्रनेकों प्रकार से बहुत सेवा की ग्रौर उन्हें प्रसन्न रख कर उनका हृदय जीत लिया। द्रोणाचार्य ग्रर्जुन को अपने पुत्र से भी ग्रधिक प्यार करने लगे। द्रोणाचार्य ग्रर्जुन को गुप्त रहस्य की बातें बताने के लिये, ग्रपने पुत्र तक को किसी न किसी बहाने से बाहर भेज देते थे ग्रौर एकान्त में अर्जुन को बता देते थे। गुरु से गुप्त रहस्यपूर्ण बातों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये यह सबसे पहले अत्यन्त ग्रावश्यक होता है कि ग्राप गुरु को प्रसन्न रखें ग्रौर उनका अनुग्रह प्राप्त करें। इस प्रकार उनका विश्वास सम्पादन करने के बाद ही जब गुरु ग्राप को इस योग्य समझता है तब ही महत्वपूर्ण रहस्य की बातों की ग्रापको शिक्षा देता है। यदि ग्राप गुरु को सन्तुष्ट रखने में ग्रसमर्थ रहते हैं तो आप बहुत ग्रधिक घाटे में रहेंगे।

ग्रापको ग्रपने माता-पिता को भी सन्तुष्ट ग्रौर प्रसन्न रखना चाहिए। ग्रापके माता-पिता ग्रापके भौतिक शरीर के मूल स्रोत हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति

ने माता-पिता की भगवान के समान सेवा और सम्मान करने के आदेश देकर हमें ज्ञान का अमूल्य रत्न प्रदान किया है। किन्तु आजकल ऐसे माता-पिता, गुरुजन और पुत्र मुश्किल से ही मिलते हैं जो इन निर्देशों का पूर्ण रूप से पालन करते हों। यह बहुत आवश्यक है कि विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा दी जाये कि वे अपने भावी जीवन में कुशल गृहणी और कुशल मातायें बन सकें। जिस प्रकार उन्होंने यहां साईं माता के प्रेम का माधुर्य चखा है इसी प्रकार वे अपने त्याग और समर्पण के द्वारा देश माता के प्रेम का आस्वादन करें तथा अपने आपको इस रूप में शिक्षित करें कि भविष्य में आदर्श मातायें बन सकें। आशा है कि ज्ञान के इन अमूल्य रत्नों को जो आप को यहां एक माह के प्रशिक्षण काल में भाषणों को सुनकर प्राप्त हुए हैं, अपने हृदय की तिजोरी में सुरक्षित रखेंगे और फिर उनका अपने व्यक्तित्व को बनाने और सजाने-संवारने में आभूषणों के रूप में उपयोग करोगे।

एक बार बिहार में भयंकर अकाल पड़ा। अपनी जीवन रक्षा के लिये चार व्यक्तियों का एक परिवार जिसमें व्यक्ति, उसकी पत्नी वे और दो बच्चे थे वहां से किसी दूसरे स्थान के लिए रवाना हुआ। परिवार का मुखिया होने के नाते व्यक्ति को अपने बच्चों की बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ी और भारी कष्ट सहने पड़े। उसे अनेकों बार रक्षा के लिए कई दिनों तक भूखा रहना पड़ा। इसके कारण वह इतना कमजोर हो गया कि कुछ दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गई। स्त्री अकेली रह गयी और मुसीबत के उन दिनों में दो बच्चों को जीवित रखने का भार उस अबला पर आ पड़ा। वह घर-घर भिक्षा मांगती और जो कुछ मिलता पहले अपने बच्चों को खिलाती, यदि कुछ बचता स्वयं खाती अन्यथा भूखी ही रह जाती। कुछ दिनों में ही वह इतनी कमजोर हो गयी कि उसको चलना-फिरना असम्भव हो गया और वह भीख माँगने भी नहीं जा सकती थी। उसके छोटे से लड़के ने मां की दशा देखी तो उसकी गोदी में ही बैठा हुआ बोला, "माँ आप कुछ देर आराम करो, आज मैं भीख मांग कर लाऊंगा और आपको खाना दूंगा।" माँ उस बच्चे के शब्दों को सुनकर रो पड़ी किन्तु बेचारी क्या करती आखिर उसे बच्चों को भिक्षा मांगने के लिये जाने की अनुमति देनी पड़ी। कोई भी मां अपने बच्चे को भिखारी नहीं बनाना चाहती किन्तु विवश थी, लड़के ने स्वयं आगे होकर जो कहा था और सब की प्राण रक्षा का प्रश्न था। उस दिन से वह लड़का भीख मांगने जाने लगा। वह जो खाना लाता अपने छोटे भाई और मां को खिलाता और जो कुछ बचता स्वयं खाता। कई बार वह स्वयं भी भूखा रह जाता था। इस प्रकार भूखे रहने से वह कमजोर होता गया और कुछ दिनों बाद उसको भी चलने और भीख माँगने जाने में कठिनाई होने लगी। वह एक घर के द्वार पर पहुंचा।

उसने देखा कि घर का मालिक आराम कुर्सी पर बैठा अखबार पढ़ रहा था। बालक ने बहुत ही क्षीण स्वर में भिक्षा की याचना की और खाना मांगा। उस व्यक्ति ने कहा कि भिक्षा देना तो ठीक नहीं, उसे एक पत्ते पर वहीं कुछ खाने को देने के लिए कहा। लड़का भूख के कारण बेहोश हो कर वहीं गिर गया। उस घर के मालिक ने उस लड़के को अपनी गोदी में उठाया। लड़का कुछ बुद-बुदा रहा था किन्तु उसके शब्द स्पष्ट समझ में नहीं आ रहे थे। उस व्यक्ति ने यह समझने के लिए कि वह कह क्या रहा है, अपना कान उस लड़के के मुंह के पास लगाया तो वह यह समझ पाया कि लड़का उससे कह रहा था, "आप जो कुछ खाना मुझे देने को तैयार हैं कृपया पहले मेरी मां को दे दें।" इतना कह कर लड़का फिर अचेत हो गया और उसने अपने प्राण त्याग दिये।

अब हमें ऐसा प्रेम देखने को कहां मिलता है जो इस परिवार के लोगों में उस संकट के समय में देखने में आया। इस घटना में हम देखते हैं कि परिवार का मुखिया अपनी स्त्री और बच्चों की रक्षा के लिए स्वयं भूखा रहा, कष्ट सहे और मर गया। स्त्री अपने बच्चों की रक्षा के लिए भीख मांगती रही भूख और अपमान सहती रही। उसके छोटे से लड़के ने भी अपनी मां और भाई की सेवा करते हुए अपने जीवन की आहुति दे दी। इस उत्कृष्ट बलिदान को देखो जो नवयुवकों के लिए प्रेरणा दायक है। प्रेम का कैसा उत्तम उदाहरण है जिसमें परिवार का प्रत्येक सदस्य इस प्रकार समर्पण की भावना के साथ आबद्ध है। माता-पिता और सन्तान की पवित्र त्रिवेणी का संगम बन गया है। इसलिए परिवार के प्रत्येक सदस्य को अपना-अपना उत्तर-दायित्व पूर्ण करना चाहिए। तभी परिवार सुख और समृद्धि की स्थिति तक पहुंच सकता है। प्राचीन भारत में प्रत्येक परिवार में यह भावना रहती थी कि उसका प्रत्येक सदस्य अपने लिए कुछ भी न चाहता हुआ पूर्ण परिवार की सुख-समृद्धि और मान-प्रतिष्ठा के लिये समर्पण भावना से कार्य करता था और कभी भी किसी बात के लिये अपना अधिकार नहीं जताता था। किन्तु आज हम कहीं भी जावें तो हमें यही दिखायी देता है कि ऐसे लोग अपने अधिकारों की मांग प्रस्तुत करते हुए आंदो-लन और विरोध खड़े करते हैं जो अपने उत्तरदायित्वों को नहीं समझते और उनको पूरा करने से सदा मुंह मोड़े रहते हैं। यदि आप अपने कर्तव्य और उत्तारदायित्वों को ठीक प्रकार से, शुद्ध भावना के साथ पूरा करते रहेंगे तो आपको स्वतः ही अन्तर से उपयुक्त अधिकार प्राप्त हो जायेगा जो कहीं अधिक सशक्त होगा। हमारे विद्यार्थियों को दो महान् सिद्धान्तों को सदा याद रखना चाहिए—कर्म और उपासना तथा इनका अपने जीवन में प्रतिक्षण दृढ़ता के साथ पालन करना चाहिए। आप कोई भी कार्य करें

उसे अपनी श्रेष्ठतम योग्यता और क्षमता के साथ करें तथा सर्व सम्बन्धित को पूर्ण संतुष्ट और प्रसन्नता रखते हुये अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदयित्वों को भी इसी प्रकार समर्पण भावना के साथ पूरा करना चाहिए। यदि आप माता पिता को इस प्रकार आज प्रसन्न रखेंगे तो कल आप के बच्चे भी आपको उसी प्रकार प्रसन्न और संतुष्ट रखेंगे। यदि आप अपने भावी जीवन को सुखी और सुरक्षित बनाना चाहते हैं तो आपको अपना वर्तमान जीवन उसी दृष्टि से अपने सारे उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों के निष्ठा के साथ, सुचारु रूप से पूर्ण करना चाहिए।

गत तीस दिनों तक मैं आप लोगों के साथ अनेकों विषयों पर बातें करता रहा हूं, बहुत सी बातें आप लोगों को बतायी हैं। आज मैं उन में से कोई बात दोहराऊंगा नहीं जिसके सम्बन्ध में आपको पहले ही बताया जा चुका है। मैं आशा करता हूं कि आप लोग उन सब आदर्शों का, जिन्हें आपने इस एक माह के दौरान अपने हृदयों में धारण किया है अपने जीवन में व्यावहारिक रूप से पालन करेंगे। बृन्दावन से बाहर जाने पर आप उसी अनुशासन और संयम का, उन्हीं आदर्शों और सिद्धान्तों का पालन करते रहें जो आप यहाँ पालन करते थे। फिर आप जीवन के किसी भी कार्य-क्षेत्र में क्यों नहीं काम करते हों। कुछ समय बाद आप छोटे बच्चों और विद्यार्थियों को पढ़ाने वाले शिक्षक बन सकते हैं। आज आपका शिक्षक आपसे यह आशा रखता है कि जो कुछ शिक्षा उसने आपको दी है आप अपने जीवन में उसके अनुकूल रहेंगे और जब आप शिक्षक बन जायेंगे तो आप भी अपने विद्यार्थियों से ऐसी ही आशा रखेंगे। इसलिए यदि आप अपने गुरुजनों की आशाओं अपने कार्य और व्यवहार के द्वारा पूर्ण करते हैं तो स्वाभाविक है कि आप भी अपने विद्यार्थियों से इसी प्रकार की आशा करने के अधिकारी हो सकते हैं कि वे भी आपको अपने कार्य और व्यवहार से पूर्ण सन्तोष प्रदान करें और आपकी शिक्षाओं का पालन करें। सभी विद्वान पुरुष और गुरुजन जिन्होंने आप लोगों को इस पाठ्यक्रम में उपदेश दिये समाज में विद्यार्थी ही थे। वे आज इस स्थिति में अपने-अपने शिक्षकों के संदेशों का पालन करने से ही पहुंच सके हैं। इसलिए आपको भी चाहिए कि इन लोगों ने आपको जो बहुमूल्य संदेश दिये हैं उनका अपने जीवन में पालन करके उसे समुन्नत करें और उच्च स्थिति प्राप्त करें। यों तो अनेकों स्थानों पर ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रमों का लोग आयोजन करते हैं किन्तु वहाँ इस प्रकार का शिक्षण नहीं दिया जाता जो आपने यहां प्राप्त किया है। जिन विद्यार्थियों ने यहां इस ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रम में भाग लिया है वे अत्यन्त सौभाग्यशाली हैं, क्योंकि ऐसा सौभाग्य निश्चित रूप में पूर्व जन्मों के पुण्यों के प्रताप से ही प्राप्त हो सकता है। विद्यार्थियों को यहां विद्वान शिक्षकों के

साथ रहने और उनके अनुभव और उपदेश सुनने का जो दुर्लभ अवसर प्राप्त हुआ है उसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। यहां भाषण करने वाले प्रत्येक वक्ता ने केवल अपना भाषण ही नहीं दिया है बल्कि अपने हृदय से प्रेम उंडेला है विद्यार्थियों के प्रति अपनी मंगल-कामना के साथ। आपने देखा कि आज एक दूसरे से विदा होने के समय सबको कैसा अनुभव हो रहा है, उनके मन भरे हैं, कंठ अवरुद्ध हो रहे हैं और प्रेमाश्रु झलक रहे हैं। गुरुजनों में ऐसा विशुद्ध प्रेम आप अन्यत्र कहां पायेंगे, सिवाय यहां के? जैसा विदाई का दुःख इन गुरुजनों को है वैसा ही दुःख विद्यार्थियों को भी है उनसे बिछुड़ने का। किन्तु एक दूसरे से विदा होते समय दुःख का अनुभव मत करो। आपके गुरुजनों ने जो उपदेश आपको दिये हैं उनका अपने जीवन में व्यावहारिक रूप में पालन करेंगे तो ये गुरुजन और स्वामी भी आपके साथ होंगे। कर्म के द्वारा ही आप अपने हृदय में की आन्तरिक गहराइयों में गुरु की सशक्त उपस्थिति का अनुभव कर सकते हैं वह आपके साथ चेतन रूप में रहेंगे।

———

